रखने वाली क्रिया मुख्य होने से दक्षिण भुजा (मुक्ति मार्ग) से की जाती है अर्थात् भगवत्सम्बन्धी कार्य, मुक्ति मार्ग से सिद्ध होता है। गृहस्थाश्रम से सम्बन्ध रखने वाली क्रिया, गौण होने से वाम भुजा (कर्म मार्ग) से की जाती है, अर्थात् गृहस्थाश्रम सम्बन्धी कार्य कर्म मार्ग से सिद्ध करते हैं। दक्षिण भुजा में पहने हुए कङ्कण, भक्ति मार्ग के नियम हैं। वाम भुजा में पहने हुए कङ्कण कर्म मार्ग के नियम हैं। इन कङ्कणों को पहनने का भाव यह है कि भक्ति मार्ग पर चलने वालों को भक्ति मार्ग के नियम धारण करने हैं और कर्म मार्ग के पथिकों को कर्म मार्ग के नियमों का अनुगामी होना आवश्यक है। यशोदा ने कानों में जो कुण्डल धारण किए थे, वे साङ्ख्य और योग के रूप थे। दोनों क्लेशयुक्त हुए थे, यशोदा ने जो भी आभूषण जहाँ भी धारण किए थे, वे क्लेश वाले हो गए थे। श्लोक में आए हुए दूसरे 'च' अक्षर का आशय कहते हैं कि सिर भी कम्पायमान हो रहा था 'जातकम्पम्' शब्द पृथक देने का यही भाव है कि सब क्लेशयुक्त बताने थे। यदि सबों को क्लेशयुक्त नहीं बताना होता, तो 'जातकम्पम्' पद पृथक नहीं देकर 'स्रुतसकम्पकुचपगं' एक ही पद कर देते थे। मस्तक सत्य लोक का आधिदैविक रूप है, इसलिए उनके उपर जो केश हैं, वे ज्ञानी और मुक्त जीवों के रूप हैं। अतः मस्तिष्क के कम्पित होने से वे ज्ञानी और भक्त भी क्लेशयुक्त थे। यशोदाजो का मुख भी क्लेशयुक्त होने से पसीने से भर गया था, इससे यह बताया कि यशोदा के इस प्रकार के मुख से यह सिद्ध हुआ कि यशोदा से भक्ति का सार अलग हो गया है। यशोदा ने अपनी चोटी में जो मालती के पुष्प गूंथे थे। उनका भाव आचार्यश्री बताते हैं कि केशपाश (चोटी) वाला स्थान सिद्धों का स्थान है। उस स्थान पर लगे हुए मालती के पुष्प, ब्रह्मविद्या के रूप थे, वे भी संसारासक्ति के कारण धीरे-धीरे गिरने लगे (ब्रह्म विद्या जाने लगी)। इतना सब होते हुए भी, संसारासक्त यशोदा मन्थन कर रही थी। श्लोक में जो वर्णन किया गया है वह यदि केवल यशोदा की आकृतिका (वस्त्रों से सुन्दर हुई आकृतिका) वर्णन होता तो चौथे श्लोक में जो शुकदेवजी कहेंगे, उसका विरोध होता। द्वितीय श्लोक में यशोदा मन्थन करती हुई भगवद् गुणगान कर रही थी। तब किसी को भी क्लेश न हुआ और तीसरे श्लोक में केवल यशोदा के स्वरूप एवं आकृति का वर्णन है। इस प्रकार का अर्थ न कर 'मन्थन कार्य' को अयोग्य एवं सब को क्लेश हुआ, यह आशय आचार्यश्री ने जो बताया है, उसका कारण यह है कि चौथे श्लोक में शुकदेवजी कहते हैं कि भगवान् ने दधि बिलोने की क्रिया करने से, माता को रोक दिया, बिलोना करने नहीं दिया इससे यह भाव तीसरे श्लोक का स्पष्ट होता है कि तीन श्लोक में कहे हुए बिलोने से सब को कष्ट हुआ और मुख्य भगवद् गुण-गान गौण हो गया, जिससे भगवान् ने माता को इस दधि मन्थन से रोका। इस रहस्य को आचार्यश्री ने ही समझा, इसलिए आचार्यश्री ने तीन श्लोक का भावार्थ इस प्रकार समझाया है कि भगवान् की लीला में जो भी रहते हैं वे भक्त अलौकिक हो जाते हैं, अर्थात् वे भी भगवद्रूप हो जाते हैं। यशोदा भगवान् की लीला में स्थित हैं, अतः जैसे भगवान् के मस्तिष्क में ज्ञानी और मुक्त निवास करते हैं वैसे ही यशोदा के सिर में भी केश रूप में ज्ञानी और मुक्त निवास कर रहे हैं ॥ ३ ॥

आभास--पूर्ववद् भगवान् बालकानामर्थे स्तन्यकाम सञ्ज् छ्मं वारितवानि त्याहतामिति ।

आभासार्थ—पूतना-वध कर जिन बालकों को अपने भीतर स्थापित किए थे, उनको स्तन्य पान कराने के लिए पहले की तरह भगवान् ने स्तन्य की चाहना करते हुए माता यशोदा को श्रम कार्य से रोका । इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक--तां स्तन्यकाम आसाद्य मथ्नन्तीं जननीं हरिः ।
गृहीत्वा दधिमन्थानं न्यषेधत् प्रीतिमावहन् ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ—दही बिलोती हुई माता के पास स्तन्य-पान करने की इच्छा से आकर प्रीति बढ़ाते हुए भगवान् ने मथानी को पकड़ माता को बिलोना करने से रोक लिया ।

सुबोधिनी—आसाद्य निकटे गत्वा नैकट्यदर्शनाभ्यां क्रियाज्ञानाभ्यामुभयविधनिरोधसिद्धिः, मथ्नंतीमिति दध्नो विकृतत्वं स्वस्यापि प्रयासः, जननीमिति निरोधावश्यकत्वं, तथाबुद्धिस्तेनैव कृतेति, हरिरिति सामान्यतोपि सर्वदुःखहर्ता साम्प्रतं कर्तुरत्यन्तान्याभिनेवेशात् करणप्रतिबन्धमेव कृतवानित्याह गृहीत्वा दधिमन्थानमिति, मन्थानं दण्डं हस्तेन धृत्वा प्रीतिमावहन् न्यषेधन्मथननिषेधं कृतवान्, निषेधेपकारापकरणाय प्रीतिमावहन्निति, यथा तस्याः स्वस्मिन् प्रीतिर्भवति तथा कुर्वन् ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने माता यशोदा को दोनों प्रकार (क्रिया और ज्ञान) से निरोध सिद्धि कराने के लिये उनके निकट जाकर दर्शन दिये । निकट जाने की क्रिया से यशोदा का क्रिया रूप निरोध सिद्ध हुआ । जिससे भगवान् को स्तन्य पान कराने लगी और दर्शन से ज्ञानरूप निरोध की सिद्धि हुई, जिससे भगवान् में आसक्ति हुई। आसक्ति होने से भगवान् के मुखारविन्द के दर्शन में मग्न हो गई । (इनका वर्णन ५ वें श्लोक में होगा) । यशोदा उस समय दधिमन्थन कर रही थी । भगवान् ने सोचा कि दधि-मन्थन से एक तो दधि में विकार होगा और यशोदा को भी श्रम हो रहा है । यदि मैं मथानी को पकड़ कर रोकूँगा, तो मुझे भी परिश्रम होगा, किन्तु यशोदा के हृदय में मैंने अपने लिये पुत्रभाव उत्पन्न किया है जिससे वह मुझे पुत्र समझती है । इसलिये वह मेरी माता है । जबकि मैं हरि हूँ, सब का दुःख मिटाता हूँ तो माता का दुःख तो मुझे अवश्य नष्ट करना चाहिये । इसलिये माता की संसारासक्ति छुड़ाकर निरोध कराना आवश्यक है । इस प्रकार का विचार कर श्रीकृष्ण ने दधि-बिलोने का जो साधन (मथानी) था । उसको पकड़ लिया इस प्रकार से पकड़ा कि जिस क्रिया को देखकर माता कुपित न होकर प्रसन्न होने लगी । जिससे माता की भगवान् में प्रीति बढ़ने लगी ।

कारिका--**सर्वाङ्गं चालयन् हस्तौ पादौ चैव विचालयन् ।**
मुखाब्जं मधुरारावं बिभ्रत् कृष्णः समागतः ॥१॥४॥

कारिकार्थ--सब अङ्गों को चलाता (हिलाता) हुआ और हाथ तथा पैरों को विशेष हिलाता हुआ, मीठे अस्पष्ट[1] आवाज वाले मुख कमल को धारण करता हुआ श्रीकृष्ण आ गया ।

व्याख्या—भगवान् कृष्ण को दधि-मन्थन से रोकने के लिये, माता की मथानी को पकड़ना था । कृष्ण ने सोचा कि यों करने से माता कुपित होंगी । इसलिये मैं माता के निकट इस प्रकार जाऊँ, जैसे मथानी पकड़ने की मेरी उद्धताई, माता भूल जाय, मेरी चतुराई चपलता देख कर प्रसन्न हो जाय । जिससे मुझ में विशेष प्रेम करने लगे । आचार्यश्री ने कारिका में श्रीकृष्ण की उस धौर्त्यपूर्ण[2] चतुराई तथा चञ्चलता का वर्णन किया है । श्रीकृष्ण माता के पास जाते समय नर्तक[3] के समान, अपने सर्व अंगों को सामान्य प्रकार से हिलाने की चेष्टा करने लगे एवं ज्यों-ज्यों माता के पास पहुँचे, त्यों-त्यों हाथ और पैरों को विशेष प्रकार से हिलाने की क्रिया करते थे । जिससे माता को यह इंगित[4] करते थे कि मैं थक गया हूँ मुझे झट उठाकर गोद में ले ले और मुखकमल से तोतले मीठे वचनों से माता को मोहित करते हुए आकर माता के पास पहुँचे ॥१॥४॥

आभास--भगवता प्रीतीर्जनितेति भगवदर्थं प्रपञ्चासक्तिं परित्यज्य स्तनं पायितवतीत्याह तमंकमिति ।

आभासार्थ—भगवान् ने माता के हृदय में अपने लिये ऐसा प्रेम उत्पन्न किया कि जिससे माता प्रपञ्चा-सक्ति का त्याग कर, कृष्ण को स्तन्य-पान कराने लगी । निम्न श्लोक में इसका वर्णन करते हैं ।

श्लोक--**तमङ्कमारूढमपाययत् स्तनं स्नेहस्रुतं सस्मितमीक्षती मुखम् ।**
अतृप्तमुत्सृज्य जवेन सा ययावुत्सिच्यमाने पयसि त्वधिश्रिते ॥५॥

श्लोकार्थ--गोद में चढ़े हुए उस (श्रीकृष्ण) को यशोदा स्नेह (दूध) वाले स्तन से बहते हुए दूध को पिलाने लगी । उस वक्त भगवान् के मुस्कराहट वाले मुखारविन्द को यशोदा देख रही थी । इतने में चूल्हे पर चढ़े हुए दूध में उफान आता देखकर वह भगवान् को अतृप्त ही छोड़कर वेग से वहाँ चली गई ।

१—तोतले । २—छल कपट । ३—नाचने वाले । ४—संकेत या इशारा ।

सुबोधिनी—स्वयमेवाङ्कमारूढमीषदुत्थितं स्तनमपाययत्, यथा सा विमुच्य न गच्छति तदर्थमङ्कमारूढो दैत्यानाक्रमयितुं च, स्नेहस्तुतमिति नास्याः स्तनपानजनितोपि क्लेशः यद्यपि मोहिताया, प्रपञ्चासक्तिर्महती गृहे च बहु कार्यं दास्यश्च न सन्ति तथापि मन्दहासयुक्तं मुखं पश्यन्त्यपाययत्, इदानीं स्थित्यर्थं मोहनं पूर्वमोहनस्य सङ्कोचश्च, एवं निर्बन्धेन स्थापितापि दोषवशात् त्यक्त्वा निर्गतेत्याहातृप्तमुत्सृज्येति, न तृप्ता यस्मिन् प्रतिबन्धं कुर्वाणमप्युत्सृज्योर्ध्वं त्यक्त्वा जवेनातिवेगेन सा पूर्वोक्ता प्रबलप्रपञ्चा ययौ, उद्देश्यपर्यन्तं गतवती, गमने लौकिकमावश्यकं कार्यमाहोत्सिच्यमाने पयसीति, अधिश्रितेग्नौ स्थापिते पयस्युत्सिच्यमाने विष्यन्दमाने सति विष्यन्दनं द्रव्यनाशकं दोषजनकं च, तुशब्दः प्रक्रमान्तरमाह, भगवदनुरोधेन यथा मन्थानं परित्यज्य भगवदनुरोधं कृतवती मथनाविरोधेनैवं भगवदनुरोधेन दुग्धोत्तारणं न कृतवती किन्तु भगवदनुरोधं परित्यज्यैव कृतवतीति ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् माता का प्रेम बढ़ाते हुए स्वयं (आप) ही गोद में चढ़ बैठे। जिससे माता के स्तनों में स्नेह (दूध) आ गया। दूध से माता के स्तन ऊँचे हो गये जो, उसने कन्हैया के मुखारविन्द में दे दिये। भगवान् उनको चूसने लगे। भगवान् स्वयं गोद में क्यों चढ़े? पृथ्वी पर बैठकर ही स्तन चूसते। इसका आशय बताते हैं कि यद्यपि कृष्ण ने माता में ऐसा प्रेम उत्पन्न किया था, जो माता आते हुए कृष्ण को उठाकर गोद में बिठाने वाली थी परन्तु कन्हैया स्वयं गोद में इसलिये बैठ गया कि आपको भूमि पर स्थित दैत्यों का दमन करना था और माता की गोद आधिदैविक भूमि है। इससे यह जताया कि जीव जब अपने हृदय को आधिदैविक बनाता है तब उस हृदय में स्वयं आकर विराजमान होता हूँ। जब बच्चा माता के स्तन्य से दूध चूसता है, तब माता को कुछ क्लेश होता है; परन्तु यशोदा को वह क्लेश भी न हुआ कारण कि प्रेम से स्तनों में आया हुआ स्तन्य[1] स्वतः बह रहा था, इससे न माता को क्लेश हुआ और न कन्हैया को दूध खेंचने के लिये परिश्रम करना पड़ा। यद्यपि मोहग्रस्त यशोदा की प्रपञ्च में विशेष आसक्ति थी घर में कार्य भी बहुत थे घर की दासियाँ वहाँ पर नहीं थीं जो वे कार्यों को निपटा लें, ऐसा होते हुए भी यशोदा जो भगवान् को स्तन्य-पान करा रही थी, उसका कारण यह था कि यशोदा भगवान् की मोहिनी मन्द मुस्कान से, मुखारविन्द के दर्शन में मग्न हो गई थी। भगवान् ने इसलिये मंद हास्य किया था कि यशोदा यहाँ स्थित रहकर मुझे स्तन्य-पान करावे। इस समय जो मोह उत्पन्न कराया, उससे आठ वें अध्याय में कराया हुआ मोह, संकोच को प्राप्त हुआ (सिकुड़ गया)। यद्यपि भगवान् ने हास्य द्वारा यशोदा को रोक तो रक्खा, किन्तु मोह का स्वरूप ही दोषरूप है; अतः मोहरूप (संसारासक्तिरूप) दोष प्रबल होने से प्रबल-संसारासक्त वह यशोदा, भगवान् के अन्तःस्थित बालक स्तन्यपान से तृप्त भी नहीं हुए थे, तो भी भगवान् को गोद से, नीचे पटक कर वहाँ शीघ्र चली जाने का कारण लौकिक आवश्यक कार्य था, वह बताते हैं कि दूध आग वाले चूल्हे पर धरा था, उसमें आग के कारण से विशेष उफान आजाएगा, तो दूध डुलता हुआ बह जाएगा, जिससे

१—स्तन से निकला हुआ दूध।

द्रव्य नाश होगा, अथवा लौकिक दोष (जलने से स्वाद-रहित हो जाएगा) । इस कारण से जहाँ दूध चूल्हे पर धरा था, वहाँ जल्दी पहुँच गई । श्लोक में दिये हुए 'तु' शब्द का आचार्यश्री भाव बताते हैं कि यशोदा ने जैसे पहले भगवान् के विचारानुसार दधि का बिलोना छोड़, भगवान् के प्रसन्नतार्थ उनको स्तन्य-पान कराया था, उस प्रकार यहाँ यशोदा ने नहीं किया, यहाँ तो उससे विपरीत किया, अर्थात् भगवान् की इच्छा तो थी कि मुझे दूध चुसाती रहे, इसका अनुसरण[1] न कर स्वयं (भगवान् की इच्छा के विपरीत) दूध उतारने चली गई । इस भाव को स्पष्ट करने के लिये श्लोक में शुकदेवजी ने 'तु' शब्द दिया है ॥ ५ ॥

श्लोक---स जातकोपः स्फुरितारुणाधरं सन्दश्य दद्भिर्दधिमण्डभाजनम् ।
भित्त्वा मृषाश्रुर्दृषदश्मना रहो जघास हैयंगवमन्तरंगतः ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ---भगवान् को इससे क्रोध हुआ, लाल होंठ फरकने लगे, झूठे आंसू आ गए और दाँतों से होंठ डसकर, पत्थर से मट्ठे की मथनी फोड़ डाली । घर के अन्दर जाकर एकान्त में मक्खन खाने लगे ।

सुबोधिनी---ततो बालकानामतृप्तत्वाद् भगवान् **जातकोपो** जातः, यतः स बालकरक्षकः, बालकरक्षाप्रतिघाते भक्तिमार्गविशेन वैषम्यादकस्मादेव क्रोधो जातः, स्थित एव निमित्तवशादुद्गतः, ततः कोपो यशोदां मारयिष्यतीति लोभं तद्गतं भाण्डं च स्फोटितवानित्याहाधरं **दद्भिस्सन्दश्य दृषदश्मना दधिमण्डभाजनं भित्त्वेति**, अधरस्य दंशे हेतुः स्फुरितारुणेति, स्फुरितोरुणवर्णश्च जात इति लोभाद् भगवत्परित्यागे लोभस्यैवापराधो भवति तदा लोभ आधिदैविको यशोदां मारयितुमाध्यात्मिकं वा स्वयं विज्ञापनार्थमागतः, तदा स्फुरणं जातं, तत् त्रयं निवारणीयं, रजोगुणश्च प्रादुर्भूतो जातस्त्रयमुत्पादयितुं भिन्नं तदुभयमपि निवारयितुमोष्ठदंशः, दन्ता स्नेहकला यशोदानिष्ठाः, तैस्तेषां निवारणं कृतं, अनुकरणं तु स्पष्टमेव, दधिमण्डस्तक्रं, तदाधारभूतं भाण्डं नवनीतं तु भिन्नं जातमस्ति, ततो दृषदश्मना दृषत्सम्बन्धिकुट्टनपाषाणेन भित्त्वा दैत्याविष्टेव सा निर्गता तेषां दैत्यानामाधिदैविकानां यज्ञायुधेनैव जनितशब्देन निवारणं कर्तव्यं, तत्र महति शब्दे क्रियमाणे भाण्डमेव भिन्नं, एवमुपकारं कृत्वा मृषाश्रुर्जातः, दधिभाण्डभङ्गेपि दोषसम्भवात्, यद्यपि स्वतः कृतभङ्गे दोषो नास्ति रुद्रः समागत इति लोके ज्ञापयितुमश्रूण्यवर्तयत्, अन्यथा भाण्डदेवताया भङ्गो न स्यात्, अश्रूणां कार्यं च रजतादि नैमित्तिकं च तदुभयाभावान् मृषाश्रुत्वं, यशोदाया नाशशङ्क्या वा, तथापि रक्षकः स्वयमित्यश्रूणां मृषात्वमेव, वस्तुतस्तु भाण्डे दैत्य आविष्टः, तद्वधार्थमेव तत् कृतवान्, ततस्तस्याः श्रमः सार्थको भवत्विति **हैयङ्गवं रहः** एकान्ते बालकार्थं **जघास**, जहारेति वा, स्वस्यापि भक्षणं प्राप्स्यतीत्यन्तरङ्गतो भेदं प्राप्तवान्, ततः प्रभृति ते भिन्नाः कृताः, गृहमध्ये गतः, तत्राप्येकान्त आधिदैविकदैत्यानामगम्यस्थाने बालकार्थमेव **जघास** भक्षितवान् ॥ ६ ॥

१—पालन ।

व्याख्यार्थ—भगवान् ने अन्तःस्थित बालकों को तृप्त करने के लिये स्तनपान किया था, वे बालक तृप्त हुए ही नहीं, तो यशोदा दूध में उफान आते देखकर उसको उतारने के लिये भगवान् को पृथ्वी पर पधरा कर त्वरा[1] से वहाँ चली गई। बालकों के अतृप्त होने से भगवान् कुपित हुए कारण कि वे बालकों के रक्षक हैं। यशोदा के जाने से बालकों की रक्षा में विघ्न हुआ, जिससे विषमता प्रतीत होने लगी। उस समय भक्ति-मार्ग के आवेश से (भक्ति-मार्ग में शरण्य की रक्षा करना भगवान् का प्रथम कर्त्तव्य है और इस मार्ग में भगवान् भक्त के पक्षपाती ही बनते हैं) भगवान् में अकस्मात्[2] क्रोध उद्भूत[3] हो गया, भीतर स्थित* क्रोध ही निमित्तवशात् बाहर प्रकट हुआ यह क्रोध यशोदा को मारेगा। यशोदा को मारना भगवान् को अभीष्ट नहीं था कारण कि भगवान् ने समझा था कि यह दोष[6] यशोदा का नहीं है किन्तु लोभ का है, अतः लोभ का ही नाश करना चाहिये। वह लोभ दधि भाण्ड में स्थित था, इसलिये भगवान् ने उसको पत्थर से फोड डाला। उस समय स्वयं आधिदैविक[7] लोभ, यशोदा को मारने के लिए आध्यात्मिक लोभ के नाशकरणार्थ, भगवान् को प्रार्थना करने के लिये आ गया। जिससे भगवान् के अधर (लोभात्मक ओठ) में स्फुरण हुआ भगवान् ने उसको दाँतों से डस लिया उससे वह लालवर्ण हो गया। भगवान् को आधिदैविक लोभ की यह प्रार्थना स्वीकृत नहीं थीं, अर्थात् यशोदा के अपराध के लिये उसे मारना और आध्यात्मिक लोभ को मूलतः नाश करने की इच्छा भी नहीं थी क्योंकि यों करने से आगे कीजाने वाली लीलाएँ हो न सकेंगी। इसलिये इन तीनों का निवारण करना था और उस समय रजोगुण भी उत्पन्न हुआ जिसने दूसरे तीन कार्य पैदा किये (१–यशोदा दोष रहित हैं, २–उसका (यशोदा का) लोभ अपने लिये नहीं है किन्तु भगवत्सम्बन्धी है, ३–भगवान् के उपयोग में आने वाले दूध की रक्षा करने के लिये वह गई) इन तीनों का भी रोकना था। इन दोनों कार्यों को रोकने के लिये ही आपने अधर को डसा था। भगवान् के दाँत यशोदानिष्ठ स्नेह की कलाएँ हैं उनसे (यशोदानिष्ठ स्नेहकलारूप दाँतों से) उन दोनों (आधिदैविक लोभ के कार्य एवं रजोगुण के कार्य) का निवारण किया। अनुकरण$ स्पष्ट हैं। तक्र[5] का बर्त्तन जिसमें विलोई

---

* भगवान् के धर्म भगवान् के सदृश नित्य हैं अतः उनका नाश कभी भी नहीं होता हैं वे सदैव भगवान् में तिरोहित[4] रहते हैं।

† निमित्तवश उनका आविर्भाव[5] होता है जैसे यहाँ अकस्मात् कोध का आविर्भाव हुआ है।

$ भगवान् के दाँत, यशोदा पर जो भगवान् का स्नेह है, उसकी कलाएँ हैं यशोदा पर स्नेह के कारण भगवान् ने आधिदैविक लोभ से स्फुरित, रजोगुण से लाल अधर को दांतों से दबा कर उन दोनों के कार्यों का निवारण किया।

१—जल्दी, शीघ्रता। २—अचानक। ३—पैदा। ४—छिपे। ५—प्राकट्य।

६—भगवान् को छोड़ जाना, यशोदा का चला जाना निमित्तथा—'लेख'

७—अन्तः स्थित बालकों के लिए स्तनपान करने का लोभ आधिदैविक लोभ है—'लेख'

उफन ने वाले दूध की रक्षा का, यशोदा का लोभ आध्यात्मिक लोभ है—'लेख' ८—छाछ।

हुई छाछ थी और मक्खन पृथक हो गया था, उसको पीसने की सिल से फोड़ डाला, जिससे जैसे मनुष्य से आविष्ट दैत्य निकल जाता है वैसे ही तक्र बह गई। आधिदैविक दैत्यों को, यज्ञ के§ आयुध से उत्पन्न शब्द से ही निकालना चाहिये। पीसने की सिल से भाण्ड के फोड़ने से महान् शब्द हुआ, जिससे प्रविष्ट दैत्य भाग गया। इस प्रकार यशोदा पर उपकार कर बाहरी देखाव करते हुए, भगवान् झूठे आँसू बहाने लगे; कारण कि दधि-भाण्ड के टूट जाने पर भी दोष का सम्भव होता है। यदि स्वयं भाण्ड को तोड़ा जाय तो दोष नहीं, तो भी रुद्र आ गया, यह लोकों को जताने के लिये आँखों में आसुओं को लाये नहीं तो (रुद्र वा क्रोध न आया होता तो) भाण्ड के देवता का भंग नहीं होता अर्थात् भगवान् तक्र के भाण्ड को फोड़ते नहीं। आँसू झूठे थे, इसकी पुष्टि[1] के लिये कहते हैं कि श्रुति में कहा है कि भगवान् के आंसुओं से रजत[2] और सुवर्ण[3] होते हैं ये दोनों अब न हुए। इससे जाना जाता है कि ये आंसू झूठे थे और दूसरे किसी निमित्त से आंसू होते हैं तो यहाँ वह भी नहीं था तथा यशोदा के नाश की शंका से आँसू आये हों तो भी आँसू न आने चाहियें क्योंकि सर्व रक्षक विभु आप ही हैं तो उसका भय भी कारण न था। इसलिये यह निश्चित है कि आँसू झूठे (दिखावटी) ही थे। वास्तविक तो बात यह है कि तक्र भाण्ड में दैत्य आविष्ट था, उसको मारने के लिये ही भगवान् ने बर्तन को खण्डित किया।

इस प्रकार लीला करने के पश्चात् भगवान् ने सोचा कि यशोदा माता ने श्रम कर नवनीत निकाला है उसका श्रम सफल हो तदर्थ आपने (भगवान् ने) एकान्त में आकर बालकों को तृप्त करने के लिये मक्खन खाने लगे, अथवा बालकों के लिये मक्खन भीतर ले गए, भीतर ले जाऊँगा तो मुझे भी मक्खन[4] खाने के लिये मिलेगा। इससे यह समझा जाता है कि भगवान् ने बालकों से भेद किया, जिससे यह प्रकट है कि उस समय से बालकों को अपने से अलग किया, मध्य में[5] गए वहाँ भी एकान्त स्थान में आधिदैविक दैत्य यहाँ न आ सकेंगे,[6] यों निश्चय कर बालकों के लिये खाने लगे'। ६ ॥

---

§ यशोदा पुत्र का त्याग कर, दूध की रक्षार्थ जाने का, वास्तविक कारण दूध, स्नेहरूप कला में आविष्ट दैत्य ही था। उस आधिदैविक दैत्य को भगवान् ने यज्ञ के आयुध (पीसने की सिल–यज्ञ के दस आयुधों में यह भी आयुध है) से भगाया। भाण्ड के फोड़ने के शब्द सुनने से दैत्य भाग गया और यशोदाजी को पुत्र स्मरण हुआ। सुबोधिनी में 'इव' शब्द देकर यह बताया है कि यशोदा में दैत्य आविष्ट हो नहीं सकता है, वैसी दिखने में आती थी।—'टिप्पणी'

१—समर्थन। २—चाँदी। ३—सोना।

४—भक्ति से जो कुछ भगवान् को धरा जाता है वह भगवान् खाते हैं, आगे होने वाली लीला में भगवान् भक्षण करेंगे—'प्रकाश'

५—गुणगान करती हुई यशोदा ने जो मक्खन निकाला उसको भगवान् ग्रहण करे यह योग्य ही है। भगवान् ने बालकों को पृथक कर यह बताया कि मैं भी भक्षण करता हूँ।—'लेख'

६—माता क्रोध न करे इसलिए एकान्त स्थल (जहाँ माता देखे नहीं) में जाकर मक्खन भक्षण किया—टिप्पणी

आभास---ततो यज्जातं तदाह ।

आभासार्थ—उसके पश्चात् जो हुआ वह निम्न श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक---**उत्तार्य गोपी सुभृतं पयः पुनः प्रविश्य सन्दृश्य च दध्यमत्रकम् ।**
विलोक्य भग्नं स्वसुतस्य कर्म तज् जहास तं चापि न तत्र पश्यती ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ---यशोदा दूध को उतार कर फिर उसको अच्छी तरह औटाने लगी, उसको (औटाये हुए को) उतार के लौटकर मन्थन मंदिर में आई, वहाँ मट्ठे की मथनी फूटी देखकर समझ गई कि यह मेरे बेटे का काम है और उसको वहाँ न देख हँसने लगी ।

सुबोधिनी—उत्तार्येति, **पयस्तु सुभृतं सम्यक् पक्वं तदुत्तार्य भूमौ स्थापयित्वा पुनः सुभृतमिति प्रथममुत्सेक उत्तार्य पुनरधिश्रित्य ततः भृते पुनरुत्तारितवतीत्यर्थः, प्रविश्य मथनस्थानं, अनेनाङ्गणे पयोधिश्रितमिति ज्ञायते बहिर्गृहे मन्थनं तद्गृहं प्रविश्य सन्दृश्य च दध्यमत्रकं भग्नममत्रकं भाण्डं सम्यग् दृष्ट्वा कर्तृकरणकर्मणां याथार्थ्यं, चकारात् नवनीताभावं च दधिमण्डप्रवाहं च, ततस्तत्कर्म स्वसुतस्येति च सन्दृश्य सम्यग् ज्ञात्वा लौकिकाविष्टचित्ता दैत्यानां निवारणाज् जहास हास्यं कृतवती न तु क्रोधं, भगवांश्चेत् तत्रैव तिष्ठेन् न किञ्चित् कुर्यात् तदा स्वस्यैवापराध इत्यतृप्तपरित्यागात् तूष्णीमेव तिष्ठेत् ॥ ७ ॥**

व्याख्यार्थ—श्लोक के 'पुनः' शब्द के गूढ़ आशय को प्रकट करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि यशोदा ने प्रथम तो दूध में एक ही उफान आया था तो उसको उतार कर पृथ्वी पर धरा, फिर दूध को चूल्हे पर धरकर खूब औटा के उतारा । मन्थन स्थान में प्रविष्ट हुई (इससे समझा जाता है कि दूध को औटाने के लिये आंगण में रखा था और मन्थन घर के भीतर करती थी), वहाँ उसने टूटा हुआ छाछ का बरतन देखा । श्लोक के 'च' शब्द का आशय आचार्यश्री प्रकट करते हैं कि मक्खन का अभाव और तक्र का बह जाना भी देखा तथा यह भी जान लिया कि यह कर्म मेरे पुत्र का है । जिससे यशोदा को कर्त्ता, कर्म और करण का पूर्ण ज्ञान हो गया, इस प्रकार के ज्ञान से यशोदा लौकिक आवेश वाली हो गई । भगवान् ने दैत्यावेश को दूर कर[1] दिया था इससे यशोदा ने क्रोध न किया किन्तु हँसने लगी ॥ ७ ॥

१—तक्र में दैत्यावेश था, भगवान् ने दैत्य को हटाने के लिए तक्र पात्र को तोड़ डाला, जिससे तक्र बह गई, दैत्य हट गया । दैत्य के हट जाने से यशोदा के हृदय से वात्सल्य रस प्रकट हुआ । जिससे उसके हृदय में यह भाव उत्पन्न हुआ कि मेरा लाला इतनी सामर्थ्य वाला हुआ है, इससे प्रसन्नचित्त होकर हँसने लगी, क्रोध न किया ।

आभास—भगवांस्तु रूढं तस्या लौकिकज्ञानं दूरीकर्तुं दृढमिति ज्ञापयितुं वा तस्यास्तामसभावोत्पत्त्यर्थं ततो गतः, तत्र च गत्वा पूर्वमपि दैत्यावेशेन यत् सम्पादितं हैयङ्गवादिकं तदपि शिक्ये स्थितं कामं यथेच्छं मर्कटाय प्रयच्छति मर्कटोपि दंष्ट्रित्वात् क्रूरजन्तुर्हैयङ्गवमप्यनुपयुक्तं शिक्यं च निर्ऋतिपाशः स्वयं चोलूखलाङ्घ्रेरुपरि व्यवस्थितो भवति, उलूखलं विपरीतं कृत्वा तत्र स्थितः, तेषां दोषनिवृत्त्यर्थं यज्ञपुरुषो भूत्वा "सुपर्णचयन" इव स्थितः, अग्नेर्नाभिरूपत्वादुलूखलस्य तदुपरि स्थितः सन्न "तिरिक्तमतिरिक्ताय प्रयच्छति रिक्तस्य शान्त्यै "।

आभासार्थ—भगवान् चले जाने से वहाँ देखने में नहीं आए। इसका भावार्थ बताते हैं कि यदि भगवान् बिराजे (ठहरे) होते तो यशोदा हँसती नहीं, क्योंकि वह समझती थी कि मैं भगवान् की तृप्ति होने से पहले ही उनको छोड़ गई हूँ, इसलिये वह अपने को दोषी समझ चुप्पी साध लेती। भगवान् तो उसके (यशोदा के) गाढ़ लौकिक ज्ञान को मिटाने के लिये अथवा यह जानने के लिये कि यशोदा को वह ज्ञान दृढ़ है या नहीं तथा उसमें तामस भाव उत्पन्न करने के लिये वहाँ से घर के भीतर चले गए थे। वहाँ दैत्य के आवेशवाली तक्र में से यशोदा ने पहले जो मक्खन निकाल कर छींके में धरा था, उसको ऊखल पर चढ़कर, निकालते हुए बंदरों को खिला रहे थे, क्योंकि वह मक्खन दैत्यावेश वाला था अतः भगवान् के भोज्य न था, इस कारण वानरों को दे रहे थे वे भी दान्त वाले क्रूर प्राणी थे। छींके पर रक्खा था वह भी मृत्यु का पाश¶ है। भगवान् ऊखल को उलटा कर उसके दोष नाश करने के लिये, उस पर यज्ञपुरुष होके अग्नि स्थापित करने वाले के समान खड़े थे। ऊखल अग्नि की नाभि* है जैसे अग्नि की नाभि में यज्ञपुरुष स्थित है वैसे यहाँ आप यज्ञपुरुष रूप होकर स्थित हुए थे। शेष रहे हुए की शान्ति के लिये बचा हुआ मक्खन अन्यों को देते हैं।

आभास---ततो यशोदान्तः प्रविश्य तथाभूतं पुत्रं दृष्टवतीत्याहोलूखलाङ्घ्रेरिति।

आभासार्थ—उस समय यशोदा ने आकर इस प्रकार की लीला करते हुए पुत्र को देखा इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक---**उलूखलाङ्घ्रेरुपरि व्यवस्थितं मर्काय कामं ददतं शिविस्थितम्।**
हैयङ्गव चौर्यविशङ्कितेक्षणं निरीक्ष्य पश्चात् सुतमागमच्छनै ॥ ८ ॥

¶ श्रुति में छींके को यम का पाश कहा है—प्रकाशकार श्री—पुरुषोत्तमजी वह श्रुति लिखते हैं—'शिक्य मुपदधाति नैर्ऋतो वैपाशः ॥ ७ ॥

* 'उलूखलमुपदधाति एषावा अग्नेर्नाभिः इति श्रुतेः 'प्रकाश'

श्लोकार्थ---उलटे ऊखल पर खड़े छींके में धरे मक्खन को लेकर, बंदर को यथेच्छ दे रहे थे और चोरी करने से चकित (शंका शील-भय युक्त) नेत्र वाले पुत्र को देखकर धीरे-धीरे उसके पीछे से आई ॥ ८ ॥

सुबोधिनी—पूर्वं तत्र भगवद्दर्शने मर्कटोपि न दृष्टस्तेन शङ्कापि, अतोन्वेषणमपि कर्तव्यं, अन्वेषणे पुनश्चित्तं भगवत्परं जातमिति भगवन्तं दृष्टवती दोषाणामप्रयोजकत्वज्ञापनायोलूखलं विपरीतं कृतं तदा सुपर्ण एव विपरीतः कृतो भवति, अतः सर्वदोषनाशकाग्नेरपि यत्र वैपरीत्यं तत्र दोषाणां किं वक्तव्यमिति ज्ञापितं, काममिति यथेच्छं सन्देहाभावाद् देयमेव तत्, ह्यं गोः सम्बन्धि हैयङ्गवं पूर्वकालगोसम्बन्धि नवनीतं, चौर्यं जाते विशङ्किते ईक्षणे यस्य, भगवता चौर्यं कृतमस्ति तस्याश्चौर्यदोषनिवारणाय सर्वपतिरपि तथाभावोत्पादनाल्लोकानुसारेण नवनीतहरणं चौर्यमित्युच्यते, तत्र दोषदृष्टौ तस्या ज्ञानं कालेन नाश्यत इति विशेषाकारेण वा शङ्कितमीक्षणं यस्य तथा भवति, चौर्यविशङ्कितायां वेक्षणं यस्य, उभयथापि तस्या ज्ञाननाशशङ्का, तादृशं स्वयं निरीक्ष्य सुतं पश्चात् पृष्ठ भागे पृष्ठे च पश्यन्ती पापदृष्टिः शनैरागमत्, ईषन्मात्रमागतवती, न हि पापदृष्टिः शीघ्रमागन्तुमर्हति ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थ—यशोदा ने प्रथम भगवान् को जैसे नहीं देखा, वैसे बंदर भी नहीं देखे, इससे उसके (यशोदा के) मन में संशय भी होने लगा अतः भगवान् को ढूंढना चाहिए। इस विचार के आने से फिर चित्त भगवत्परायण हुआ। चित्त भगवत्परायण होते ही भगवान् के दर्शन हो गये। दर्शन में यशोदा के दोष प्रतिबन्धक नहीं हुए। दोष विफल हो गए इनकी विफलता बताने के लिये ही भगवान् ने ऊखल को उलटा किया था, जिसका भावार्थ यह है कि जहाँ सर्व दोषदाहक अग्नि ही उलटी होने के कारण जहाँ कुछ भी करने में समर्थ नहीं वहाँ दोष क्या कर सकते हैं। 'कामम्' शब्द का भाव बताते हुए कहते हैं कि अपनी इच्छानुकूल दे रहे थे क्योंकि भगवान् को उनको देने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं था कि कोई मुझे रोकेगा, कारण कि मैं सर्व (सब पदार्थों का) पति (स्वामी) हूँ। यह मक्खन आगे का इकट्ठा किया हुआ है ताजा नवनीत नहीं है यद्यपि भगवान् सर्व-पति होने से चोर नहीं हैं तो भी लौकिक दृष्टि में यह कार्य चोरी मानी जाएगी अतः आप ऐसा नाट्य करने लगे इसको मूलकार 'चौर्यं विशङ्कितेक्षणं' पद से दिखाते हैं कि चोरी के कार्य करने से भगवान् अपनी आंखें शङ्काशील (शङ्का व भय वाली) दिखाने लगे, इस लौकिक दोष दृष्टि का कारण बाल्यकाल है। अतः इस दोष दृष्टि का निवारण भी काल ही करेगा। तात्पर्य यह है कि यशोदा अब भगवान् को बालक ही समझने के कारण अज्ञ[1] समझती है। अज्ञता में ऐसे (चोरी के) कार्य होते हैं जिस समय यशोदा उसके (भगवान् के) स्वरूप को समझेगी तब उस समय यह दोष दृष्टि स्वयं नष्ट हो जायेगी। आचार्यश्री विशेष भाव बताते हैं कि 'चौर्यविशङ्कितेक्षणं' के दो अर्थ हैं एक चोरी करने से भय-युक्त नेत्र वाले भगवान् हो गए हैं और दूसरा यह है कि जिसके मन में मेरे लिए 'मैं चोर हूँ' उसको भगवान् देख रहे हैं इन

१—ना समझ।

*प्रकार से कोई भी अर्थ लेने पर यशोदा का सत्य ज्ञान नाश होकर उसमें दोष-दृष्टि उत्पन्न हो गई है। पुत्र को चोर समझ और स्वयं ने (चोरी करते) देखकर भगवान् के पीछे धीरे-धीरे आने लगी। इसका भावार्थ आचार्यश्री बताते हैं कि यशोदा दोष-दृष्टि के कारण पापयुक्त हो गई थी। अतः भगवान् के सामने न आसकी, पापी भगवान् के न सामने आ सकते हैं और न शीघ्र भगवान्-के पास पहुँच सकते हैं ॥ ८ ॥

आभास---ततस्तां दृष्ट्वायोग्या स्प्रष्टुमिति ततो निर्गतवानित्याह तामात्तयष्टि-तिमि ।

आभासार्थ—भगवान् ने जान लिया कि यशोदा आ रही है, किन्तु यह अब (पाप-दृष्टि होने से) मेरा स्पर्श, करने योग्य नहीं है यों विचार कर वहाँ से चले गये इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक---**तामत्तयष्टिं प्रसमीक्ष्य सत्वरस्ततोवरुह्यापससार भीतवत् ।**
गोप्यन्वधावन् न यमाप योगिनां क्षमं प्रवेष्टुं तपसेरितं मनः ॥ ९ ॥

श्लोकार्थ---उसके हाथ में लकड़ी देखकर वेग पूर्वक उस पर से (ऊखल से) उतर के डरपोक के समान भगवान् वहाँ से भाग गए। तब गोपी (यशोदा) योगियों की तपस्या से प्रेरित (शुद्ध) मन जिसके पास पहुँच नहीं सकता है, उसको पकड़ने के लिये उसके पीछे दौड़ी ॥ ९ ॥

सुबोधिनी—यष्टिरत्र गोवत्सनिवारिका, तस्या भगवत्यपि वत्सबुद्धिर्जाता, आत्ता गृहीता यष्ट्यिया, दर्शनादेव न पलायितवान् किन्तु तस्या अन्तर्गतं बाह्यं च भावं प्रकर्षेण सम्यग् दृष्ट्वा नैकटयमपि नार्हतीति ज्ञात्वा तद्दोषपरिहारार्थं त्वरासहितस्ततोवरुह्यापससार प्रतिमुखतयैव पलायनं कृतवान् तस्या दोषेण स्वस्मिन् स्थितबालकानामपि दोषो भविष्यतीति ज्ञापयितुं दृष्टा-न्तमाह भीतवत्, यथा भीतस्तदपकारं स्वस्मिन् जानाति तथा भगवानपि तद्दोषं स्वस्मिन्, विचारितवान् अनेनैव न भीत इति ज्ञापितं, सापि गोपी, अतोन्वधावत्, अनु पश्चाद् धावनं कृतवती, तस्या अविवेकं प्रकटयितुं शुको भगवन्तं विशिनष्टि यं भगवन्तं योगिनां सिद्धयोगानां निवृत्तदोषं मनस्तत्रापि तपसेरितं प्रेरितं धर्मेण संस्कृतमपि प्रवेष्टं नाप न प्राप्तवत्, अत इयमप्यर्थादेव न प्राप्तवती-त्यर्थः ॥ ९ ॥

---

* यदि यशोदा यों समझती है कि भगवान् ने सत्य चोरी की है तो भी यशोदा को अज्ञान है, क्योंकि यशोदा, भगवान् ने चोरी किसलिए की है इसको न जान सकी। यदि यशोदा को भगवान् के चोरी करने की शंका है तो भी यशोदा को अज्ञान है क्योंकि उसको अब यह ज्ञान निश्चित नहीं हुआ है कि यह भगवान् है। अतः दोनों प्रकार के अज्ञान होने से दोष-दृष्टि उत्पन्न हुई।

व्याख्यार्थ--यशोदा ने भगवान् को बछड़े जैसा समझ कर गौओं के बछड़ों को अपने वश में करने वाली लकड़ी हाथ में ली। ऐसी यशोदा को देखकर उसके बाहर और भीतर के भावों को अच्छी तरह जान गए कि यह दोषयुक्त होने से निकट भी आने योग्य नहीं है इसलिये भाग गए न कि लकड़ी के भय से भागे थे, भाग जाने का‡ दूसरा कारण यह भी था कि माता है। इसके दोष अवश्य दूर करने चाहिये। भगवान् त्वरा से ऊखल से उतर कर इसी प्रकार भागे जैसे पापिष्ट–यशोदा भगवान् का मुखारविन्द भी नहीं देख सकी और न भगवान् ने उसका मुख देखा, क्योंकि भगवान् ने सोचा कि यशोदा के* दोषों से अन्तःस्थ (अन्दर स्थापित किए हुए) बालकों को भी दोष (दुःख) होगा। डरपोकों के समान इस दृष्टान्त का भाव बताते हैं कि जिस प्रकार डरने वाला समझता है कि यह (डराने वाला) मेरा अनिष्ट करेगा, उसी प्रकार भगवान् ने उसका (यशोदा का) भीतर का दोष समझा था, जिससे आप डरे नहीं थे, केवल डरने जैसा नाट्य किया था यह समझाया है। वह यशोदा भी गोपी है (अल्पबुद्धि वाली है क्योंकि गांव में रहनेवाली है) इस कारण से (अल्पबुद्धि होने से) भगवान् के पीछे दौड़ी। शुकदेवजी उसका अविवेक[1] बताने के लिये दृष्टान्त देते हैं कि जो भगवान् को पहुँचने के लिये 'योग' सिद्ध कर योगी बने हैं और जिनका मन दोष-रहित होने से शुद्ध हो गया है तथा तपस्या से प्रेरित, धर्म से संस्कृत (पवित्र) भी हो गया है, उन योगियों का मन भी भगवान् को नहीं पा सकता है तो यशोदा कैसे पा सकेगी अतः उसके पीछे पकड़ने के लिये दौड़ना अविवेक ही है ॥ ९ ॥

आभास—एवं भगवति दोषदर्शने भगवदीयोपि भगवन्तं न प्राप्नोतीत्युक्तं, तादृशेपि भगवान् कृपां करोतीति भगवत्कृपया भगवन्तं स्पृष्टवतीत्याहान्वञ्चमानेति।

आभासार्थ—निम्न श्लोक में यह बताते हैं कि भगवदीय भी यदि भगवान् में दोष दृष्टि करते हैं अर्थात् दोष देखते हैं तो वे भी भगवान् को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। किन्तु (भक्तवत्सल) भगवान् उन पर भी कृपा करते हैं जिससे वे भगवान् को पा सकते हैं (जैसे यहाँ दोष-दृष्टि वाली यशोदा पर कृपा की है जिससे उसने भगवान् को स्पर्श कर लिया)।

श्लोक--अन्वञ्चमाना जननी बृहच्चलच्छ्रोणीभराक्रान्तगतिः सुमध्यमा।
जवेन विस्रंसितकेशबन्धनच्युतप्रसूनानुगतिः परामृशत् ॥ १० ॥

---

‡ यदि भगवान् भाग न जाते तो, यशोदा इससे भी विशेष दोष करती, अर्थात् भगवान को पिटती—'लेख'
* यदि यशोदा भगवान् को पीटती तो अन्तःस्थ बालक दुःखी होते।

१--विचारहीनता।

श्लोकार्थ--सुन्दर कटिवाली माता पीछे जाते हुए मोटे तथा चञ्चल नितम्ब के भार के कारण रुक जाती थी, वेग के कारण शिथिल चोटी से गिरे हुए पुष्पों के पीछे जाने वाली उसने भगवान् को पकड़ लिया।

सुबोधिनी--प्रतिकूलोपि भगवदर्थं श्रमः सार्थकः, श्रोणी अन्वञ्चमाना श्रोण्योराकर्षणं कुर्वन्ती रथाकर्षणे बलीवर्दवद् भाराक्रान्तगतिर्जाता भरेण भारेणाक्रान्ता गतिर्यस्या., दुष्टा गतिर्भारेणैवाक्रान्ता, ततो बुद्धिरपि दोषादेर्निवृत्ता गमनार्थमेव प्रवृत्ता, तदाह सुमध्यमेति, जननीतिवचनात् सदुग्धयोः स्तनयोरपि भारः, सूचितः, जननीत्वाच्च न वर्णितः, वस्तुतस्त्वजननी, जननी न काचिदप्येवं करोति, सुमध्यमेत्यनेन मध्ये भक्ता बहिर्व्यामोहिता, परं दुष्टभावाद् भारेण गत्याक्रमणमुक्त्वा शोभनमध्यभावं वदंस्तस्या दोषाभावं गुणं चोक्तवान्, अभिमानाभावार्थं चाह जवेनेति, वेगेन विशेषेण स्रंसितानि केशबन्धाच्च्युतानि प्रसूनानि तेषामनु पश्चाद् गतिर्यस्याः, पुष्पाण्यपि सङ्गे चलन्ति, प्रकृष्टा सूना येषां तानि प्रसूनानि, उत्तारणमात्रेणैव ते नश्यन्तीति देवाद्यर्थं च तेषां सूना, तान्यपि बद्ध्वा स्थापितवती, तानि च पुनः केशबन्धाद् विगलितानि, उत्पत्तिप्रलयौ तदधिष्ठात्र्यौ देवते च तत्रैव सम्बद्धे तद्रूपाणां च बन्धनं यत्र ततस्तु मुक्ता न पुनर्जन्मभाजः, ततो मोक्षश्च भगवदर्थक्रियया, अतः केशानामपि बन्धविमोचकस्तत एव विस्रंसितः केशबन्धस्ततश्च्युतानि प्रसूनानि, एतस्या दोषाभावो गुणो मुक्तानुगतिश्चैतिधर्मत्रयेण भगवन्तं परामृषत् परितो धृतवती, आलिङ्गितवतीत्यर्थः, तस्या दोषभावं दृष्ट्वा भगवान् रोदिति तस्या विवेकभ्रंशलक्षणमपराधं च कृतवान्, यशोदाबुद्ध्या तु भाण्डभेदनमपराधः, अत्यन्तमोढ्यदोषनिवृत्त्यर्थं च ज्ञानशक्तेर्धर्षणमपि करोति, ज्ञानशक्तिस्तु भगवत्कृत्यैव सोज्ज्वला भवति "यथायथात्मा परिमृज्यत" इतिवाक्यात्, यशोदाया निरोधः सर्वथा व्यर्थो मा भवत्विति स्वकार्यं तद्भावं च दृष्ट्वा भयेन विह्वले ईक्षणे यस्य, सोपाधिकं निरुपाधिकं च ज्ञानं तस्या गमिष्यत इति विह्वलता ॥ १० ॥

व्याख्यार्थ—भगवत्प्राप्ति के लिये किया हुआ प्रतिकूल[1] परिश्रम भी सफल होता है (उससे भी भगवान् मिल जातेहैं)। जैसे बैल रथ को खेंचते हुए विशेष भार के कारण रुक जाते हैं, वैसे ही यशोदा अपने भारी नितम्बों को खींचती थी, किन्तु उनके भार से अटकने से धीरे-धीरे चलती थी। दुष्ट गति भार के कारण रुक गई इससे‡ बुद्धि के दोष भी निवृत्त हो गए भगवान् के पीछे चलने लगी। श्लोक के 'सुमध्यमा' (सुन्दर कटिवाली) शब्द से यह (चलने का) भाव बताया। श्लोक के 'जननी' शब्द का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि दूध वाले स्तन थे उनका

---

‡ नितम्बों के भार से यशोदा का रुक जाना भी तपस्या हुई, जिससे दोष निवृत्त हुए और यशोदा पुनः भगवान् के पीछे चलने लगी—'प्रकाश'

पुत्र तो 'वासुदेव' है यदि ऐसा भाव पुरुषोत्तम में होता तो गोपियों के समान इसका भी निरुपधि स्नेह होता वह नहीं है--'लेख'

१—विरुद्ध।

भार भी था, किन्तु माता थी इसलिये उनका वर्णन नहीं किया है। वास्तविक[1] तो माता* नहीं थी क्योंकि यदि वास्तविक माता होती तो यों न करती। कोई भी माता इस प्रकार (पुत्र को मारने का कार्य) नही करती है। 'सुमध्यमा' शब्द का दूसरा भी भाव बताते हैं कि यशोदा का मध्य (अन्तःकरण) सुन्दर (शुद्ध) था, इसलिये वह अन्दर भक्त थी केवल बाहिर से मोहित थी। शुकदेवजी ने नितम्बों के भार से रुकना यह दुःख भाव बताकर जो साथ में 'सुमध्यमा' विशेषण बता दिया वह इसलिये कि यशोदा में दोषों का अभाव है और गुणों का सद्भाव है, (क्योंकि उसका अन्तःकरण भक्तिमान् है) यशोदा निरभिमान है इसको बताने के लिये कहा है कि जैसे उसकी चोटी से जल्दी जल्दी पुष्प गिरते थे, वैसे ही वह भी उनके पीछे चल रही थी इस प्रकार यशोदा के साथ फूल भी चल रहे थे। पुष्पों के लिये श्लोक में सूना शब्द है उसका भावार्थ बताते हैं कि पेड़ से उतारते ही उनका नाश होता है किन्तु वह नाश देवों के अर्थ होता है ऐसे (जो पुष्प देवों के लिये अपना नाश कराते हैं) पुष्पों को उसने (यशोदा ने) अपने केशों में बान्ध रक्खा है। वे उनमें से गिर रहे हैं। आचार्यश्री के इस कहने का भीतरी-भाव स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यशोदा ने अपने केशों में उत्पत्ति और प्रलय के देवताओं को बाँधा था, उनसे छूटने पर (अलग होते ही) वे मुक्त हो गए फिर उनका जन्म नहीं होगा। उनके मोक्ष का कारण बताते हैं कि भगवदर्थ क्रिया से मोक्ष होता है तो यहाँ यशोदा जो क्रिया कर रही थी वह भगवदर्थ ही थी। अतः उनका मोक्ष हो गया। इस प्रकार यशोदा ने तीन धर्म सम्पादन किए—(१) दोषाभाव, (२) गुणप्राप्ति और (३) मुक्ति के पीछे चलना जिनसे वह भगवान् को प्राप्त कर सकी अर्थात् भगवान् को आलिंगन किया।

यशोदा की बुद्धि के अनुसार भगवान् ने तक्र-भाण्ड के तोड़ने से उसका (यशोदा का) विवेक नाशरूप अपराध किया है, जिससे भगवान् उसके सामने रोने लगे किन्तु भगवान् उसके (यशोदा के) इस अत्यन्त मूर्खता रूप दोष को मिटाने के लिये अपनी ज्ञान-शक्ति का घर्षण करने लगे। (अपनी आँखों को मसलने × लगे) कारण कि ज्ञान-शक्ति 'यथायथात्मापरिमृज्यते' (जैसे जसे आत्मा को शुद्ध किया जाता है)। इस वाक्यानुसार भगवान् की अपनी कृति† से ही उज्जवल होती है। यशोदा में दोषभाव देखने से भगवान् को भय हुआ कि मेरा कार्य (निरोध) सर्वथा

---

* पुरुषोत्तम अजन्मा है अतः यशोदा माता नहीं है—'प्रकाश'

× भगवान् की ज्ञान-शक्ति भगवान् के नेत्रों में रहती है।

† भगवान् स्वयं जब कृपा कर अपनी ज्ञान-शक्ति से जीव के दोषों को नाश करते हैं तब ही जीव निर्दोष ज्ञानवान् हो भगवद्भक्ति का पात्र बनता है और भगवान् के रस स्वरूप लीलाओं का रस-पान कर सकता है—अनुवादक।

१—सचमुच।

यशोदा से चला न जाय, इस भय से भगवान् के नेत्रों में विह्वलता (भय की घबराहट) दीखने में आई यशोदा का दोनों प्रकार का ज्ञान (सौपाधिक और निरुपाधिक) चला न जाय इससे विह्वलता हुई थी ॥ १० ॥

आभास---एवं परमकृपालुं गृहीत्वा यत् कृतवती तदाह कृत्तागसमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार परमदयानिधि को पकड़ने के बाद जो कुछ उसने किया उसका वर्णन नीचे के श्लोक से करते हैं ।

श्लोक---**कृतागसं तं प्ररुदन्तमक्षिणी कषन्तमञ्जनमषिणी स्वपाणिना ।**
उद्वीक्षमाणा भयविह्वलेक्षणं हस्ते गृहीत्वा भिषयन्त्यवागुरत् ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ---अञ्जन से भरी हुई आँखों को हाथों से मसलने वाले, भय से विह्वल नेत्र वाले, अपराध करने वाले और रोते हुए भगवान् का हाथ पकड़ कर, घूर कर देखती हुई, यशोदा उन्हें डराने के लिए धमकाने लगी ।

सुबोधिनी—कृत आगोपराधो येन, कोयमपराध इत्याकांक्षायामाह तमिति व्यामोहकं, यशोदाबुद्धौ तु भाण्डभेत्तारं, यद्यपि स्वयमीश्वरो न कोप्यपराधो भवति तथाप्येषा व्यामोहिका लीला, तामत्यन्तं व्यामोहितवाञ् यथाग्र उत्तरलीलासु प्रतिबन्धिका न भवति, अन्यथात्यन्तमासक्ताग्रिमकार्ये प्रतिबन्धिकैव स्यात् "तच्चासुराणां मोहाय सतामपि च कुत्रचित्" "सा मां विमोहयति भीरपि यद् बिभेती" तिवाक्यान् निदानाज्ञानाच्च मोहः, लोकदृष्ट्या मारयिष्यतीति प्रकर्षेण रोदनं, इदमपि द्वितीयं व्यामोहकं, अक्षिणी कषन्तमिति बालभावदार्ढ्यकरणं, पूर्वं कृतमोहस्य दार्ढ्यार्थमञ्जनं शोभार्थं तयैव कृतमञ्जनसाधनीभूतमषीयुक्ते अक्षिणी, स्वपाणिनेति, पर्यायेणैकेनैव पाणिना भगवदीयक्रियायैव भक्तिरूपया नयनमुज्ज्वलं न भवतीति कषन्तमिति, तत्रत्या कण्डूरपि नाशिता, तेन रजोगुणोपि शामितो मारणसाधनीभूतः, अत एव तिष्ठन्नपि भगवांस्तादृशचेष्टया स्थितस्तां न दृष्टवान्, सैव पुनस्तमुद्वीक्षणमाणोर्ध्वं विलोकयन्ती न तु पादौ, तथा सति भक्तिर्वा भवेत, भगवांस्तु परितः स्थिता गोपीः पश्यति तासामपि दोषारोपाभावार्थं भयं, अन्तःस्थितोप्ययं भावो मोहनार्थमेव प्रकटितः, एवं त्रिभिर्धर्मैः सा मोहिता नातः परमुत्थास्यति, अत एवाग्रेस्याः कापि स्नेहकला न निरूपिता, "शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षी" दिति तु गुणानां माहात्म्यं "जनन्युपहृतं प्राश्य" "तत्कथाश्रवणोत्सुके" त्यादि तु रोहिणीसहभावात् तस्या अपि भावोस्यां सङ्क्रान्त उक्तः, नन्दस्यैव मुख्यत्वात्, एतादृशी भगवतः सर्वाङ्गसम्बन्धं परित्यज्य हस्ते गृहीत्वा भिषयन्ती भीषयन्यवागुरत्, आगूरणसङ्कल्पं कृतवती यथा पामरा अनिष्टागूरणानि कुर्वन्ति, अनेन तस्या अनृतवादित्वमपि निरूपितम् ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थ—श्लोक के 'तं' शब्द का भाव बताते हैं कि कृष्ण व्यामोहरूप अपराध करने वाले थे । यशोदा की दृष्टि में भाण्ड तोड़ने से भी अपराधकर्ता थे । दोनों प्रकार से अपराधी हैं । आप ईश्वर हैं, इसलिए आप कोई अपराध नहीं करते हैं तो भी आपकी यह लीला 'व्यामोहिका लीला'

हैं अतः आपने यशोदा को अत्यन्त मोहवाली बना दी, जैसे आगे की जाने वाली लीला में (वह यशोदा) प्रतिबन्धक न हो। जो भगवान् व्यामोह लीला न करें तो अत्यन्त आसक्ति के कारण, वह लीलाओं में प्रतिबन्धक ही बनती थी।

कारिका—**तच्चासुराणां मोहाय सतामपि च कुत्रचित्।**

कारिकार्थ—भगवान् रुदन[1] असुरों के लिए करते हैं किन्तु कभी सत्पुरुषों के लिए भी करते हैं।

व्याख्यार्थ—' सा मां विमोहयनि भीरपियदबिभेति ' १–८–३० जिससे यम भी डरता है उनकी यह दशा मुझे मोहित करती है। इस वाक्य से और भगवान् इस प्रकार की लीलाएँ क्यों करते हैं इस कारण के अज्ञान से मोह होता है। भगवान लोक दृष्टि से जताते हैं कि यह मुझे पीटेगी इसलिए खूब जोर से रोने लगे, यह रोना भी मोह कराने वाला है। आंखों के मसलने का तात्पर्य यह है कि पहले बाल-भाव में किए हुए मोह की यशोदा की बाल-भाव से दृढ़ता हो। उसने ही आंखों में कज्जल शोभा के लिए डाला था, जिससे आंखें कज्जल वाली हो गई थीं उन आंखों को क्रमशः एक ही हस्त से मसलते थे। एक ही हाथ से मसलने का भाव बताते हैं कि भगवदीय की भक्तिरूप क्रिया से ही नेत्र उज्ज्वल होते हैं। मसलने का दूसरा भाव यह है कि मसलने से भगवान् ने नाशकर्ता रजोगुण को भी शान्त किया, साथ में नेत्रों की खाज भी मिटा दी। भगवान् वहाँ थे तो भी इन नेत्रों के मसलने के कारण यशोदा को देखा नहीं, वह उनके ऊपर के भाग को देख रही थी। चरणारविन्दों को नहीं। यदि चरणारविन्द में दृष्टि हो तो भक्ति उत्पन्न हो जाय। भगवान् चारों तरफ स्थित अन्य गोपियों को देख रहे थे, जिससे मन में आई कि ये भी मुझमें दोषों का आरोप भी करें, इसलिये भय प्रकट कर रहे थे। यह अन्तःस्थित भाव मोहनार्थ ही प्रकट किया। इस प्रकार तीन[2] धर्मों से मोहित[3] वह (यशोदा) इसके अनन्तर मोह से अपने को छुड़ा[4] न सकेगी। इसलिये ही आगे के चरित्र में इस (यशोदा) के स्नेह की किसी भी कला[5] का वर्णन नहीं है 'श्रृण्मन्तयश्रूण्यवास्राक्षीत' १०-४३-२८ ('सुनती हुई आंसूओं को

१—जिससे मोह उत्पन्न हो वैसी लीला करनी—(रोदन से यशोदा को मोह कराया)। —'प्रकाश'

२—१–रुदन, २–आंखों को मसलना, ३-यशोदा को न देखना।—'प्रकाश'

३—यह मेरा पुत्र ही है इस प्रकार के दृढ़ भाव वाली।—'प्रकाश'

४—मोह के कारण यह भगवान् है इस प्रकार का ज्ञान होगा नहीं, अथवा घर के कार्यों में अत्यन्त आसक्त होने से, पुत्र पर पूर्ववत् विशेष प्रेम नहीं करेगी।—'प्रकाश'

५—उपाधि रहित स्नेह की कला के किसी भी अंश का आगे वर्णन नहीं है।—'लेख'

बहाया') इसमें तो भगवान् के गुणों का माहात्म्य है न कि यशोदा के स्नेह की कला वर्णित हैं। 'जनन्युपहृतंप्राश्य' १०-१२-४६ (माता का लाया हुआ [भोज्य] आरोग के) 'तत्कथा-श्रवणोत्सु के' १०-११-३४ (उसकी कथा के श्रवणार्थ उत्सुक) ऐसे स्थलों पर रोहिणी के साथ होने से उसका भाव भी इसमें (यशोदा में) आ गया यह बताया है। नन्दरायजी की ही मुख्यता हैं। इस प्रकार की यशोदा भगवान् के सर्वाङ्ग सम्बन्ध त्याग कर, हाथ से पकड़ कर डराती हुई धमकाने लगी, किस प्रकार धमकाने लगी। इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जैसे पामर मनुष्य अनिष्ट आगूरण[1] करते हैं वैसे यह (यशोदा) भी इस प्रकार के आगूरण के सङ्कल्प (विचार) करने लगी इससे यह असत्यवादिनी है इसका भी निरूपण (वर्णन) हो गया ॥ ११ ॥

आभास—ततः किं कृतवतीत्याकाङ्क्षायामाहत्यक्त्वा यष्टिमिति।

आभासार्थ—तदनन्तर यशोदा ने क्या किया ? इस आकांक्षा (अभिलाषा) की पूर्ति के लिए निम्न श्लोक कहते हैं।

श्लोक—**त्यक्त्वा यष्टिं सुतं भीतं विज्ञायार्भकवत्सला।**
इयेष किल तं बद्धुं दाम्नातद्वीर्यकोविदा ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ—पुत्र पर प्रेम करने वाली, भगवान् के वीर्य[2] को न जानने वाली यशोदा ने अपने पुत्र को भयभीत समझकर लकड़ी फेंक दी और उनको रज्जु से बांधने की इच्छा की।

सुबोधिनी—अनेन पूर्वं यष्टिरानीतेतिलक्ष्यते तेन मनोदुष्टा, मनःसङ्कल्पं च त्यक्तवती, तेन मनोदोषस्य गतत्वाच् चिकित्स्यत्रिदोषा जातेति निरूपयति, **यष्टिं त्वक्त्वा सुतं भीतं विज्ञाय** भगवद्धर्मानपि ज्ञात्वार्भकवत्सला जाता, तथापि तस्या न सर्वात्मना दोषनिवृत्तिरित्या-हेयेषेति, निरूपकस्यापि दोषो भवतीति शुको भीतः सन्नाह किलेती, प्रसिद्धिरेषा नास्माभिस्तदा दृष्टं नापि भवितं कदाचिदपि, **दाम्ना बद्धुमियेषेत्यन्तःकरण-शरीरपरिकरदोषा निरूपिताः**, नन्वसाध्ये कथं प्रवृत्ता? लोकेनिष्टेपि प्रवर्तमाना असाध्ये न प्रवर्तन्त इति तत्रा-हा**तद्वीर्यकोविदेति**, तस्य भगवतो वीर्यं न जानातीति, पूतनातृणावर्तादयो मारिताः कोस्या मारणे प्रयास इति ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थ—यशोदा ने लकड़ी छोड़ दी इससे जाना जाता है कि भगवान् को मारने के लिये पहले लकड़ी ले आई थी, अब उसको छोड़ दिया। लकड़ी ले आने से ऐसा प्रतीत होता है

१—'मारने का उद्यम प्रकाशकारा: 'मारूँगा' इस प्रकार के अनिष्ट शब्द कहते'।—'लेख'

२—पराक्रम, शक्ति।

कि उसका मन दोष-पूर्ण था, जिससे वह मनोदुष्टा थी, इससे उसके मन में भगवान् को मारने का सङ्कल्प उदय हुआ था। लकड़ी छोड़ देने से ज्ञात होता है, कि उसने उस मनः संकल्प को छोड़ दिया है क्योंकि मनोदोष मिट गया है। अन्य तीन दोष जो मिटाने जैसे हैं वे हैं—

१—लकड़ी का छोड़ना,
२—भगवान् के धर्म भय आदि को जानना, और
३—पुत्र में प्रेम वाली हो जाना।

तो भी उसके सब प्रकार के दोषों की निवृत्ति न हुई। इसको प्रमाणित करने के लिए शुकदेवजी डरते हुए कहते हैं कि उसने भगवान् को रज्जु से बाँधने की इच्छा की। यह लीला प्रसिद्ध है। शुकदेवजी ने 'किल' प्रसिद्ध है यह शब्द कहकर अपना भयभीतपना दिखाया है कि यह मैंने आँखों से नहीं देखा और न उसका विचार भी किया है, केवल प्रसिद्ध होने से मैंने कहा है कि उसने रज्जु से बान्धने की इच्छा की है। बान्धने की इच्छा से उसके (यशोदा के) अन्तःकरण, शरीर और परीकर के दोषों को प्रकट किया है।

जब जगत् में मनुष्य अनिष्ट[1] करने में तो मस्त होते हैं किन्तु जो असाध्य[2] है ऐसे कार्यों में प्रवृत्त नहीं होते हैं, तब यशोदा असाध्य कार्य में कैसे प्रवृत हुई ? इस शंका को मिटाने के लिये श्लोक में 'अतद्वीर्यकोविदा' कहा है (उस भगवान् के वीर्य को वह नहीं जानती है)। यदि भगवान् के वीर्य[3] को जानती होती कि पूतना, तृणावर्त आदि को इसने मारा है तो मुझे मारने में इसे (भगवान् को) कौनसा प्रयास[4] करना पड़ेगा ? इस प्रकार के अज्ञान से ही उसने भगवान् को बांधने की इच्छा की ॥ १२ ॥

आभास——शुकोपि तां दूषयन्निव बन्धाभावे परमार्थतो युक्तिप्रदर्शयति न चान्तरिति।

आभासार्थ—शुकदेवजी भी उसे (यशोदा को) दूषित जैसी करते हैं और सत्ययुक्ति देकर बताते हैं कि भगवान् यशोदा के बन्धन में क्यों नहीं आए ? वह वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक——**न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।**
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ——जिसके अन्तर बाहिर, आगे वा पीछे कुछ भी नहीं है जो जगत् के भीतर, बाहिर, आगे तथा पीछे हैं और जो जगतरूप है।

१—बुराई, बुरा। २—अशक्य, न हो सकने जैसा। ३—पराक्रम, शक्ति। ४—प्रयत्न।

सुबोधिनी—भगवति बन्धाभावो द्वेधापि भवति, भगवत्स्वरूपविचारेण बन्धनसाधनस्वरूपविचारेण च, तत्रादौ स्वरूपं विचारयति, बन्धनं हि कार्यद्वयं सम्पादयति बहिर्निरोधमन्तस्तापं च,तत् तस्यैव भवति यस्यान्तर्बहिर्भावो भवति, भगवांस्तु पूर्णः सर्वं व्याप्य तिष्ठतीति न कस्मादपि भगवानन्तर्भवति, निरवयवत्वाच्च न कोपि तस्य परिच्छेदकः, चकारादन्तःशब्दव्यवहार्य आकाशोतः सशब्दोपि भगवति न प्रवर्तत इत्युक्तं, अन्तर्यामिब्राह्मणे सर्वान्तरो भगवानुक्तो न तु भगवतोन्तरं क्वचित्, सर्वान्तरः केनान्तर्भावमापद्येत ? आधारत्वे तु नान्तरभावना, रूपादिषु तथोपलब्धेः, न हि फलस्यान्तः स्वरूपं तिष्ठति बीजवत्, तथा सत्यदृश्यः स्यात्, अतो न केनाप्यंशेन भगवतोन्तरमस्ति, नापि बहिः, व्यापकत्वात्, बहिःस्थित एवाकाशोन्तस्तिष्ठतीति नाकाशाद् बहिरस्ति किञ्चित्, अनेनान्तःकरणे खेदो बहिरावरणं वा नास्तीत्युक्तं, किञ्च बन्धनं हि वेष्टनात्मकं तद् दिग्विभागे सति भवति, निरवयवस्यानिरूप्यस्य स्वत एव भासमानस्य ज्ञातृज्ञेयभावतिरोधायकस्य केनाप्यंशेन पूर्वभावोपरभावो वा न सम्भवति, अनेनैव दक्षिणोत्तरभावा अपि परिहृताः, सर्वत्र स्थितः पूर्वापरभावमेव मन्यते, अतः स्वरूपकृता वा दिक्कृता वान्तरादिधर्मा भगवति न सन्तीति न बन्धसम्भावना, साधनस्वरूपविचारेणापि न भवतीत्याह पूर्वापरमिति, रज्ज्वादीनां पूर्वभागे परभागे च'यमेव वर्तते, तत्र यशोदैव प्रमाणं, भगवति सर्वं दृष्टवती यतः, सर्वस्यापि भगवान् बहिरपि भवति व्यापकत्वात्, अन्तरपि भवति सर्वान्तरत्वात् चकारात् स्वरूपमपि, किञ्च जगतो य एतावान्, यतो जायते गच्छति चेति जगत्,यदि भगवानेतावन्न स्यात् कथं जगद् भवेत ? पूर्वभावाभावे न भवेत् परभावाभावे न गच्छेत्, जगतश्चेद् भगवान् बहिर्न भवेद् जगति गच्छती गच्छेद्,यदि सर्वान्तरो न भवेज् जगदितिविशिष्टं सर्वप्रतीतिसिद्धं न भवेत्, अन्तःस्थितभगवद्धर्मैरेव जगतो विवक्षितधर्मवत्त्वात्, किञ्च यो जगत्, न हि स्वात्मना स्वयं बद्धो भवति, तथा सति बन्धकानां वैयर्थ्यापत्तेः, किञ्च जगन्मयोयं सर्वमेव जगद् व्याप्य तिष्ठति, एतदाज्ञयैव जगत् कार्यं करोति, ततः कथमयं स्वबन्धने जगत् प्रेरयेत् ? अतो न केनापि प्रकारेण भगवतो बन्धनमस्तीति निश्चिन्ता भक्ताः ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थ—यशोदा स्वयं भगवान् को क्यों न बान्ध सकी, शुकदेवजी उसके प्रथम दो कारण बताते हैं—१. भगवान् का स्वरूप क्या है ? इसके विचार करने से और यशोदा जिस (पदार्थ) से भगवान् को बान्धना चाहती है उसका स्वरूप क्या है —२. इन दो में से प्रथम भगवान् के स्वरूप का विचार किया जाता है । बन्धन दो काम करता है—१. बाहिर जाने से रोकना और भीतर दुःख उत्पन्न करना । रुकावट और भीतर दुःख उसको होगा, जिसमें अन्तर और बाहिर के भाव होंगे । भगवान् तो पूर्ण हैं सब में व्याप्त होकर रहते हैं । इससे वे किसी के भी भीतर आ नहीं सकते हैं और निरवयव* (अवयव रहित होने से कोई भी उनका परिच्छेदक [सीमा बान्धने वाला]) नहीं बन सकता है । श्लोक में 'च' अक्षर का आशय बताते हैं कि 'अन्तर' शब्द से 'आकाश' व्यवहार में आता है वह 'अन्तर शब्द भगवान् में प्रवृत नहीं होता

---

* ब्रह्मसूत्र २-३-१ में आकाश को अवयव वाला कहा गया है इसलिये घट उसकी सीमा कर सकता है । यदि आकाश निरवयव हो तो भी घट पदार्थ आकाश से पृथक् अन्य हैं इसलिये वह आकाश की सीमा कर सकता है अतः 'घटाकाश' बन सकता है किन्तु भगवान् से तो कोई पदार्थ पृथक् वा अन्य नहीं है अतः वे किसी प्रकार भी सीमा में आ नहीं सकते ।—'प्रकाश'

है क्योंकि अन्तर्यामी 'ब्राह्मण'[1] में कहा गया है कि भगवान् सबके भीतर बिराजते हैं भगवान् के अन्दर तो कोई नहीं है। जो सबके अन्दर है उसके अन्दर कोई भी नहीं रह सकता है और उससे कोई पृथक् पदार्थ है, ऐसा भी कहीं नहीं कहा गया है। किसी पदार्थ का कोई वस्तु आधार हो, तो उससे वह वस्तु उसके भीतर (समा गई) है ऐसा सिद्ध नहीं होता है क्योंकि रूपादिकों[2] में इसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि (ज्ञान) होती है। जैसे फल के अन्दर बीज है उसी प्रकार आप (भगवान् का स्वरूप) किसी भी पदार्थ में भीतर नहीं है वैसे होते तो अदृश्य हो जाते। अतः भगवान् व्यापक होने से अन्तर, बाहिर के भेद से रहित हैं। बाहिर रहा हुआ भी व्यापक आकाश जिससे बाहिर कोई भी नहीं हैं वह आकाश भगवान् के भीतर स्थित है। इससे यह समझाया कि भगवान् के अन्तःकरण में खेद नहीं है और न किसी प्रकार की रुकावट है।

बन्धन का कार्य घेरा डालना है वह वहाँ हो सकता है जहाँ दिशाओं का विभाग हो। यहाँ तो जिसको बन्धन में लाये जाने का प्रयत्न किया जाता है वह तो निरवयव अतिरूप्य स्वयं प्रकाशमान, ज्ञाता और ज्ञेयभाव का तिरोधान करने वाले हैं उनका पूर्व और अपर भाव हो नहीं सकता है, इससे उसके लिये दक्षिण और उत्तर (दिशा भाग) भाव भी नहीं होते हैं। क्योंकि आप सर्वत्र स्थित है अतः आपके लिये पूर्व और अपर (सर्वत्र) ही है। अतः स्वरूप से अथवा दिशाओं से होनेवाले अन्तर आदि धर्म भगवान् में नहीं हैं इसलिये भगवान् बन्धन में आएगा यह सम्भावना ही नहीं है[3]।

जब जिससे भगवान् को बान्धने का प्रयत्न किया जाता है, उस वस्तु के स्वरूप का वर्णन श्लोक के उत्तरार्ध में करते हैं--बन्धन के साधन रज्जु के पूर्व भाग और पर भाग में अर्थात् आदि और अन्त में ये (भगवान्) ही हैं, इसमें प्रमाणभूत (साक्षी) यशोदा स्वयं है, क्योंकि उसने सर्व वस्तुमात्र, भगवान् में देखे हैं। तथा सर्वत्र व्यापक होने से भगवान् सर्व के बाहिर भी हैं एवं सर्वान्तर होने से अन्दर भी हैं। आचार्यश्री 'च' अक्षर का आशय प्रकट करते हैं कि इस (च) के कहने से शुकदेवजी ने यह बताया कि सर्व वस्तु स्वरूप भी भगवान् ही हैं और भगवान् जगत् के आगे-पीछे, अन्दर-बाहिर हैं और स्वरूप हैं। इस कारण से ही इस दृश्य को 'जगत्' कहा जाता

१—अन्दर, बाहिरपना आकाशाधीन होने से अन्तर शब्द से 'आकाश' कहा जा सकता है किन्तु भगवान् के लिए अन्दर शब्द नहीं कहा जा सकता है।--'लेख'

२—रूप वर्ण (रंग) को कहा जाता है। रंग किसी पर चढ़ाया जाय तो वह पदार्थ उस (रंग) का आधार होता है किन्तु रंग उसमें भीतर नहीं चला जाता है बाहिर ही देखने में आता है जैसे लाल पीले आदि वस्त्र।--'अनुवादक'

३—यहाँ तक भगवान् का स्वरूप कैसा है इसका विचार किया गया अर्थात् भगवान् का ऐसा स्वरूप है क्या जो बन्धन में आ सके? निर्णय किया गया है कि भगवान् का स्वरूप ऐसा नहीं है जो बन्धन में आ सके।

है जिसका अर्थ है 'जायते' (जन्मता) है। इसलिये 'ज' और 'गच्छति' चलता ही जाता है इसलिये 'गत्' है—तात्पर्य यह है कि जो जन्मता है और चलता ही रहता है उसको जगत् कहते हैं। यदि भगवान् इतना न होते तो 'जगत्' उत्पन्न कैसे होता ? जो भगवान् जगत् से आदि में, प्रथम न होते तो जगत्[1] की उत्पत्ति हो नहीं सकती थी और जो अन्त में न होवे तो जगत् का लय किस में होवे ? अर्थात् लय हो नहीं सकता था इस प्रकार भगवान् यदि जगत् के बाहिर न होते और केवल जगत् में ही होते तो जगत् के लय होते ही भगवान् भी लय हो जाते, किन्तु वैसा होता नहीं है क्योंकि आप सर्वान्तर हैं सर्वान्तर होने से ही 'जगत्' की इस नाम से प्रसिद्धि हो नहीं सकती थी तथा जगत् सबके प्रतीति में नहीं आता। अब तो सर्व जगत् को प्रत्यक्ष देख रहे हैं भगवान् के धर्म ही जगत् में स्थित हैं, जिससे जगत् में वे धर्म दृष्टिगोचर होते हैं। इसके अतिरिक्त फिर आप ही जगत् हैं इसलिये आप बन्धन में आ नहीं सकते हैं कारण कि कोई भी अपने आप से अपने आप को बान्ध नहीं सकता है, ऐसा होने से, बन्धन करने वाली वस्तु की व्यर्थता† होती है और यह भगवान् जगत्मय होने से सकल जगत् में व्याप्त होकर रहे हैं। इनकी आज्ञा से ही जगत् कार्य करता है। तो अपने को बन्धन में डालने के लिये जगत् को स्वयं वैसी प्रेरणा वैसे करेंगे। अतः किसी भी प्रकार से भगवान् का बन्धन बन नहीं सकता है इससे भक्त निश्चिन्त है॥ १३॥

आभास—तादृशं योन्यथा विचारयति स निष्फल प्रयासो भवतीति तां दूषयन्निव तस्याप्यज्ञानमाह तमिति।

आभासार्थ—वैसे भगवान् को, जो मनुष्य, लौकिक के समान समझता है उसका प्रयास[2] व्यर्थ होता है इस प्रकार शुकदेवजी उस (यशोदा) को मानों दोष देते हैं उसके अज्ञान का वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—तं मत्वात्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम्।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा॥ १४॥

१—'जगत्' शब्द का अर्थ जन्म लेना और लय पाना है यदि भगवान् इससे पूर्व न होते तो इसका जन्म न होता और अन्त में न होते तो इसका लय न होता। जिससे 'जगत्' शब्द की व्युत्पत्ति ही व्यर्थ हो जाती।—'लेख'

†जो आप ही अपने को बान्ध सकता है तब तो दूसरी बन्धन करने वाली वस्तु की आवश्यकता नहीं अतः वह लानी ही व्यर्थ है।

२—परिश्रम, प्रयत्न।

श्लोकार्थ—उस अवयक्त,[1] मनुष्य के चिन्ह वाले अर्थात् मनुष्याकृतिवाले नेत्रादि इन्द्रियों से जिसको जाना वा देखा नहीं जाता है वैसे भगवान् को अपना पुत्र समझ कर, प्राकृत बालक के समान उसको यशोदा ने रज्जु से ऊखल के साथ बान्धा।

सुबोधिनी—तं पुराणपुरुषोत्तममात्मजं स्वशरीराजातं मत्वा दाम्ना बबन्धेतिसम्बन्धः, देहस्तु प्राकृतस्तस्या इति तज्जातः सुतरां प्राकृतो भवति, ननु क्वचिन् महान्तोपि पुत्रा जायन्ते देवादयोपि ततो लोके कारणवैलक्षण्यस्यापि दृष्टत्वात् कथमात्मजत्वे तथा कर्तुं शक्यत इति चेत् तत्राहाव्यक्तमिति, न केनाप्यंशेन व्यक्तं, ये हि महान्तो भवन्ति ते स्वधर्मान् प्रकटीकुर्वन्ति यथा भरतादयः भगवांस्तु तथा न करोतीति प्राकृतबुद्धिस्तेषां दृढा, मध्यमावस्थानामेव तथा करणं न तु परमकाष्ठां गतस्य, किञ्च यदि गुप्त एव संस्तूष्णीं तिष्ठेत् तथापि सन्देहः स्यादन्यवाक्येन वा माहात्म्यं जानीयुः प्रत्युत भगवान् विपरीतधर्मान् बोधयत्यतः कथं प्रतीतिरित्याह मर्त्यलिङ्गमिति, मर्त्यस्यात्यन्तप्राकृतस्य लिङ्गानि यस्मिन्निति, तथैव स्वरूपं गुणांश्चेष्टां च प्रदर्शयतीत्यर्थः, ननु तथाप्यत्यन्ताभिज्ञा यथा नटं परिचिन्वन्ति तथा सर्वविलक्षणानन्तगुणवस्त्वादानन्दमयत्वाच्च कथं न ज्ञायत इत्याशङ्क्याहाधोक्षजमिति, अधोक्षजं ज्ञानं यस्मादिति न हि भगवान् गुणा वा कस्यचिदपि चक्षुर्गोचरा भवन्ति, इच्छा तु नास्ती त्यवगम्यते विरुद्धप्रदर्शनात्, किञ्चेयं च यशोदा गोपिकातिप्राकृतरूपा, अतोनभिज्ञा कथं जानीयात्? उलूखलोपरिपादं दत्वा भगवान् क्रीडति, अग्नेश्च नाभिर्भवति, अतो भगवान् गोकुलस्थितमुलूखलं स्वाश्रयत्वेन ज्ञापयितुमत्र बन्धनं कारितवान् गोपिकायस्तु बुद्धिर्यथान्यत्र न गच्छतीति, दाम पशूनां बन्धकं, ननूलूखलदामहस्ताधिष्ठितदेवानां कथं तूष्णीम्भावः? तत्राह प्राकृतं यथेति, तेषामपि बुद्धिर्भगवता तथा सम्पादितेति ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थ—उसे पुराण पुरुषोत्तम का अपने शरीर से उत्पन्न पुत्र समझकर रज्जु से बान्ध दिया इस प्रकार सम्बन्ध है। यशोदा का देह तो प्राकृत है उस (प्राकृत देह) से उत्पन्न निश्चय से प्राकृत होता है।

कभी यों भी देखा गया है कि महत्पुरुष तथा देवता भी प्राकृत माताओं से पुत्र होकर जन्म लेते हैं। इससे लोक में कारण से कार्य की विलक्षणता भी देखने में आती है। उत्पन्नकर्त्ता (कारणरूप) माता और पिता से उत्पन्न (कार्यरूप) पुत्र पृथक प्रकार का होता है। तो यशोदा ने इसको अपनी देह से उत्पन्न समझा तो कौनसा दोष है? इसके उत्तर में मूल-श्लोक में 'अव्यक्त' शब्द दिया है जिसका आशय है कि जिसको यशोदा पुत्र समझती है वह किसी भी अंश से उत्पन्न (प्रकट) नहीं होता है। जो महत्पुरुष होते हैं वे अपने धर्मों को प्रकट करते हैं जैसे भरतादिकों ने अपने धर्म प्रकट किये हैं। भगवान् तो अपने धर्म इस प्रकार जन्म लेकर प्रकट नहीं करते हैं। इस कारण से लोकों की बुद्धि दृढ़ आकृत होती है अर्थात् लोक समझते हैं कि यह प्राकृत बालक है। मध्यम कोटि के पुरुष ही अपने धर्म प्रकट कर दिखाते हैं न कि वे जो उच्च-कोटि वाले हैं।

१—जो प्रकट नहीं है।

पुनः जो भगवान् गुप्त होकर चुप रहे, तो भी सन्देह (यह ईश्वर है वा कौन है) होता है इस अवस्था में लोक, अन्य पुरुषों के वचनों से, माहात्म्य ज्ञान प्राप्त करें। किन्तु यहाँ भगवान् विपरीत धर्मों को प्रकट करते हैं तो उस (भगवान्) की प्रतीति कैसे होगी ? यह 'मर्त्यलिंग' शब्द में कहा गया है कि अत्यन्त प्राकृत धर्म के चिन्ह (स्वरूप गुण और क्रिया के) दिखाते हैं।

इस प्रकार होने पर भी जैसे अत्यन्त चतुर लोक, नट किसी भी भेष में हों, तो उसको पहचान लेते हैं; वैसे ही सब से विलक्षण, अनन्तगुणवान् और आनन्दमय होने से क्यों नहीं जाना जा सकता है ? इसके उत्तर में श्लोक में 'अधोक्षजं' विशेषण दिया है, भगवान् वा उनके गुण किसी की भी इन्द्रियों द्वारा देखने में नहीं आते हैं। आप अपने में अपने से विरुद्ध धर्म (मर्त्यधर्म) का प्रदर्शन करते हैं इससे ज्ञात होता है कि अपने स्वरूप गुणों के जताने की भगवान् की इच्छा नहीं है और यह यशोदा अत्यन्त प्राकृत रूपवाली हैं। इस कारण से अनभिज्ञ[1] है वह कैसे जान सकेगी ? कि भगवान् ऊखल के ऊपर चरणारविन्द धरकर क्रीड़ा कर रहे हैं और यह ऊखल अग्नि की नाभि है ? किन्तु यह ऊखल गोकुल में है अतः मेरा आश्रय स्थान है इस तत्व को बताने के लिये अपने को उलूखल के साथ बन्धवाया और यशोदा की बुद्धि भी दूसरी वस्तु में न जाय इसलिये भी बन्धवाया। रज्जु[2] पशुओं को बान्धती है। ऊखल, रज्जु और हस्त में स्थित देवता चुप क्यों रहे ? इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् ने उनकी बुद्धि प्राकृत जैसी बना दी थी अतः वे प्राकृत जैसे हो गए थे ॥ १४ ॥

आभास--अयं देहाकारेण भासमान एव भगवान् सच्चिदानन्दरूप इति गुणोपसंहारन्यायेन "न चान्तर्न बहिर्यस्ये" त्यादिधर्मा अस्यैवेति ज्ञापयितुं बन्धनेप्युपायं वदन् भगवान् सामिबद्धो जात इत्याह।

आभासार्थ—यह देह की आकृति वाले ही सच्चिदानन्दरूप भगवान् हैं यह 'गुणापसंहारन्याय' (थोड़े में ही गुण बता देना) से न अन्दर न बाहिर आदि स्वल्प गुणों से उनके धर्म बताने के लिये तथा उनके बान्धने का उपाय भी कहकर भगवान् आधे ही बान्धे गए हैं इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक--**तद् दाम बध्यमानस्य स्वार्भकस्य कृतागसः ।**
द्व्यङ्गुलोनमभुत् तेन सन्दधेन्यच्च गोपिका ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ--अपने अपराधी पुत्र को जब बान्धने लगी तब वह रज्जु दो अंगुल कम हो गई (यह देख) गोपिका (यशोदा) ने उसके साथ दूसरी रज्जु जोड़ दी।

१—अनजान। २—रस्सी।

सुबोधिनी—भगवता स्वस्मिन् दोषद्वयं प्रदर्शितं तत्पुत्रत्वमपराधश्च, तदा रज्जुरन्तर्बहिःस्थितं भगवन्त तिरोहितं मत्वा वेष्टनं कृतवती स्वयं बहिः स्थितान्तः स्थितस्य भगवतः, तदाह तद्दाम बध्यमानस्येति, अन्यथा बहिरपि रज्जुर्न भवेद् वेष्टकमपि न भवेत्, तथापि परितो वेष्टनरूपा न जाता, पूर्वापरयोर्भगवत एव सत्त्वात्, अतो द्वयङ्गुलं न्यूना जाता, लोकपरिमाणे प्रथमपरिमाणमङ्गुलिः, तत्र प्रथमातिक्रमे कारणाभावादल्पवैलक्षण्ये महतो योजनायामाश्चर्यमपि भवतीति द्वयंगुलोनमेवाभूत्, रज्वाद्यन्तयोर्यो भगवान् स एवायं क्रोडीकृतः, न तु ततः केनापि धर्मेण भिन्न इति ज्ञापयितुमेवमाह व्यापकत्वस्य दर्शनार्थमेव तिरोभावाद् रज्जुस्थूलतायामपि नोदरस्थौल्यं, प्रतिबिम्बादौ तथोपलब्धेः, अतो वैलक्षण्याज्ञानात् तेनान्यदपि दाम तावत्प्रमाणकं सन्दधे योजितवती, चकाराद् विसदृशमपि ततोपि स्थूलं, नन्वङ्गुलद्वये न्यूने किमित्येतावद् योजितवती ? तत्राह गोपिकेति, मौढ्यं तस्या अनुवर्तत इति ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थ—रज्जु भगवान् को कैसे बन्धन में लाई ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि भगवान् ने अपने में दो दोष दिखाए—

(१) एक तो उस (यशोदा) का पुत्र-पना, और

(२) उस (माता) का अपराध (मटुकी फोड़ तक्र बहाना, मक्खन बंदरों को बांटना) ।

जब भगवान् ने ये दो दोष प्रकट किए तब रज्जु को ज्ञान हुआ कि भगवान् के वे गुण (भगवत्व अन्दर बाहिर स्थीति) तिरोहित हो गए हैं (वा भगवान् ने छिपा दिए हैं) अब भगवान् को मैं बान्ध सकूंगी यों समझ कर उसके ही स्थित और अन्तःस्थित भगवान् की बान्धा । यदि रज्जु को इस प्रकार का ज्ञान न होता तो रज्जु भगवान् के बाहिर भी अपने को न समझती[1] और न बान्ध सकती थी। यों करते हुए भी पूर्णतया बान्ध न सकी क्योंकि रज्जु के पूर्व (आदि) और अपर में (अन्त में) भगवान् ही हैं । अतः रज्जु दो अंगुल कम हो गई । लोक के परिमाण (नाप) में प्रथम नाप १ अंगुली है। प्रथम नाप (१ अंगुली) के अतिक्रमण का कुछ कारण न होते हुए भी स्वल्पविलक्षणता को भी महापुरुषों की योजना आश्चर्य उत्पन्न करती है जैसे कि दो अंगुल कम

१—प्रभुचरण टिप्पणीजी में कहते हैं कि रज्जु ने यह समझा कि भगवान् ने अपने वे धर्म तिरोहित कर दिये हैं अतः अब यहाँ भगवान् नहीं हैं इसलिये मैं इनको बान्ध लूंगी । यह रज्जु का ज्ञान अपूर्व था इस प्रकार के ज्ञान होते हुए भी वह भगवान् को बान्ध नहीं सकती थी फिर भी भगवान् को बान्ध सकी इसका कारण बताते हुए प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि भगवान् जो लीला यहाँ कर रहे हैं, वे भक्ताधीन होकर करते हैं; अतः जिस प्रकार मर्यादा मार्ग में भक्त होकर भी यदि भगवान् का अपराध करता है तो उसको भगवान् के अधिकारी कालादि दण्ड देते हैं । उसी प्रकार पुष्टिमार्ग में यह नियम है कि भगवान् भक्त का अपराध करें तो उन (भगवान्) को भक्ताधीन होके; भक्तेच्छानुकूल लीला करनी पड़ती है । यहां भजन के विरोधि भावों को उत्पन्न करना ही अपराध है । ऐसा होने पर ही भगवान् ने पुत्रपना स्वीकार किया, तो साथ में उस (पुत्रपने) के धर्म भी आ गए, इससे माता का नियामकत्व भी आपने अंगीकार किया । रज्जु की स्वामिनी माता है अतः माता की वस्तु रज्जु को भी इस प्रकार के सामर्थ्य का सामर्थ्य प्रदान किया जिससे वह बान्ध सकी ।

वाली रज्जु में बड़ी रज्जु जोड़ने पर भी रज्जु फिर भी दो अंगुल कम हो गई रज्जु के आदि एवं अन्त में जो भगवान् है उस भगवान् को ही लपेट लिया किन्तु इससे भगवान् से उनके (सर्व-व्यापकत्व आदि) धर्म पृथक् न हुए थे। इस अपनी नित्य सर्वव्यापकता को दिखाने के लिये ही तिरोभाव (का नाटच) किया था। रज्जुस्थूल (बड़ी) हो रही थी किन्तु भगवान् का उदर वैसा का वैसा था। जैसे चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल आदि में बिम्ब जितना ही दीखता है भगवान् की विलक्षणता का ज्ञान न होने से दूसरी भी उसमें जोड़ती गई। 'च' अक्षर का भाव बताते हैं कि और बड़े-बड़े रज्जु भी उसमें जोडी। जब दो ही अंगुल न्यून होता तो दूसरे बड़ी-बड़ी क्यों जोड़ने लगी ? इस पर आचार्यश्री कहते हैं कि शुकदेवजी ने इसलिये ही 'गोपिका' शब्द देकर इसकी मूर्खता को प्रकट किया है ॥ १५ ॥

आभास--ततः किमभूदित्याशङ्क्यामाह यदासोदति ।

आभासार्थ—इसके पश्चात् क्या हुआ ? उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक--यदासीत् तदपि न्यूनं तेनान्यदपि सन्दधे ।
तदपि द्वयङ्गुलं न्यूनं यद्यदादत्त बन्धनम् ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ—अन्य रज्जुओं के जोड़ने से जो रज्जु बनी वह भी जब छोटी हो गई तब दूसरी तीसरी जोड़ी तब भी दो अंगुल छोटी हुई। तात्पर्य है कि जितनी उनसे भी वह रज्जु जोड़ी दो अंगुल ही छोटी रही ।

सुबोधिनी—उभयोः सम्बन्धे पुनः सैकैव रज्जुर्जाता, तदाह **यदासीदिति**, उभयोः सम्बन्धे यदेकमासीदित्यर्थः, **तदपि** पूर्वोक्तन्यायेनैव **न्यूनमासीद द्वयंगुलं तेनापि** विशिष्टेन पुनरन्यत् **सन्दधेतृतीयं, तदपि द्वयंगुलमेव** न्यूनं, "त्रिसत्या हि देवा" इति, भगवतो जगदाद्यन्तः स्थितिर्वारत्रयं प्रदर्शिता, मानुषभावं ततोपि बहुवारं कृतवतीत्यनुवदति **यद्यदादत्त बन्धनमिति, यद्यदेव** योजनार्थं गृहीतवती तत्तदेव द्वयङ्गुलोनमभूत् ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ—दो रस्सियों के जुड़ने पर वह रस्सी एक हो गई तब भी पूर्ववत् दो अंगुल ही कम हुई। उस बड़ी हुई रस्सी के छोटी होने पर यशोदा ने दूसरी रज्जु उसमें जोड़ी किन्तु वह भी उसी प्रकार दो अंगुल ही कम हो गई तो पुनः तीसरी बार और रज्जु जोड़ी तो वह तब भी उतनी ही न्यून हुई त्रिसत्याः'हिदेवाः' इस श्रुति के अनुसार 'देवता त्रिसत्य हैं'। तीन बार रज्जु सम्मिलित होते हुए भी दोही अंगुलि न्यून हुई। इसका भावार्थ यह है कि भगवान् जगत् के आदि में है (जगत् प्रकट नहीं हुआ था तब भी भगवान् थे) तथा जगत् के अन्त में भी हैं (जगत् लीन हो जाएगा तब भी भगवान् रहेंगे। अर्थात् भगवान् ने तीनों बार यह दिखा दिया कि सारा जगत् मेरे भीतर है तो जगत् अन्तःपाती रस्सी मुझे कैसे बांध सकेगी। इतना प्रभाव देखती हुई

भी यशोदा ने मानुष स्वभाव के कारण पुनरपि[1] जितनी रस्सियां मिल सकीं वे मिलाती गई किन्तु फिर भी वही दो अंगुल कम ही रही ॥ १६ ॥

श्लोक—**एवं स्वगेहदामानि यशोदा सन्दधत्यपि ।**
गोपीनां सुस्मयन्तीनां स्मयन्ती विस्मिताभवत् ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार यशोदा अपने घर की सब रस्सियों को स्वयं ला ला कर जोड़ने लगी, तो भी भगवान् को बाँध न सकी, पहले तो रोष था, जब दो बार जोड़ने से तीन रस्सियां पूरी न हुई, तब कुछ गर्वित हो, बहुत रस्सियां मिलाने लगी, तब भी कार्य पूरा न हुआ, तो अचम्भे में पड़ गई, इसको देखने के लिये आई हुई गोपियां यह देखकर बहुत गर्विष्ठ हो गई, क्योंकि उनके मन में यह विचार आया कि भगवान् हमारी भुजाओं से तो बन्धन में आते हैं किन्तु इतनी रस्सियों में नहीं, इसलिये हम भाग्यशाली हैं, अतः गर्विष्ठ हुई ।

सुबोधिनी—सर्वा एव गोप्योऽङ्गणमध्ये तथा करणाद् द्रष्टुमागताः अद्यापि तथा न निरुद्धा इति तदा स्मयन्त्यो जाता गर्विष्ठाः सन्मुखा वा स्वस्यापि भुजबन्धनादिकं भावयिष्यन्त्यः सुस्मयन्त्यो जाताः, गृहस्थसर्वदामव्ययकरणेपि न बन्धनं निवृत्तमित्याहैवमिति पूर्वोक्तन्यायेन सर्वाण्येव दामानि योजितवती, यतो यशोदा यशो ददाति द्यति वा, सन्दधत्यपि द्व्यङ्गुलन्यूनभावाद् विस्मिताभवदितिसम्बन्धः, यशोदागृह एव भगवता पुत्रत्वमपराधश्च दर्शित इति तद्गृहदामान्येवान्तर्बहिर्भगवत्तिरोभावात् सम्बद्धानि न तु गेहान्तरस्थितानि, अन्यासां तु तदर्थप्रवृत्तिरेव नास्ति, अन्तर्बहिस्तिरोधानाभावात्, रज्जूनामानयनं यशोदाकर्तृकमेव, न हि तादृश्या अन्यः सहायं कर्तुमर्हति, पूर्वं तु वारद्वयं त्रययोजनायां रोषे गते स्मयन्ती जाता, ततोपि बहुवारयोजनायां विस्मिता चाभवत्, आश्चर्यं प्राप्तवती, ततो रज्जूनामन्वेषणार्थं निर्बन्धेन यत्नं कृतवती ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थ—रज्जु के परस्पर जोड़ने का कार्य यशोदा आंगन में कर रही थी, सब गोपी जन भी दर्शनार्थ आ गई, उनका भी अबतक पूर्ण निरोध नहीं हुवा था । अतः वे यशोदा का यह कार्य देखकर हँसने लगी अथवा गर्ववती भी हुई और उनके मन में उस समय यह भाव उत्पन्न हुए कि यशोदा रस्सी से बांधना चाहती है इतनी रस्सियों को जोड़ने पर भी बन्धन में नहीं आए । हम तो इनको भुजाओं से बाँध लेंगीं, इसलिये विशेष गर्विष्ट हुई । यशोदा ने अपने गृह के सर्वदाम (रस्सी) जोड़ दिये तो भी दो अंगुल ही न्यून होने से, विस्मित हुई (यशोदा का गर्व टूट गया) । यशोदा अपने घर की ही सब रस्सियाँ लाई, किन्तु अन्य घरों से न ला सकी इसका कारण आचार्य श्री बताते हैं कि भगवान् यशोदा के घर की रस्सियों में से तिरोहित (छिप) हो गए थे अतः घर की रस्सियां यशोदा ला सकी अन्य घरों (गोपियों के) की रस्सियां नहीं ला सकी कारण की गोपियों के अन्तःकरण से भगवान् तिरोहित नहीं हुए थे इसलिये उन (गोपियों) की

१—फिर भी ।

यशोदा जैसी वृत्ति नहीं हुई, जो वे घर की रस्सियां लाकर अब भी देवें। यशोदा के इस कार्य से यशोदा के नाम की सार्थकता प्रकट होती है 'यश ददाति वा द्यति' दूसरे (भगवान्) को यश देती है और अपना यश गवांती है। भगवान् ने दोनों ही अपराध यशोदाजी के घर में किये थे, १—'पुत्रत्व स्वीकार, और २—तक्र बहाना'। जब यशोदा ने देखा दूसरी कोई सहायता नहीं करती है तब विस्मित (गर्व रहित) यशोदा आग्रह पूर्वक रज्जुओं के ढूंढने का प्रयास करने लगी ॥ १७ ॥

आभास—ततः सामर्थ्याभावे गोपिकानां समक्षं परमलज्जां प्राप्य भग्नमानस-सङ्कल्पा मृतप्रायासीत् तदा भगवान् परमकृपालुस्तादृशदुष्टेष्वपि सद्बुद्ध्या युक्तमपि कृतवानित्याह।

आभासार्थ—जब यशोदा ने भगवान् को बान्धने में अपने को सामर्थ्य-हीन समझा, तब गोपियों के सामने लज्जित होने लगी। मनके संकल्प[1] नष्ट होने से मृत प्राया[2] हो गई। तब परमदयाल भगवान् ने ऐसे दोषयुक्त भक्तों पर भी सद्बुद्धि से जो कार्य करना (भगवान् का बन्धन में आना) योग्य नहीं था, वह भी किया। जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः।**
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयासीत स्वबन्धने ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ—परिश्रम से आए हुए पसीने से भरपूर शरीर वाली और चोटी से जिसके पुष्प गिर रहे हैं ऐसी अपनी माता को देखकर कृपा से श्रीकृष्ण भगवान् बन्धन में आ गए।

सुबोधिनी—स्वमातुरिति, ततो भगवान् कृपया स्वबन्धन आसीदितिसम्बन्धः, तत्र कारणत्रयमाह स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रज इति, मातुर्हि परितोषः कर्तव्यः, "मातृदेवो भव" एभ्यो माता गरीयसी" तिवाक्यात्, नापि तस्या अपत्यान्तरमस्ति यो ह्युपस्थितं दुःखं निवारयेद् यत इयं स्वस्यैव मातातो मातृत्वं ख्यापयित्वा तस्या दुःखमसहमानेन तथा कृतं, किञ्च गोकुलवासिनां खेददूरीकरणार्थमागतो भगवान् स कथं स्विन्नगात्रायाः सर्वाङ्गे जातस्वेदाया न परिश्रमं दूरीकुर्यात् ? किञ्च गोकुलवासिनां खेद दूरी करणार्थ-मागतो भगवान् स कथं स्विन्न गात्रायाः सर्वाङ्गे जातस्वे-दाया न परिश्रमं दूरी कुर्यात् ? किञ्च गोकुलवासिनां सर्वसौभाग्यदानार्थमागतः स कथं विस्रस्ताः कबरात् केशपा-शात् स्रजो यस्यास्तादृशीं पश्येत् ? अनेन सर्वाभरणानामेव तिरोभावः सूचितः, एवमेतादृश्या, परिश्रमं दृष्ट्वा तस्ततः पर्यटनं खेदः प्रस्वेदो मुखशोषो महती च ग्लानिरित्यादिः परिशब्दार्थः, तत्रापि भगवान् कृष्णः सदानन्दोननुभूत-दुःखदुःखितानामसमक्षः परदुःखमपि न पश्यति तदपूर्वं

१—विचार। २ - मरी हुई जैसी

यशोदादुःखं दृष्ट्वा कृपयाऽऽ यातो मात्रर्थं स्विन्नगात्रार्थं त्रगभावार्थं च स्वस्यैव स्वयं बन्धकरूपगुणाङ्गुलत्रयभूतो जातः, द्वाभ्यां पूरितमङ्गुलमात्रं च बन्धनं जातं, तदा स्वस्यैव बन्धने जात आसीत प्रकरणाद् गृहीत इत्यवक्तव्यत्वान्नोक्तम् ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ—तदनन्तर भगवान् कृपा कर स्वयं अपने बन्धन में आ गए इस प्रकार वाक्यों का सम्बन्ध है। भगवान् का बन्धन में आना, इसके तीन कारण बताते हैं—

(१) अपनी माता है।

(२) पसीने से तर हो गई है।

(३) चोटी से फूल गिर गए हैं।

माता को प्रसन्न करना पुत्र का प्रथम कर्तव्य है क्योंकि शास्त्र में 'मातृदेवो भव' माता को अपना देव समझ, न केवल इतना ही समझ किन्तु माता देवताओं से भी बढ़कर समझ जैसा कि कहा है 'एभ्यो माता गरीयसी'। भगवान् ने ऐसी माता की दशा देखकर सोचा, कि माता के दूसरा बेटा भी नहीं है जो दुःख निवारण करे इसलिये इसका यह दुःख मुझे ही निवारण करना चाहिये कारण कि यह अपनी ही माता है। अतः मातापन प्रकट कर उसके दुःख को सहन नहीं कर सके, जिससे वैसा किया (बन्धवाया) और जो गोकुलवासियों के दुःख दूर करने के लिये प्रकटे हैं वे सर्वांग में पसीनेवाली अपनी माता का परिश्रम कैसे न दूर करे ? (दूर करना ही चाहिये अतः दूर किया और जो गोकुलवासियों को सौभाग्यदान करने के लिये प्रकटे हैं वे चोटी से पुष्प गिरने से जिसके सर्व प्रकार के आभूषणों का तिरोभाव हो गया है इस प्रकार यहाँ वहाँ आना जाना, हृदय की घबराहट, पसीने का होना, मुख सूक जाना आदि से टूटे हुए हृदय वाली माता को आप कैसे सौभाग्यदान न करें। उस पर भी यह भगवान् श्रीकृष्ण सदानन्द[1] हैं। दुःख का कभी भी अनुभव नहीं किया है और दुःखियों के सामने उपस्थित नहीं होते हैं। दूसरों का दुःख भी नहीं देख सकते हैं। इस समय यशोदा का ऐसा दुःख जैसा कि आपने पूर्व देखा ही नहीं वह देख के कृपा से पूर्ण हो गए। पसीने वाली, माला के अभाववाली, माता की प्रसन्नता के लिये आप स्वयं ही अपने को बान्धने के लिये तीन अंगुल की रस्सी रूप हो गए। जिससे वह रस्सी जो दो अंगुल कम थी वह बान्धने के योग्य हो गई और एक अंगुल बढ़ी जिससे गांठ बाँधी गई। तब आप इस प्रकार स्वयं ही अपने ही से बन्धन में आ गए। प्रकरण से आप बन्धन में आए। यह यों कहने योग्य न होने से नहीं कहा गया है ॥ १८ ॥

१—भगवान् कृष्ण में आनन्द, धर्मरूप से सदैव रहता है अतः आपको आनन्द का अभावरूप दुःख, कभी भी अनुभव में नहीं आता है। जैसे सूर्य जहाँ है वहाँ अन्धकार नहीं रहता है अतः सूर्य को कभी भी अन्धकार का अनुभव नहीं होता है तात्पर्य जहाँ श्रीकृष्ण बिराजते हैं वहाँ दुःख रह नहीं सकता है—'लेख'

आभास--ननु किमर्थं भगवानेतावत् कृत्वा बन्धनरूपो जात इति ।

आभासार्थ—भगवान् इतना कर फिर आप रस्सीरूप होके स्वयं बन्धन में क्यों आए ? इस शङ्का को निम्न श्लोक में निवारण करते हैं ।

श्लोक--एवं प्रदर्शिताह्यङ्ग हरिणा भक्तवश्यता ।
स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ--हे राजन् ! जिनके ईश्वर (लोकपाल और देवता आदि) सहित यह सर्व जगत् वश में है उन्होंने स्वतन्त्र होते हुए भी इस प्रकार अपनी भक्तवश्यता प्रकट की है ।

सुबोधिनी—चेत् तत्राहैवमिती, एवमपकारिण्यि लोके स्वकीयत्वमात्राभिमानेनाप्येतावतीमभूतपूर्वां कृपां करोतीति स्वस्य भक्तवश्यता प्रदर्शिता, प्रदर्शनस्यापि प्रयोजनमाह हरिणेति, स हि सर्वदुःखहर्ता तत्त्वसिद्धयर्थमसम्बन्धेन दुःखहर्तृत्वेतिप्रसङ्गात् संसारविलयः स्यादिति सम्बन्धार्थं कृपालुतां प्रदर्शयति, कृपा च सर्वधर्मधर्मिभ्यो बलिष्ठेति वक्तुं भक्तवश्यताशब्देनोक्ता, ननु भक्त्या चेद् धर्मधर्मिणामुपमर्दः क्रियते तदा स्वरूपस्य प्रच्युतत्वात् फलाभावात् प्रदर्शनमपि व्यर्थं स्यादित्याशङ्क्याह स्ववशेनापीति, स हि स्ववश एव न केनाप्युपमर्द्यः, अनेन फलसाधकत्वमुक्तं, फलरूपत्वमाह कृष्णेनेति, नन्वेवं कृतेन्यो महान् ब्रह्मादिर्न मंस्यते ततो माहात्म्यस्य न्यूनभावान्न तथा फलत्वमित्याशङ्क्याह यस्येदं सेश्वरं वश इति, तत्तदधिष्ठातृदेवतासहितं सर्वं जगद् यस्य वशे, अतो नान्यथाभावनं केनचिदपि कर्तुं शक्यमितिभावः ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थ—जो मनुष्य, भगवान् मेरा है वा मैं भगवान् का हूँ केवल इस प्रकार भगवान् के साथ स्वकीय भाव सम्बन्धवाला है वह भगवान् का अपकार भी कर देता है तो भी प्रभु उस स्वकीय भक्त के ऊपर कृपा ही करते हैं अतः यहाँ ऐसी अभूतपूर्व (आगे किसी पर भी न की हुई) कृपा कर अपनी भक्तवश्यता दिखाई है । भक्तवश्यता दिखाने का प्रयोजन बताने के लिये श्लोक में भगवान् का नाम 'हरि' है । वे सर्व दुःखहर्त्ता हैं किन्तु सम्बन्ध बिना यदि सर्व के दुःखों का हरण करें तो अतिप्रसंग हो जाय (यह नियम सर्व के साथ जोड़ा जाय) जिससे संसार लोप हो जाए अतः आप सम्बन्ध वालों पर (सम्बन्ध प्रदर्शन करते हुए) ही कृपा करते हैं । कृपा सर्व धर्म और धर्मियों से बलवाली है यह प्रमाणित करने के लिए श्लोकों से 'भक्तवश्यता' यह दिया है ।

शङ्का—यदि भक्ति से धर्म और धर्मी का उपमर्दन[1] होता है तो भगवान् के स्वरूप की हानि होने से फल भी प्राप्त नहीं होगा और कृपा दिखाई वह भी व्यर्थ होगी ?

१—दबा देना ।

समाधान—श्लोक में इस शंका के मिटाने के लिए ही 'स्ववशेन' यह कृष्ण का विशेषण दिया है जिसका तात्पर्य है कि वह किसी अन्य के वश नहीं है। अतः इनको कोई दबा नहीं सकता अर्थात् इनको स्वरूप से च्युत (गिरा) नहीं सकता है। इससे यह बताया कि फल देने वाले आप ही हैं। 'कृष्णेन' पद देकर बताया है कि फल रूप आप ही हैं।

शङ्का—यों करने को अन्य ब्रह्मादि नहीं मानेंगे तो उनका (श्रीकृष्ण का) माहात्म्य कम हो जाएगा तो फल रूपता भी न होगी।

समाधान—इस शङ्का के निवारण को मिटाने के लिए श्लोक में 'यस्येदंसेश्वरवंशे' पद दिया है। जिसका भावार्थ है पृथक-पृथक पदार्थों के जितने भी देवतागण हैं उन समेत सारा जगत् कृष्ण के वश में है अतः किसी में भी इतनी सामर्थ्य नहीं है जो अपने ईश्वर की सामर्थ्य को अन्यथा (कमती) कर सके। (सारांश यह है कि कृष्ण देवताओं सहित समग्र जगत् के ईश्वर स्वतन्त्र स्वामी हैं) इसलिए जो भी आपको अपना करता है उसके दोषों पर ध्यान न देकर उस पर कृपा ही करते हैं॥ १९॥

आभास—नन्वेतादृशो भावः पूर्वमपि सिद्धस्ततः शास्त्रप्रसिद्धत्वात् किं प्रदर्शनेनेत्याषङ्क्याह नेमं विरञ्च्य इति।

आभासार्थ—इस प्रकार का भाव पहले भी सिद्ध हुआ है जो शास्त्रों में प्रसिद्ध ही है फिर उसके प्रदर्शन[1] करने की क्या आवश्यता थी इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक से करते हैं।

श्लोक—**नेमं विरञ्चयो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।**
प्रसादं लेभिरे गोपी यत् तत् प्राप विमुक्तिदात्॥ २०॥

श्लोकार्थ—मोक्षदाता (भगवान्) से जिस प्रकार का प्रसाद (कृपा) गोपी (यशोदा) ने प्राप्त किया वैसा भगवान् के अंग को आश्रय कर रही लक्ष्मीजी ने, ब्रह्मा और शंकर ने भी नहीं प्राप्त किया।

सुबोधिनी—इमं प्रसादं न कश्चित् पूर्वं प्राप्तवान् भक्ता एव हि महान्तः प्राप्नुवन्ति, तत्र भक्तेषु भक्त्या स्वरूपतश्च महान्तस्त्रयः पुत्रो ब्रह्मा भक्तः प्रवृत्तिमार्गसर्वधर्मप्रवर्तकः सर्वेषां हेतुभूतस्तथा महादेवोपि पौत्रः सर्वनिवृत्तिधर्मप्रवर्तकः प्रलयकर्ता गुणावतारश्च भगवदर्थमेव सर्वपरित्यागेन तपस्तपति ततोपि लक्ष्मीर्भार्या

१—दिखाने

ब्रह्मानन्दभूतोरस्यपि लब्धपदा जगज्जननी निरन्तरं पादसेवनपरा, एवमेते त्रयोपि यदीमं प्रसादं न प्राप्तवन्तस्तदा कोन्यः प्राप्तुमर्हति ? तदाहेमं प्रसादं न वा विरञ्चयो न वा भवो न वा श्रीः, प्रत्येकसमुदायाभ्यां प्रसादं न लेभिरे, न च तेषां दोषोस्तीति शङ्कनीयं, यतस्त्रयोप्यङ्गमेव सम्यगाश्रयन्ति, एका वक्षोन्यो नाभिमन्यः पादाविति, तेषां त्रयाणामपि गुणावतारानां यद दुर्लभं तदन्येषां दुर्लभमेव, स कः प्रसाद इत्याशङ्क्य तमनुवदति गोपी यत् तत् प्रापेति, जात्या स्वरूपतो हीना, प्रसादस्तत्रैव प्रसिद्धो न तु केनचिन्निरूपितः, न हि सर्वमोचकः कश्चिदात्मानं बध्नाति, खेदस्तु ज्ञानमपि दत्वा विदेहकैवल्यं वा दत्वा मोचयितुं शक्यते किं स्वयं बन्धनेन ? अतः प्रसिद्धः प्रसादोयमेव नान्य इत्यर्थः ॥ २० ॥

व्याख्यार्थ—इस प्रसाद को आगे किसी ने भी प्राप्त नहीं किया है इसको तो भक्त ही पा सकते हैं। क्योंकि वे सब से महान् हैं। भक्तों में भक्ति और स्वरूप से महान्-भक्त तीन ही हैं।

(१) ब्रह्मा—भक्त है जो भगवान् का पुत्र भी है। और प्रवृत्ति मार्ग के सर्व धर्मों के प्रवर्त्तक हैं तथा सब का कारण रूप (सबकी रचना करने वाला) है।

(२) महादेव—पौत्र है सर्व निवृत्ति धर्म के प्रवर्तक, प्रलयकर्त्ता, गुणावतार और भगवदर्थ सर्व का त्याग कर तपस्या कर रहे हैं।

(३) उससे भी विशेष लक्ष्मीजी हैं जो भार्या है एवं ब्रह्मानन्द रूप है और जिसने भगवान् के उरस्थल पर बिराजने का सौभाग्य प्राप्त किया हैं तथा जगत् जननी है एवं नित्य भगवच्चरणारविन्द की सेवा में परायण है।

वैसे इन तीनों ने भी जब इस प्रकार की कृपा प्राप्त नहीं की है तो दूसरा कौन है जो प्राप्त कर सकेगा ? (कोई नहीं है जो प्राप्त कर सके)

इन तीनों ने पृथक् पृथक् वा मिलकर भी इस प्रसाद को नहीं पाया। यह भी शङ्का नहीं करनी कि इनमें कोई दोष होगा ? ये तो निर्दोष होने से तीनों ही भगवान् के श्रीअंग का सदैव आश्रय करते हैं।

एक (लक्ष्मीजी) वक्षस्थल का, दूसरा ब्रह्मा नाभि-कमल का, तीसरा महादेव चरणों का आश्रय करते हैं इन तीनों* गुणावतारों को जो दुर्लभ है वह दूसरों के लिये तो निश्चयपूर्वक दुर्लभ ही होगा। वह कौनसी कृपा है ? जो कृपा ऐसे इन तीनों पर भी नहीं हुई है उसका वर्णन 'गोपीयत् तत् प्रापेति' पद से किया है। जो गोपी जाति से और स्वरूप से भी हीन है उसको ही वह प्रसाद प्राप्त हुआ यह प्रसिद्ध है। किसी ने इसका निरूपण भी नहीं किया है यह निश्चय है कि जो कोई सबको छुड़ाता है वह अपने को बन्धन में नहीं डालता है। माता का दुःख ज्ञान देकर अथवा मोक्ष देकर भी मिटाया जा सकता है तो फिर अपने को बन्धन में डालने की क्या आवश्यकता थी इससे

---

* प्रकाशकार कहते हैं कि लक्ष्मी का गुणावतार 'माया' है जिसको भा० १०-२६-३९ में भगवान् की सात्त्विकी शक्ति कहा गया है लक्ष्मी ने भगवान् की आज्ञा से 'माया' का रूप धारण किया।

समझा जा सकता हैं कि यह ही 'प्रसाद' (कृपा कर आप ही का बन्धन में आना) प्रसिद्ध है दूसरा कोई भी वैसा प्रसाद[1] नहीं हैं ॥ २० ॥

आभास--ननु ते महान्तो मूढा चेयमिति मूढानुरोधेन कृतोर्थः कथं प्रसादः स्यात् ? तत्राह नायं सुखाप इति ।

आभासार्थ--वे (ब्रह्मा, शंकर और लक्ष्मीजी) महान् हैं और यह (यशोदा) मूढ़ के अनुरोध[2] से किए हुए कार्य को कृपा कैसे कही जाय। इस शंका निवारणार्थ[3] निम्न श्लोक कहा है ।

श्लोक--**नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः ।**
ज्ञानिनां चात्मपोतानां यथा भक्तिमतामिह ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ--यह यशोदा नन्दन भगवान् यहाँ जिस प्रकार से सरलतापूर्वक भक्ति करने वालों को प्राप्त होते हैं उस प्रकार देहधारियों को तथा आत्मा को नौका बना कर पार जाने वाले ज्ञानियों को सरलता से नहीं मिलते हैं।

सुबोधिनी--न ह्यत्र बन्धनं निरूप्यते किन्तु वश्यता, सा न कस्यापि सिध्यति, यावन्तः कर्मिणो देहाभिमानिनो येपि ज्ञानिनो निरभिमाना मुक्ता उभयेषामप्ययं भगवान् न सुखापः सुखेन प्राप्तुं शक्यः, तत्र-हेतुर्देहिनामिति, एकत्र देहाभिमानो दोषोन्यत्र नैरपेक्ष्यं, तदाह ज्ञानिनां चात्मपोतानामिति, आत्मा स्वरूपं पोतः संसारसमुद्रतरणोपायो येषां, न हि समुद्रतरणमात्रेण पारस्थितो महाराजः प्राप्यते, भक्तिमतां त्विहैव सुलभः, तत्र हेतुर्गोपिकासुत इति, यतो गोपिकायाः सुतो जातः, अतः सर्वे भक्ता भवन्त्वित्येवं भगवता कृतमितिभावः, इहेत्यस्मिन्नवतारे भक्तिमतामिति भक्तेविशेषणत्वमुक्तं न तु भक्तानाम् ॥ २१ ॥

व्याख्यार्थ--यहाँ भगवान् ने अपने को आप ही बन्धन में डाला इस प्रकार का जो वर्णन है उसका तात्पर्य यह है कि भगवान् को अपनी वश्यता (मैं भक्ति करने वाले के, वश हो जाता हूँ) दिखलानी थी। वह वश्यता[4] भक्ति करने वालों के अतिरिक्त किसी को भी सिद्ध नहीं होती है। भक्ति करने वालों के अतिरिक्त अन्य हैं, (१) कर्म करने वाले और (२) ज्ञानी। वे दोनों दोष युक्त हैं कर्मिष्टों[5] में देहाभिमान का दोष रहता है इस दोष से उन पर इन जैसी भगवत् कृपा नहीं होती है। और ज्ञानी निराभिमान होने से निरपेक्ष[6] दोष वाले होते हैं। वे समझते हैं कि हम आप ही आत्मरूप नौका से पार पहुँचेंगे। हमको भगवद्भक्ति या आश्रय की आवश्यकता नहीं है। जैसे मनुष्य नाव से समुद्र के पार तो पहुँच जाते हैं किन्तु वहाँ उनको

१—कृपा। २—अभिलाषा पूर्ण करने की इच्छा। ३— सन्देह दूर करने के लिए।
४—आधीन होना। ५—यज्ञादि कर्म करने वाले। ६—किसी की भी आशा या भरोसा

महाराजा के दर्शन प्राप्त नहीं होते हैं वैसे ही ज्ञानी भी केवल संसार के पार जा सकते हैं किन्तु उस रसेश के दर्शनादि का आनन्द नहीं पाते हैं। भक्तिवालों को तो वह रसेश यहां भी सुलभता से प्राप्त हो जाता है। यहां ही उनको क्यों सुलभतापूर्वक प्राप्त होता है इसकी पुष्टि[1] श्लोक में 'गोपिकासुतः' कह कर की है। भगवान् भक्ति के कारण ही, यशोदा के पुत्र बन उसके वश हुए हैं। इससे यह शिक्षा दी है कि आप सब भक्ति करो और सच्चे भक्त बनो। इस अवतार में जैसे मैंने भक्ति से वश्यता दिखलाई है। श्लोक में 'भक्ति मताम्' पद कहकर यह बताया है कि भगवान् भक्ति करने वालों के वश में होते हैं न कि भक्तों के वश में होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्रेम बिना केवल क्रिया मात्र, सेवा करने वाले भक्त को नहीं मिलता हूँ ॥ २१ ॥

आभास--एवं स्वमनोरथे सिद्धे गोपिका बहिर्मुख्यो यथायथं गताः, भगवांस्तु तथा न गतः किन्तु तस्यामेवावस्थायां महत् कार्यं कृतवानित्याह कृष्ण स्त्विति।

आभासार्थ—इस प्रकार अपने मनोरथ पूर्ण होते ही बहिर्मुख गोपिकाएँ अपने-अपने घर गई भगवान् गये नहीं किन्तु उसी अवस्था में (ऊखल से बन्धी हुई अवस्था में) जो बड़ा कार्य किया उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक---**कृष्णस्तु गृहकृत्येषु व्यग्रायां मातरि प्रभु।**
अद्राक्षीदर्जुनौ पूर्वं गुह्यकौ धनदात्मजौ ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ--माता घर के काम में लग गई कृष्ण ने तो दो अर्जुन वृक्षों को देखा। वे (वृक्ष) पहले गुह्यक (देवयोनि) में कुबरे के पुत्र थे।

सुबोधिनी—तुशब्दः पूर्वसम्बन्धं व्यावर्तयति नायं बन्धनव्यग्रः कृष्णः, सा चेद् भगवन्तं वशीकृत्य तथैव तिष्ठेन् न किञ्चित् कुर्याद् भगवान्, निरोधस्य सिद्धत्वात्, सा पुनर्गृहकृत्ये व्यग्रा जाता, तथा जातायां यमलार्जुनवृक्षावद्राक्षीत् तत्पातनेन च तस्याः प्रपञ्चविस्मरणं करिष्यामीति, ननु कोयमत्याग्रहः ? तत्राह मातरीति, तस्यामप्यवस्थायां पातने सामर्थ्यमस्तीति ज्ञापयति प्रभुरिति अर्जुनौ जातिविशेषवृक्षौ 'सखि' शब्दवाच्यौ, ननु गोपिकार्थं कथं तयोः पातनमपराधाभावादित्याशङ्क्याह पूर्वं गुह्यकाविति, देवयोनिभूतौ वृक्षौ जातौ, अतस्तयोर्वृक्षत्वमनभिप्रेतं तथापि प्रयोजनाभावात् सम्बन्धाभावात् किमिति मोचनीयावित्याशङ्क्याह धनदात्मजाविति, धनदः कुबेरो भक्तस्तस्य पुत्रौ ॥ २२ ॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में आए हुए 'तु' शब्द से पूर्व कथा की पृथकता दिखलाते हैं। यह कृष्ण बन्धन में व्यग्र[2] नहीं है क्योंकि आप सदानन्द रूप हैं। बन्धन तो नाम मात्र बन्धन है

१—समर्थन। २—व्याकुल।

आप स्वेच्छा से अपनी लीला कर सकते हैं। वह (यशोदा) यदि भगवान् मेरे वशीभूत हो गए हैं यों समझकर वहाँ ही ठहर जाती तो भगवान् दूसरा कार्य न करते, कारण कि समझ जाते, कि इसे निरोध सिद्ध हो गया है किन्तु देख लिया कि यह फिर गृह कार्य में लग गई है इससे उसका पूर्ण निरोध नहीं हुआ है। अतः इसकी (यशोदा की) प्रपञ्च में, जो अब तक आसक्ति है वह छुड़ानी चाहिये। इसलिए सामने स्थित, यमलार्जुन वृक्ष को देखा, देखते ही विचार आया कि इनको गिरा दूं। इनके गिरने के शब्द से इसका प्रपञ्च विस्मरण करूँगा। इस प्रकार से निरोध करने की अति आग्रह की क्या आवश्यकता है? इस आवश्यकता को बताने के लिए श्लोक में माता कहा है यशोदाजी भगवान की माता थी माता होने के नाते से भगवान् को अत्याग्रह करना पड़ा। इस अवस्था 'बाल्यकाल' में अथवा ऊखल में बन्धन की अवस्था में पेड़ों को कैसे गिरा सकेंगे? इस शङ्का को मिटाने के लिए श्लोक में 'प्रभु' विशेषण दिया है जिसका अर्थ है सदैव सामर्थ्यवान् हैं। अर्थात् बन्धे हुए हो, चाहे बालक हो, तो भी, पेड़ों को गिराने में समर्थ हैं। अर्जुन नाम वाले एक प्रकार के वृक्ष होते हैं जिनको 'सखा'[1] भी कहते हैं। इन वृक्षों ने कोई अपराध नहीं किया है। तब गोपी के (यशोदा के) लिये इनको बिना अपराध क्यो गिराया जाता है? इस शंका को मिटाने के लिये कहते हैं कि ये वृक्ष नहीं है किन्तु पहले जन्म में ये देवयोनि में थे। अब वृक्ष हुए हैं यह वृक्षपने में प्रसन्न नहीं है। बिना प्रयोजन और बिना सम्बन्ध के क्यों वृक्षयोनि से छुड़ाए? इस शंका के उत्तर में कहा है कि 'धनदात्मजौ' भक्त कुबेर के ये पुत्र हैं॥ २२॥

आभास—ननु तौ महान्तौ कथमेवं जातौ? तत्राह पुरेति।

आभासार्थ—ये भक्त कुबेर के पुत्र इतने महान् होकर पेड़ कैसे बने? इस शंका को मिटाने के लिये निम्न श्लोक कहा है।

श्लोक—पुरा नारदशापेन वृक्षतां प्रापितौ मदात्।
नलकूबरमणिग्रीवाविति ख्यातौ श्रियान्वितौ॥ २३॥

श्लोकार्थ—ऐश्वर्यवान् नलकूबर और मणिग्रीव नाम से प्रख्यात इन्होंने मद के कारण नारदजी के शाप से वृक्षयोनि प्राप्त की है।

सुबोधिनी—पुरेति, पूर्वं नारदशापेन वृक्षत्वं प्राप्तौ, ननु नारदः किमिति शापं दत्तवान्? तत्राह मदादिति, श्रीमदेन मतौ, अतो मदाद्धेतोर्नारदशापः शापेन च वृक्षत्वमिति, ननु तथाभावयोग्यावेव तौ किमिति मुच्येते इत्याशङ्क्याह नलकूबरमणिग्रीवाविति ख्याताविति, नलः कूबरो यस्य नलोतिसुन्दरः सोपि कुञ्जतुल्यो मणियुक्ता ग्रीवा यस्यैवन्नाम्ना ख्यातौ, तेषां नामख्यातिश्च न शान्तेति तदुद्धारो युक्तः, किञ्च श्रिया चान्वितौ, अद्यापि तौ परित्यज्य श्रीर्न गता, अतः कीर्तिश्रियोर्विद्यमानत्वादुद्धारमर्हतः॥ २३॥

१—अर्जुन भगवान् के सखा का नाम है अतः इन अर्जुन नाम वाले वृक्षों को सखा नाम से पुकारते हैं।

व्याख्यार्थ—पूर्वकाल में नारदजी के शाप से ये वृक्ष हुए थे किन्तु नारदजी ने इनको शाप क्यों दिया ? इस शंका के मिटाने के लिये श्लोक में 'मदात्' शब्द से यह बताया है कि ये श्री के मद से मस्त हो गए थे। इस कारण से नारदजी ने इनको शाप दिया जिससे ये वृक्ष हुए हैं। इस प्रकार (वृक्ष) होने के योग्य थे तो इनको इस योनि से क्यों मुक्त किया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि नल सुन्दर होते हुए भी वह आगे से कुबड़े जैसा था, इसलिये एक का नाम नलकूबर और दूसरा मणियुक्त ग्रीवा वाला था। इनके नामकी प्रशंसा अब तक प्रसिद्ध हो रही है इसलिये इनको वृक्ष योनि से मुक्त करना योग्य है और ये 'श्री' से भी युक्त हैं अब तक भी श्री ने इनको छोड़ा नहीं है। अतः कीर्ति और श्री वालों का उद्धार करना योग्य हो है॥ २३॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, दशम-स्कन्ध, पूर्वार्ध के नवम अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणकृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के 'तामस-प्रकरण, प्रमाण' अवान्तर प्रकरण, का 'ज्ञान निरूपक' पञ्चम अध्याय (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण।

इस 'ज्ञान निरूपक' अध्याय में श्रीबालकृष्ण प्रभु की वर्णित लीलाओं के पद

अथ दामोदरलीला

राग धनाश्री

यशुमति रिस करि रज्जु आकरषे।
सुतहि क्रोध देखि माता को मन ही मन हरि हरषे॥ १॥
उफनत छीर जननि करि दुचिती, यह बुधि भुजा छुड़ायो।
भाजन फोरि दह्यो सब डार्यो, माखन मुख लपटायो॥ २॥
ले आई जेवरी अब बांधों, मरम जानि न बंधाये।
अंगुर द्वै घटि होत सबनि सों, पुनि पुनि और मंगाये॥ ३॥
नारद श्राप भये यमलार्जुन, इन को अब जो उधारों।
सूरदास प्रभु कहत भक्त हित, जनम जनम तनु धारों॥ ४॥

राग बिलावल

गोविन्द बार बार मुख जोवे।
कमल नयन हरि हिलकन रोवत, बंधन छोड़ि यह सोवे॥ १॥
जो तेरो सुत खरोई अचगरो, अपनी कूखि को जायो।
कहा भयो जो घर को लरिका, चोरी माखन खायो॥ २॥
नई मटुकिया दह्यो जमायो, देव न पूजन पायो।
तिहिं घर देव पितर काहे को, जिहिं घर कान्हर आयो॥ ३॥
जाको नाम कुठार धारहे, यम की फाँसी काटे।
सो हरि बांधे प्रेम जेवरी, जमनी सांट ले डांटे॥ ४॥
परमानन्द दास को ठाकुर करत भक्त मन भाये।
देखि दुःखी ये सुत कुबरे के, लाल जू आप बंधाये॥ ५॥

राग बिलावल

जसोदा तेरो कठिन हियो री माई।
तनिक दधि के कारने, तूँ बांधि ऊखल आई ॥ १ ॥
जे मूरति जल थल में, व्यापक सुपने न देत दिखाई।
ते मूरति ते अपने अंगना चुटकी दे दे नचाई ॥ २ ॥
जे मूरति देवन मुनि दुर्लभ निगम नेति करि गाई।
ताहीते तू गर्व भुलानी घर बैठे निधि पाई ॥ ३ ॥
बार बार सजल दल लोचन चित ये कुंवर कन्हाई।
कहा कहूं जो छुडावत ही हों तें मोहि सोंह दिवाई ॥ ४ ॥
सुरपालक असुरन उर सालक त्रिभुवन देत भुलाई।
सूरदास प्रभु सब विधि लायक हितसों कछु न वस्याई ॥ ५ ॥

कब के बांधे ऊखल श्याम।
कमल नयन बाहिर ही राखे तू बैठी सुख धाम ॥ १ ॥
हे निर्दय दया तोहि नांहीं लागि रही ग्रह काम।
देखि क्षुधाते मुख कुमलानों अति कोमल तन श्याम ॥ २ ॥
छांडो वेगि बड़ी विरियाँ भई बीति गये युग याम।
तेरे भयसों निकट न आवे बोलि सके नहीं राम ॥ ३ ॥
जन कारन भुज आप बंधाये बचन किये हँसि ताम।
ताही दिन ते प्रगट सूर प्रभु दामोदरसो नाम ॥ ४ ॥

जब बालकृष्ण ऊखल में बंधे हुए थे तब एक व्रजभक्त ने हँस कर कहा कि इतनी पतली डोरी से बँधे हुए हो उसे तोड़ क्यों नहीं देते हो ? उस को आप इस प्रकार उत्तर देते हैं.—

रसिया

झीनी २ नेह की डोरी, सखी ! मोपे तोड़ी छोड़ी न जाए
परवत होय तो फूंक उडाऊँ, साँकर होय तो तोड़ दिखाऊँ,
वज्र होय तो पीस बताऊँ, धनुष होय तो छिन में तोड़ूँ
प्रीति तोड़ी न जाए ॥ १ ॥ झीनी २ नेह की डोरी—
बीस भुजा दस सीस उखाडूँ, सहस्र बाहू को पकड़ पछाडूँ
चरण चीर हिरनाकुस मारूँ, तीन पैर में पृथ्वी नापूँ
प्रीति नापी न जाए ॥ २ ॥ झीनी २ नेह की डोरी—
गिरि गोवर्धन धार दिखाऊँ, दावानल अग्नि पी जाऊँ
काली दह में नाग नचाऊँ, सागर की हों पाज बँधाऊँ
प्रीति बांधी न जाए ॥ ३ ॥ झीनी २ नेह की डोरी—
सब देवन को देव कहाऊँ, कछुआ बन कर बीन बजाऊँ.
गोपी बन कर रास रचाऊँ, मछली बन कर चीर चोर कर
चढूँ कदम की डार ॥ ४ ॥ झीनी २ नेह की डोरी—
नन्द यशुमति को लाल कहाऊँ चोर चोर दधि माखन खाऊँ,
निज माया ते जगत बन्धाऊँ, पर भक्तन के हों बस हो जाऊँ
परमानन्द बलि जाए ॥ ५ ॥ झीनी २ नेह की डोरी—

॥ श्री कृष्णायनमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभायनमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्योनमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य – विरचित – सुबोधिनी-टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

तामस-प्रकरण

प्रमाण अवान्तर प्रकरण

षष्ठो अध्याय

स्कन्धानुसार : दशम-अध्याय

कारिका—**एवं तु नवमाध्याये भक्तिरुक्तातिदुर्लभा ।**
कृष्णसेवकसख्यस्य हेतुर्दशम उच्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ—इस प्रकार नवम अध्याय में अति दुर्लभ भक्ति का वर्णन किया । दशम अध्याय में श्रीकृष्ण के भक्त की मैत्री का कारण कहते हैं ।

व्याख्या—प्रथम कारिका में नवम और दशम अध्याय की संगति बताने के लिये कहा है कि नवम अध्याय में राजा के १०-७-२ में किए हुए, जिस श्रवण करने से, भगवान् में भक्ति हो, उस प्रश्न का उत्तर दिया है और दशम अध्याय में कृष्ण के सेवक की मैत्री का हेतु (वैराग्य) बताकर दोनों की संगति दिखाई है । यमलार्जुन (नलकूबर और मणि ग्रीव) को भगवान् के दर्शन हुए जिससे उनका मोक्ष भी हुआ, यह भगवद्भक्त नारदजी के अनुग्रह रूप शाप से हुआ । अतः इस चरित्र के श्रवण से भगवद्भक्तों से कैसी भी मैत्री हो तो वह हितकर होती है । श्रीकृष्ण

के भक्तों का दर्शन ही मुक्ति देनेवाला है, उसमें उन (भगवद्भक्तों) की कृपा रूपी वाक्यों से तो भगवान् की भी कृपा होती है जिससे सब बन्धन छूट जाते हैं इस प्रकार का ज्ञान होते ही जीव उनसे मैत्री करने का यत्न करेगा ॥ १ ॥

कारिका—**वैराग्यं भगवद्धर्मः षड्गुणोत्र निरूप्यते ।**
गुणानां भगवत्त्वाय स एव हि यतोभवत् ॥ २ ॥

कारिकार्थ—इस दशम अध्याय में षड्गुणवाले 'वैराग्य' धर्म का निरूपण करते हैं गुण भी भगवान् ही है क्योंकि निश्चय से भगवान् ने ही गुणों के रूप धारण किए हैं ।

व्याख्या—नवम अध्याय में अविद्या को नाश करने वाले और भगवान् को वश में करने वाले ज्ञानरूपी भगवान् के धर्म का निरूपण किया है—इस दशम अध्याय में बताते हैं कि भगवान् के सर्वगुण भगवद्रूप हैं अर्थात् जो कुछ भगवान् करते हैं वे सब उनके गुण भी कर सकते हैं क्योंकि उनने ही गुणों का रूप धारण किया है इसलिये षड्गुण वाले 'वैराग्य' धर्म का वर्णन इस अध्याय में किया गया है इससे इस कारिका से स्कन्ध के अर्थ (निरोध) से भी संगति बताई है और यह भी बताया है कि जैसे सर्प गोलाकार आदि कोई भी रूप धारण करता है तो भी प्रत्येक आकार (रूप) में वह एक ही सर्प होता हैं वैसे ही गुण भी भगवान् का ही रूप है ॥ २ ॥

कारिका—**वैराग्यमनिवर्त्यं तु भगवद्वाक्यतो भवेत् ।**
विशेषस्तु यद्वाक्यं न निवर्तेत केनचित् ॥ ३ ॥

कारिकार्थ—अविनाशी वैराग्य तो भगवान् के वचनों से होता है जो वचन (वैराग्य) कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता है ऐसी इसमें विशेषता है ।

व्याख्या—वैराग्य दो प्रकार के होते हैं–एक नाशवान् और दूसरा अविनाशी । भगवान् के भगवद्भक्तों के वचनों से जो वैराग्य होता है वह अविनाशी होता है जो सदैव बना रहता है और दूसरे प्रकार का वैराग्य, जो गृहस्थ कुटुम्बियों द्वारा अथवा धन-नाश आदि द्वारा दुःख से जो वैराग्य उत्पन्न होता है वह सुख मिलने पर मिट जाता है तथा (वैसे) नित्य और अनित्य वस्तु के विवेक से जो वैराग्य उत्पन्न होता है वह भी स्थिर नहीं रहता है। नलकूबर और मणिग्रीव को नारदजी के शाप से अविनाशी वैराग्य हुआ था । भगवान् एवं भगवद्भक्त के वाक्य अन्यथा नहीं होते हैं अतः नारदजी का दिया हुआ शाप रूप वाक्य, वैराग्यजनक था जिससे वह वैराग्य अविनाशी हुआ । भक्त के शब्द भगवान् के ही शब्द होते हैं ॥ ३ ॥

कारिका--**तादृशं शापरूपं स्याद् भक्तानामेव तादृशम् ।**
अतो वैराग्यकथने शापो मोक्षावधिर्मतः ॥ ४ ॥

कारिकार्थ--इस प्रकार का वैराग्य भक्तों के शाप से ही होता है। अतः यह शाप तो मोक्ष की अवधिवाला होता है और वैराग्य सदैव अविनाशी होता है।

व्याख्या—भगवद्भक्त का शाप भी हितकारी होने से शापित का हित साधक ही होता है और वह शाप सदैव नहीं रहता है शापित का हित करके मिट जाता है जैसे नलकूबर और मणिग्रीव का मोक्ष कराकर शाप मिट गया ॥ ४ ॥

कारिका--**शापोद्यमस्तथा हेतुः शापश्चापि प्रसादभाक् ।**
वाक्यस्यापि फलं शीघ्रं स्तुतिश्चानुग्रहस्तथा ॥ ५ ॥
षड्भिर्द्वादशभिश्चैव त्रिभिः षड्भिस्तथैव च ।
दशभिः पञ्चभिश्चेति षडर्थाः क्रमतो मताः ॥ ६ ॥

कारिकार्थ--शाप का उद्यम, शाप का कारण, अनुग्रह रूप शाप, वाक्य का फल भी शीघ्र होना, स्तुति और प्रसाद[1] ये षट् अर्थ क्रमशः श्लोकों में इस प्रकार कहे गए हैं--

(१) शाप का उद्यम छः श्लोकों में, (२) शाप के कारण द्वादश श्लोकों में, (३) अनुग्रह रूप शाप तीन श्लोकों में, (४) फल की शीघ्रता छ श्लोकों में, (५) स्तुति दश श्लोकों में, (६) कृपा, पांच श्लोकों में ॥ ५-६ ॥

व्याख्या—इन दो कारिकाओं में कौन से और कितने श्लोकों में किस-किस चरित्र का वर्णन है उसका विश्लेषण किया गया है ॥ ५-६ ॥

कारिका--**अपूर्वत्वाच्छ्रोतुमिच्छा तेन प्रश्नः परीक्षितः ।**
स्वस्यापि तादृशत्वेन तद्वन्मोक्षाशया पुनः ॥ ७ ॥

कारिकार्थ---यह अपूर्व होने से इस प्रसंग[2] के श्रवण की इच्छा हुई। अतः परी-

---

१—कृपा। २—चरित्र।

क्षित ने प्रश्न किया है क्योंकि आप भी वैसे ही थे अर्थात् इन (परीक्षित) को भी मोक्ष की इच्छा थी इसलिये भी प्रश्न किया है।

व्याख्या—परीक्षित को इस चरित्र को सुनने की इच्छा इसलिये हुई कि यह एक नवीन एवं विचित्र बात है कि देव भी पाप करते हैं और ऋषि तथा भक्त भी क्रोध करते हैं। परीक्षित को इस कथा के पूछने का यह भी कारण था कि वह स्वयं भी ऋषि द्वारा शापित था। इस चरित्र श्रवण से मुझे (परीक्षित को) भी निश्चय हो जाय कि महान् पुरुषों का शाप भी आशीर्वाद है उससे कल्याण ही होता है ॥ ७ ॥

आभास----पूर्वाध्यायान्ते शापेन यमलार्जुनौ जाताविति श्रुत्वा कथं वा तेषा भगवानुद्धारको जात इति पृच्छति कथ्यतामिति।

आभासार्थ—नवम अध्याय के अन्त में कुबेर के पुत्र नारदजी के शाप से यमलार्जुन (वृक्षरूप) हुए। यह सुनकर परीक्षित अब इस निम्नलोक में प्रश्न करता है कि भगवान् ने इनका उद्धार किस प्रकार किया।

॥ श्रीराजोवाच ॥

लोक---कथ्यतां भगवन्नेतत् तयोः शापस्य कारणम्।
यत् तद् विगर्हितं कर्म येन देवर्षेस्तमः ॥ १ ॥

श्लोकार्थ----राजा ने कहा हे भगवन्! उनके शाप का वह कारण कहो कि इनने कौनसा निंदित कर्म किया था जिससे ऋषि नारदजी को क्रोध आ गया।

सुबोधिनी—**भगवन्निति**सम्बोधनं कथनेन स्वदुःखदूरीकरणसामर्थ्यार्थं, **एतदिति**, हृदये बाधकत्वेन स्थितं, **तयोर्नलकुबरमणिग्रीवयोरेकरूपस्य शापस्य कारणं**, चतुष्टयं तु तेनैव वक्तव्यं शापविस्तारो विमोक्षणं स्तुतिभंगवत्प्रसादश्चेति अतोधिकं द्वयं पृच्छति **यत् तद् विगर्हितं कर्मेति**, यत् प्रसिद्धं तादृशशापहेतुभूतं जातं **तदवश्यं** विगर्हि। निन्दितमेव भवति, देवानां तु पापं न सम्भवतीति प्रश्नः, किञ्च **येन** कृत्वा **देवर्षेर्देवतानामपि** मन्त्रद्रष्टुस्तमः क्रोधो भवति, अनेन शापे हेतुः स्पष्टः, **विगर्हितेन** शापोद्यमः सर्वो हि विगर्हिते कृते शापं दातुमुद्युक्तो भवति, **देवर्षिस्तु** साधारणे न भवतीति विशेषतो हेतुर्वक्तव्यः ॥ १ ॥

व्याख्यार्थ—राजा परीक्षित शुकदेवजी को 'भगवन्' यह विशेषण इसलिये देता है कि भगवान् ने जैसे यमलार्जुन का दुःख दूर किया था वैसे ही आप भी मेरे दुःख दूर करने की सामर्थ्य वाले हो इससे मेरे लिये भगवान् हो। श्लोक के एतद् (यह) शब्द का भाव बताते हैं कि परीक्षित

के हृदय में शाप का कारण बाधक[1] हो रहा था अर्थात शाप से क्या होगा ? इसलिये पूछता है कि इन दोनों (नलकूबर और मणिग्रीव) को एक ही प्रकार के शाप का कारण कहिये। इस एक ही शाप के प्रश्न से शेष इससे सम्बन्ध रखनेवाले चार विषयों का अभिप्राय अर्थात्---(१) शाप का विस्तार, (२) मोक्ष, (३) स्तुति और भगवत्प्रसाद निकल जाएगा। इसलिये इन चारों से अधिक दो ही प्रश्न पूछते हैं। इस प्रकार के शाप का हेतु जो कर्म है वह अवश्य निन्दित ही है। इसलिये प्रश्न करते हैं कि ऐसा निन्दित कर्म देवताओं ने कैसे किया। देवता तो पाप[2] कर्म करे यह सम्भव नहीं है और जिस कर्म के करने से देवताओं में भी जो ऋषि (मन्त्रद्रष्टा) हैं वैसे नारद ऋषि को क्रोध आ गया। इस प्रकार कहने से यह स्पष्ट कह दिया कि उन्होंने ऐसा पाप कर्म किया है जिससे ऋषि को इनके प्रति शाप देना आवश्यक हो गया था। निन्दित कर्म के कारण, नारदजी ने शाप का उद्यम किया। निन्दित कर्म करने पर सब शाप देने का उद्यम करते हैं। किन्तु ये देवों में भी ऋषि हैं, अतः साधारण पाप कर्म होता तो ये शाप नहीं देते इसलिये इनने जो शाप दिया उसमें कोई विशेष कारण होगा वह विशेष कारण कृपा कर कहिये ॥ १ ॥

आभास तत्र प्रथमं विगर्हितेन शापोद्यममाह षड्भी रुद्रस्येति ।

आभासार्थ—निम्न श्लोक से लेकर छ श्लोकों में विशेष करके निन्दित कर्म करने से शाप के उद्यम का वर्णन करते है।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक----**रुद्रस्यानुचरौ भूत्वा सुदृप्तौ धनदात्मजौ ।**
कैलासोपवने रम्ये मन्दाकिन्यां मदोत्कटौ ॥ २ ॥

श्लोकार्थ----श्रीशुकदेवजी बोले, श्रीमहादेवजी के सेवक महान् अंहकारी जो कुबेर के पुत्र थे मदोन्मत्त होकर श्रीगङ्गाजी के समीप कैलास के सुन्दर उपवन में फिर रहे थे।

कारिका----**उन्मादश्च प्रमादश्च निन्दिताचरणं तथा ।**
महत्स्वपि तथा धार्ष्ट्यसिद्ध्यर्थं महतां दृशिः ॥ १ ॥
धार्ष्ट्यं तयोर्न सङ्घस्य ततश्चोद्यम ईर्यते ॥ १½ ॥

कारिकार्थ---छ श्लोकों में शाप के उद्यम का वर्णन है अब किस श्लोक में उनके

१—दुःख दे रहा था। २—निन्दित।

(नलकूबर और मणिग्रीव के) किस कर्म का वर्णन है वह इस १½ कारिका द्वारा बताते हैं। उन्माद (२ रे श्लोक में) प्रमाद (३ रे श्लोक में) निन्दिताचरण (४ थे श्लोक में) नारदादि महापुरुषों से भी धृष्टता की। महापुरुषों का दर्शन (नलकूबेर के कर्मों को देखना) (५ वें श्लोक में) सब स्त्रियों ने धृष्टता नहीं को केवल इन दोनों की धृष्टता (अविनय) (६ ठे श्लोक में) इसके पश्चात् पाप के लिये उद्यम का वर्णन (७ वें श्लोक में) किया है।

सुबोधिनी—प्रथमतो महतस्तथात्वमनुचितमित्याह रुद्रस्य महादेवस्य रुद् रोगाणि द्रावयतीति तादृशस्य सेवकयो रोगसम्बन्धोनुचितः, **अनुचर**पदेन पश्चादेव चलनस्योचितत्वादणुमात्रविभेदोषि दोषायेति तादृशावपि भूत्वा **जुदृशौ** जातौ धनेनातिमत्तौ, तत्र हेतूर्धनदात्मजाविति, धनं सर्वेभ्यो ददातीति तदात्मजस्य धनित्वं सिद्धमेव, उभयोश्च सहक्रीडा निन्दिता, उभौ च दुष्टौ जातौ, तत्रापि महादेवस्थ गृहरूपो यः पर्वतः **कैलास**स्तस्योपवन आरोपितफलपुष्पप्रधाने वने, तत्रापि रम्ये सर्वदोषविवर्जिते वने, स्वभावतो विरक्तो महादेवस्तस्य स्थाने विरक्ता एव तिष्ठन्ति, तत्राप्युपवने योगिनां भगवच्चिन्तनस्थाने, तत्रापि रम्ये भगवत्प्रसादस्थाने, ततोप्यधिकदोषमाह **मन्दाकिन्या**मिति, **मन्दाकिनी** भागीरथी प्रसिद्धा, मन्दाकिन्यां दोषाभावात्, तत्रापि मद उत्कटो ययोः, अयं मदो धनादिकृत एव, सुरादिकृतस्त्वग्रे वक्ष्यते ।। २ ।।

व्याख्यार्थ—पहले तो महान् पुरुषों को इस प्रकार के कर्म करनेवाला होना योग्य नहीं है। इस प्रकार के निन्दित कर्म करने वालों की महत्ता दिखाते है कि ये रुद्र के अनुचर हैं। रुद्र का अर्थ है, जो रोगों (भवरोगों) का नाश करते हैं। ऐसों के सेवकों को रोग से सम्बन्ध करना अनुचित[1] है। अनुचर पद का भाव बताते हैं कि उसको अणुमात्र भी विपरीत कर्म करना दोष है। उसे पूर्ण रीति से स्वामी के अनुसार कर्त्तव्य करने चाहिये। महादेवजी के अनुचर होकर भी धन के कारण ये दोनों मदोन्मत्त थे कारण कि कुबेर* के पुत्र थे। जो सबको धन देता है उसके पुत्र धनी होते ही हैं इसमें संशय ही नहीं है। इस प्रकार की क्रीड़ा, दो की साथ में नहीं होनी चाहिये क्योंकि साथ करना निन्दित है किन्तु दोनों दुष्ट हो गए थे इसलिये न केवल दोनों ने मिल कर क्रीड़ा ही की परन्तु जहाँ क्रीड़ा नहीं करनी चाहिये थी ऐसे स्थल जो महादेवजी का निवास स्थान कैलास है उसके रम्य[2] उपवन जिसमें पुष्प फल आदि लगे हुए हैं उसमें क्रीड़ा करने लगे।

---

* कुबेर देवताओं के कोषाध्यक्ष (खज़ाची) है।

१—लालूभट्टजी योजना में लिखते हैं कि अनुचर का तात्पर्य है पीछे चलनेवाला अर्थात् जैसे स्वामी करे वैसे ही सेवक को भी शुद्ध आचरण रखने चाहियें 'शिव वेद है वेद शिव है' इस श्रुत्यानुसार शिव वेदरूप है इसलिये शिव के सेवकों को वेदानुसार अपना व्यवहार रखना चाहिये। इन्होंने वैसा नहीं किया अतः यह अनुचित है।

२—सब दोष रहित।

महादेवजी स्वभाव से विरक्त हैं और उनके स्थान में विरक्त[1] ही रहते हैं। उसमें भी उपवन में जहाँ योगीजन भगवच्चिन्तन करते हैं। उससे भी विशेष रम्य-स्थान भगवान् की कृपा के होने का स्थान, इससे भी अधिक दोष बताते हैं कि मन्दाकिनी (श्री भागीरथी गंगाजी) जिसमें किसी प्रकार का भी दोष* नहीं है उसके समीप के स्थानों पर इन्होंने जो क्रीड़ा की, उसका कारण धन के मद से दुष्ट हो गए थे। मदिरा[2] पानादि दोषों के मद का आगे वर्णन करेंगे ॥ २ ॥

आभास ---महतः स्वरूपदोषा उक्ताः, आगन्तुकदोषैः सदुष्टक्रियामाह वारुणीमिति।

आभासार्थ—इससे पूर्व के श्लोक में महान्[3] पुरुष के स्वरूप के दोष कहे, अब निम्न श्लोक में आगन्तुक (दुष्ट कर्म करने से आने वाले) दोषों का वर्णन करते हैं।

श्लोक—**वारुणीं मदिरां पीत्वा मदाघूर्णितलोचनौ ।**
स्त्रीजनैरनुगायद्भिश्चेरतुः पुष्पिते वने ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ—वारुणी[3] पीने से उत्पन्न मद से घूर्णित[4] नेत्र वाले वे पुष्प-वाटिका में फिर रहे थे। जिनके पीछे गाती हुई स्त्रियाँ भी फिर रही थीं।

सुबोधिनी—द्वन्द्वजो हि दोषो दुर्निवार इति द्वयोः सम्बन्धः, **वारुणी** वरुणोद्भवा, अमृतसङ्ग उत्पन्ना दैत्यभाववोधिका, तत्रापि **मदिरा** मादिकासुरभावादप्यधिकदोषजनिका, तां **वारुणीं मदिरां पीत्वा** मदेनाघूर्णिते लोचने ययोर्विरुद्धज्ञानवन्तौ, तत्राप्यनु पश्चाद् **गायद्भिः** स्त्रीभिः सहितौ, सङ्गदोषो मोहहेतुः **सम्बन्धश्च, पुष्पिते** वने रजोयुक्ते **चेरतुर्भ्रमाणौ** जातौ, **मन्दाकिन्यामिति** सामीप्यसप्तमी, **कैलासोपवने** सति, **मन्दाकिन्यामपि** सत्यां मदोत्कटाविति वा अतः **पुष्पिते वन** इति न दोषवचनेन विरोधः॥ ३ ॥

व्याख्यार्थ—दो कारणों से उत्पन्न दोष को मिटाना कठिन हो जाता है, यह बताकर दोनों श्लोकों (दूसरे-तीसरे) का सम्बन्ध बताया दूसरे श्लोक में धनमद बताया है यहाँ तीसरे में वारूणी मद बताते हैं। अतः इस प्रकार दो दोष हो गए जिन्हें वे स्वतः मिटा नहीं सकते थे। वारूणी शब्द का अर्थ है जो वरूण[5] में से पैदा हुई है और अमृत के साथ उत्पन्न हुई है अतः दैत्य-भाव को बढ़ाने वाली है। उस पर भी फिर मदिरा मादक[6] होने से आसुर भाव से भी अधिक दोष

---

* श्री पुरुषोत्तमजी 'प्रकाश' में इसका स्पष्टीकरण (खुलासा) करते हैं कि महादेवजी के उपवन में जो गंगाजी हैं वे दोष-रहित इसलिये हैं कि वहाँ कोई भी मनुष्य स्नान नहीं करता है अतः वहाँ की गङ्गाजी पाप-रहित हैं अन्यत्र मनुष्य स्नान करते हैं उनका पाप गङ्गाजी ले लेती हैं तो वहाँ गङ्गाजी सर्व दोष-रहित नहीं कही जाती है।

१—त्यागी। २—शराब। ३—बड़े। ४—घूमती हुई। ५—समुद्र। ६—नशा लाने वाली।

पैदा करने वाली है। ऐसी मदिरा को पीने से उत्पन्न मद करके वे घूर्णित नेत्रवाले हो गए अर्थात् विरुद्ध ज्ञानवाले (अज्ञानी) हो गए न केवल इतना ही था किन्तु पीछे गाती हुई स्त्रियाँ भी संग में थीं। संग का दोष, मोह का कारण है अर्थात् संग से ही मोह[1] होता है और स्त्रियों से सम्बन्ध भी बताया है। पुष्पवाटिका में फिरने लगे। जो रजोगुण युक्त होने से उसमें फिरने वालों में भी रजोगुण* बढ़ता है। 'मन्दाकिन्या' का अर्थ है गंगाजी के समीप। जहाँ ऐसे दोषयुक्त वे घूम रहे थे वहां कैलाश का उपवन था एवं समीप में गंगाजी भी बह रही थी। इन दोनों पवित्र स्थानों के होते हुए भी मदान्धन[2] हो रहे थे। अतः रजोगुण युक्त पुष्पवाटिका के कारण भी इनमें दोष की विशेषता दिखाने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है ॥ ३ ॥

आभास--दोषान्तरमाहान्तः प्रविश्येति।

आभासार्थ--इस चतुर्थ श्लोक में दूसरा दोष दिखाते हैं।

श्लोक----**अन्तः प्रविश्य गङ्गायामम्भोजवनराजिनि।**
चिक्रीडतुर्युवतिभिर्गजाविव करेणुभिः ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ--कमल वन की पंक्ति युक्त गङ्गाजी के मध्य में प्रवेश कर हस्ती[3] जैसे हस्तिनियों[4] से क्रीड़ा करते हैं वैसे वे भी स्त्रियों से क्रीड़ा करने लगे।

सुबोधिनी--क्रीडा गङ्गायां निषिद्धा "गङ्गां पुण्यजलां प्राप्य त्रयोदश विवर्जयेदि" त्यत्र क्रीडाया निषिद्धत्वात्, तत्रापि नोद्धृत्य किन्त्वन्तः प्रविश्य, अम्भोनानां वनराजयो वनपंक्तयो यत्र, अनेन भगवत्सान्निध्यमपि गङ्गाकृतपूजार्थं लक्षितं **गजाविव करेणुभिरिति** क्रीडायामनवधानतोक्ता ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ--श्री गङ्गाजी में इस प्रकार की क्रीडा करने का शास्त्रों ने निषेध किया है। जैसे कि कहा गया है 'गंगा पुण्यजलां प्राप्य त्रयोदश विवर्जयेत्' पुण्य जलवाली गंगा पर जाकर तेरह कार्य छोड़ें। जिन में गंगाजी के भीतर क्रीड़ा का भी निषेध है। इन्होने गंगा का जल नदी से लाकर, बाहिर जल में क्रीड़ा नहीं की, किन्तु गंगा के भीतर जल के मध्य में क्रीडा

---

* १. रजोगुण—विषयों में आसक्त करता है।—अनुवादक

२. मन्दाकिन्या—व्याकरणानुसार यह सप्तमी विभक्ति अधिकरण अर्थ में भी होती है यदि वह अर्थ किया जाता तो लक्षणा करनी पड़ती। लक्षण करना आचार्यश्री को अभीष्ट नहीं है। अतः यहां सप्तमी का अर्थ सामीप्य में किया गया है।— अनुवादक

१—अज्ञानता, बे समझी। २—घमंड में अन्धे। ३—हाथी। ४—हथनियों।

की। वह क्रीड़ा भी कहाँ को, कि जहाँ कमल के वन की पंक्तियां लग रही थीं, वहां सदैव भगवत्सान्निध्य रहता है अर्थात भगवान् वहाँ विराजते हैं। उस स्थान पर इन कमलों से गंगाजी भगवान् की पूजा करती है। गंगाजी में भी ऐसे स्थल पर, जो क्रीड़ा की, वह क्रीड़ा भी हाथी, हथनियों के समान लज्जा का त्याग कर करने लगे।

आभास---**विषयं निरूप्य शापहेतोः समागममाह यदृच्छयेति।**

आभासार्थ--इस प्रकार दोनों (नल कूबर और माणिग्रीव) के विषय [चरित्र] का निरूपण कर, अब निम्न श्लोक में शाप के लिए देवर्षि नारदजी के पधारने का वर्णन करते हैं।

श्लोक---**यदृच्छया च देवर्षिर्भगवांस्तत्र कौरव।**
अपश्यन्नारदो देवौ क्षीबाणौ समबुध्यत ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ--हे कौरव! वहां देवर्षि भगवान् नारद ने उन दोनों देवों को अचानक देखा और समझ गए कि ये दोनों मत्त[1] हैं।

सुबोधिनी—**देवर्षिरिति** भाव्यर्थपरिज्ञानं देवयोनीनामुपकारकर्तृत्वं च ज्ञापितं **भगवानिति** सर्वसामर्थ्यं, **कार्य**-**भगवत्त्वानि भगवत्कृपासाध्यानि, तत्रेति** तस्यां गङ्गायां, **कौरवेतिसम्बोधनं** महतोपि वंश उत्पन्नः प्रमाद्यतीति स्वदृष्टान्तेन ज्ञानार्थं, **आदौ देवावपश्यत् ततः क्षीबाणौ समबुध्यत, क्षीबशब्दोकारान्तो** नकारान्तोपि, **क्षीबा** मत्तः, देवानां स्वर्षिसम्मानाभावयोगात् ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ—आचार्यश्री कहते हैं कि श्लोक में नारदजी को देवर्षि इसलिये कहा है कि नारदजी को भविष्य[2] का ज्ञान है और उनमें देवताओं पर कृपा करने का गुण है। तथा भगवान् कहकर यह बताया है कि नारदजी में भगवान् के समान सर्व सामर्थ्य भी है। ऋषि वा पार्षदादि में भगवान् जैसी सर्वसामर्थ्य आदि की शक्ति* भगवान् की कृपा से आती है। तत्र (गंगाजी के मध्य में) क्रीड़ा करने की भूल महान कुल (देव कुल) में उत्पन्न[3] होकर भी कर रहे हैं?

---

* श्रीपुरुषोत्तमजी प्रकाश में इसका स्पष्टीकरण करते हैं कि ऐश्वर्यादि गुण भगवान् में नित्य है जो उनके ही रूप हैं दूसरों में नित्य नहीं है भगवान् की कृपा से कभी वे गुण उनमें उत्पन्न होते हैं सदैव नहीं। इसलिये श्री सुबोधिनीजी में उनको 'कार्य भगवनित्वा' कहा गया हैं अथवा जितनी भगवान् की इच्छा हो उतने ही गुण उनको देते हैं।

१—मस्त। २—आगे होनेवाला। ३—जन्म लेकर।

राजा को कौरव विशेषण इसलिये दिया है कि राजा अपने दृष्टान्त‡ से इसके तत्त्व (उपदेश) को समझ लो। नारदजी ने पधारते ही पहले ही देवों को देखा उसके पीछे उनको मदयुक्त[1] जाना क्योंकि उनको चाहिये था कि आए हुए ऋषि का वे प्रणामादि से सन्मान करते, जो उन्होंने नहीं किया अतः ऋषि ने समझ लिया कि ये मदयुक्त हैं ॥ ५ ।

आभास----ततो यज्जातं तदाह तं दृष्ट्वेति ।

आभासार्थ—नारदजी आए और इनको मदयुक्त अवस्था में क्रीड़ा करते हुए देखा उसके पीछे जो कुछ हुआ उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**तं दृष्ट्वा व्रीडिता देव्यो विवस्त्राः शापशङ्किताः ।**
वासांसि पर्यधुः शीघ्रं विवस्त्रौ नैव गुह्यकौ ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ----नग्नदेवियों ने नारदजी को देख के लज्जित होकर, शाप के भय से शीघ्र वस्त्र धारण कर लिए परन्तु नंगे गुह्यकोंने वस्त्र नहीं पहने ।

सुबोधिनी—नारदं दृष्ट्वा देव्योप्सरसो विवस्त्राः सत्यः स्वस्मिन् नारदे चैकैकं धर्मं ज्ञातवत्यः, स्वस्मिन् लज्जा जाता कामोद्बोधेनानिष्टजनकत्वे शापशङ्का, वस्त्र-परिधानेनाभयं भवतीति शीघ्रं यावद्दृषेः क्षोभो न भवति ततः पूर्वमेव पर्यधुः, गुह्यकावपिविवस्त्रौ, नग्न दर्शनमप्यमङ्गलं निषिद्धं स्त्रीसङ्गात् क्षोभकं च, तत्रापि गुह्यकौ, गुह्यं कं ययोः ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ—नग्न देवियों[2] ने नारदजी को देख कर अपने में और नारदजी में एक, एक धर्म जान गई। देवियों को स्त्रीत्व के कारण लज्जा आई और काम जगने से अनिष्ट होगा, जिस से शाप की शङ्का मन में हुई और यह विचार भी आया कि लज्जा की रक्षा तथा पाप से अभय हो जाँय इसलिए जो विलम्ब करेंगीं तो नारदजी के मन में क्षोभ होगा और वे शाप दे देंगे। अतः शीघ्र कपड़े पहन लिए। गुह्यक भी नंगे थे नग्नदर्शन अमंगलकारी है तथा निषिद्ध है और

---

‡ राजा परीक्षित भी महत्कुल में उत्पन्न हुआ है और उसने भी ऋषि के गले में साँप डालने की भूल की है। मदयुक्त के लिये श्लोक में 'श्री बाणौ' शब्द दिया है यह शब्द अकारान्त 'क्षीब' भी है और नकारान्त 'क्षीबन्' भी है।

१—अहंकारी, घमंडी । २—अप्सराएं ।

स्त्री के संग से तो मन में क्षोभ[1] करने वाला है। गुह्यक§ पद का तात्पर्य बताते हैं कि जिनको अपना शरीर वस्त्रों से ढकलेना चाहिए था ऐसे नाम वाले होने पर भी कपड़े नहीं पहने ॥ ६ ॥

आभास—तथा सति तयोः शापोपक्रममाह तौ दृष्ट्वेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार की दशा देखकर नारदजी शाप देने का प्रारम्भ करने लगे उसका वर्णन निम्न श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—**तौ दृष्ट्वा मदिरामत्तौ श्रीमदान्धौ सुरात्मजौ ।**
तयोरनुग्रहार्थाय शापं दास्यन्निदं जगौ ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ—मदिरा के मद से मतवाला और लक्ष्मी के मद से अन्धे उन देव के कुमारों को देखकर, उन पर अनुग्रह करने के लिये शाप देते हुए नारदजी ने ये वचन बोले ।

सुबोधिनी—सुरात्मजौ भूत्वा मदिरामत्तावसुरकार्यं कृतवन्तौ, श्रीमदेन चान्धौ मनुष्यदोषं च प्राप्तवन्तौ, अत उभयोः फलं महापुरुषसान्निध्ये भवति "त्यत्यन्तनिन्दितैर्दोषैर्जन्तुः स्थावरतां व्रजे" दित्येतयोः स्थावरत्वमेव युक्तमिति विचार्य कर्मणैवैतद् भविष्यतीति निश्चित्य कृपया परीतस्तयोरनुग्रहार्थं शापं दास्यन्निदं वक्ष्यमाणं हेतुभूतं जगौ, अन्यापराधे बालकेन कृते पित्रा शिक्षणं कर्मसाध्यमनिष्टमपि फलं नात्यन्तं दुखदं भवतीति कर्माधिकारिफलभावनातः पूर्वमेव स्वयं शापं दत्तवान्, महापुरुषदृष्ट्योद्बुद्धं च जातं, अतो न वने वृक्षौ जातौ, वृक्षाणां मध्येर्जुनजातीयानां मुक्तिः प्रसिद्धा 'नर्मदातीरसञ्जाताः सरलार्जुनपादपा नर्मदातोयसंस्पर्शाद् यान्ति ते परमां गति" मितिवाक्यात् तत्रापि गवां छायाजनकौ, महतो नन्दस्याभिज्ञापकौ च भविष्यतः, फलं तूत्कृष्टं भविष्यत्येवातः कर्मफलाच्छापः समीचीनः ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ—देवकुमार होकर असुरों जैसा कार्य मदिरा पानकर मदमत्त हो गये हैं और लक्ष्मी के मद से अन्धे बन गये हैं इससे मनुष्य दोष भी उनमें आ गए हैं। इस प्रकार असुर और मानुष दोष दोनों दोष आने का फल महापुरुषों की सन्निधि में ही मिलता है। 'अत्यन्त निन्दितैर्दोषैर्जन्तुः स्थावरतां व्रजेत' अर्थ—विशेषनिन्दित दोषों से जीव (मनुष्य) स्थावर योनि को प्राप्त होवे। शास्त्र के इस वचनानुसार इन दोनों को स्थावरत्व (जड़पना-वृक्षादि योनि) ही योग्य है यों विचारते हुए कि यह सब कर्म से ही प्राप्त होता है ऐसा निश्चय कर कृपायुक्त देवर्षि उन पर

§ श्री पुरूषोत्तमजी प्रकाश में कहते है कि 'क' का अर्थ विषय भी होता है किन्तु विषयों का कपड़ों से आच्छादन हो नहीं सकता है शरीर का हो सकता है अतः यहां 'क' का अर्थ आचार्यश्री ने शरीर किया है।

१—घबराहट ।

अनुग्रहार्थ शाप देते हुए ये वचन कहने लगे कि जैसे कोई बालक किसी अन्य का अपराध करता है तो उसका पिता अपने बालक को कर्मानुसार फल देता है वह फल अनिष्ट[1] बालक को वा दूसरों को अच्छा न लगता हो तो भी विशेष दुःखदायी नहीं होता है कारण कि वह फल कर्मानुसारी है और बालक के शिक्षार्थ अनुग्रहरूप है। वैसे ही नारदजी ने भी कर्माधिकारी जब तक दंड देवे उससे पहले ही शाप दे दिया। महापुरुष की दृष्टि से कर्म ने फल दिया इस कारण से वे स्थावर[2] तो हुए किन्तु ऐसे वृक्ष हुए जिस वृक्षयोनि से मुक्ति मिलती है। जैसा कि शास्त्रों में कहा है कि नर्मदा के तीर पर उत्पन्न सरल और अर्जुन के पेड़ नर्मदा* के जल के स्पर्श से परमगति (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं। उसमें भी ये जो गौओं की अपनी छाया से सेवा करने वाले और नन्दरायजी को समाचार कहनेवाले होंगे जिससे इनको उत्कृष्ट[3] फल मिलेगा अतः कर्मफल से शाप श्रेष्ठ है ॥७॥

आभास----ननु शापे दत्ते कदाचिदुत्कृष्टकर्मापि सम्भवति ततः पापक्षये मुक्तिरेव कदाचिद् भवेत् सत्संगे भक्तिर्वा ततः किमिति शापं दत्तवानित्याशङ्क्य तयोः सत्कर्म-सत्सङ्गौ दुर्लभाविति तदर्थं तयोर्विद्यमानदोषस्य तदुभयाजनकत्वं निरूपयति द्वादशभिर्नं ह्यन्य इति ।

आभासार्थ—पूर्व श्लोक (७) में नारदजी के शाप का वर्णन किया गया इस पर यह शङ्का होती है कि जैसे इन्होंने अब ये दुष्कर्म किए वैसे ही कभी उत्तम कर्मों का होना भी सम्भव है जिनसे पाप क्षय कर मुक्ति की प्राप्ति कर लेते, अथवा सत्संग होने से भक्ति उत्पन्न हो जाती तो शाप की क्या आवश्यकता थी, जो नारदजी ने शाप दिया इस शंका को निम्न १२ श्लोकों से निवारण करते हुए कहते हैं कि इन दोनों लक्ष्मी मद वालों को 'सत्कर्म और सत्सङ्ग' दुर्लभ है।

॥ श्री नारद उवाच ॥

श्लोक—न ह्यन्यो जुषतो जोष्मान् बुद्धिभ्रंशो रजोगुणः ।
श्रीमदाभिजात्यादिर्यत्र स्त्रीद्यूतमासवः ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ----श्रीनारदजी बोले लक्ष्मी के मद से उत्पन्न स्त्री संग, द्यूत[4] और मदिरा पान दोष जिस प्रकार विषयों का उपभोग करनों वालों की बुद्धि का नाश करता है, वैसे

---

* नर्मदा तीर संजातां सरलार्जुन पादपाः ।
नर्मदा तोय स्पर्शात्, यान्ति ते परमांगतिम् ॥

१—बुरे या अपराधी। २—वृक्ष। ३—बहुत उत्तम। ४—जुआ।

उत्तम कुल में जन्म आदि से उद्भूत[1] अन्य दोष (मद वा रजोगुण) बुद्धि का नाश नहीं करते हैं ।

सुबोधिनी—सन्मार्गः सत्सङ्गो वा सद्बुद्धया भवति श्रीमदेन तु सद्बुद्धिः कदापि नोत्पद्यते, तदाहान्यो जोष्यान् जुषतः प्राणिनो बुद्धे भ्रंशहेतुर्न भवति, बुद्धिरत्र सात्त्विकी "सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञान" मिति, तस्य बाधकं त्रिविधं गुणा विरुद्धा आश्रयनाशकमाश्रयविरोध्यन्तरजनकं च, तदत्र श्रीमदात् त्रयं भवति, यद्यपि "न्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मनश्चेतनां हरते बुद्धेः स्तम्भस्तोयमिव ह्रदा" दिति विषयमात्रसेवनमेव बुद्धिभ्रंशहेतुस्तत्रापि यथा श्रीमदाद् बाह्याभ्यन्तरदोषसंसर्गरूपादन्यः प्रकारान्तरेणोत्पन्नो विषयानुभवः, साधनस्य द्वन्द्वत्वाभावात् परिहार्यो भवति, अयं त्वपरिहार्यः, यतस्तेनान्तर्बहिर्दोषौ जन्येते इत्याहाभिजात्यादिरिति, "विद्यामदो धनमदस्तथैवाभिजनो मद एते मदा मदान्धानां त एव हि सतां दमा" इति, तत्र धनमदो मध्यम उभयमदयोः साधको यथा मध्यमं गृहं दग्धं सत् पार्श्वस्थितयोरपि दाहं सम्पादयति, आभिजात्यास्यादिः श्रीमदस्ततोप्यनर्थसम्पादकः, तस्य मदान्तरापेक्षया दुष्टविषयजनकत्वं हेतुत्वनाह यत्र स्त्रीद्यूतमासव इति अन्यान्यपि दूषणानि वक्ष्यति, ततः प्रथमं दोषत्रयमाह यदपरिहार्यं, प्राणिनः सर्वहेतवः कायवाङ्मनांसि, तत्र स्त्री कायनाशिका द्यूतमनृतं वाङ्नाशकं, आसवो बुद्धिनाशकः, आसवो मदिरा, "द्यूतं पानं स्त्रिय" इत्यधर्मपादा अप्येते, तत्रापि प्रथमं स्त्रीनिर्देशस्तेष्वप्याधिक्यख्यापकः, "न तथास्य भवेन् मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतो योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गत" इति, श्रीमदे त्वेते भवन्त्येव धनमदकृतस्त्रियोसत्या एव भवन्ति ॥ ८ ॥

व्याख्या—सन्मार्ग पर चलना और सत्संग करना ये दोनों कार्य सद्बुद्धि[2] से होते हैं। जिनमें लक्ष्मी का मद होता है उनमें सद्बुद्धि नहीं होती है । लक्ष्मी मद के अतिरिक्त दूसरे दोष, विषयों का उपभोग करने वालों की बुद्धि[3] का भ्रंश (नाश) नहीं करते हैं। सतोगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है इस वचनानुसार यहाँ कही हुई बुद्धि सात्त्विक है। उस सद्बुद्धि[4] के तीन प्रकार के बाधक[5] है--

(१) विरुद्ध गुण[6]

१—पैदा हुआ । २—जिस बुद्धि से ज्ञान उत्पन्न हो उसे सद्बुद्धि कहते हैं ।—लेख

३—असद्बुद्धि की वृत्ति को 'मन' और सद्बुद्धि की वृत्ति को 'चित्त' कहते हैं। जिसमें सद्बुद्धि नहीं है उसका चित्त सुप्त (सोया हुआ) है और मन जागृत (जागा हुआ) है। जब तक चित्त-वृत्ति नहीं जागती है तब तक सद्बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है। मन असद्बुद्धि उत्पन्न कर अधःपात करता है।—'लेख'

४—चित्त का आश्रय करने वाली सद्बुद्धि का ज्ञान । —'लेख'

५—बाधा या रुकावट डालने वाले । —'लेख'

६—निषिद्ध विषय चित्त में रहकर ज्ञानवृद्धि में रुकावट डालते हैं विषय भोग में मुख्य स्त्री है अतः श्लोक में 'स्त्री' शब्द दिया है। —'लेख'

(२) आश्रय[७] को नाश करने वाले

(३) आश्रय के विरुद्ध ज्ञान[८] उत्पन्न करने वाले।

ये तीनों बाधक लक्ष्मी के मद से उत्पन्न होते हैं विषयों का ध्यान करने वालों का मन विषयों से आकृष्ट (खिची हुई) इन्द्रियों द्वारा विक्षिप्त होता है वह बुद्धि की चेतना (समझ) का हरण कर लेता है जैसे नाली बड़े जलाशय (तालाब) से जल खेंच लेती है।

यद्यपि किसी भी विषय के सेवन से बुद्धि का नाश होता है तो भी बाह्य[९] और आन्तर[१०] दोषों के भण्डार रूप लक्ष्मी के मद से जैसा बुद्धि का नाश होता है वैसा दूसरे किसी से नहीं होता है। अन्य प्रकार से उत्पन्न विषयों के अनुभव में द्वन्द्वपन (दो दोषों के होने) का अभाव है, इसलिये उन विषयों का त्याग किया जा सकता है। किन्तु लक्ष्मी मद से उत्पन्न विषयों का अनुभव नहीं छोड़ सकते हैं कारण कि इससे अन्दर के* और बाहर के† दोष उत्पन्न हो जाते हैं जिसका वर्णन श्लोक में 'आभिजात्यादि' पद से किया गया है।

कारिका—**विद्यामदो धनमदस्तथैवाभिजनोमद।**
एतेमदा मदान्धानां त एवहि सतादमा॥

कारिकार्थ---विद्या का मद, धन का मद, उत्तम वंश में जन्म होने का मद तो मद से अन्धे हो गए पुरुषों के लिये है। सत्पुरुषों के लिये ये मद नहीं है, किन्तु उनके लिये दम[११] है।

उपरोक्त कारिका में तीन प्रकार के मदों में, धन का मद मध्य में दिखाया है जिसका तात्पर्य यह है कि दूसरे मदों का जनक[१२] भी धन मद ही है। जैसे बीच के घर के जलने पर दोनों बाजू वाले घर भी उसके संसर्ग[१३] से जलने लगते हैं। उत्तम कुल में जन्म के कारण उत्पन्न मद

---

* विद्यामद को अन्दर का दोष कहते हैं।

† उच्च-कुल में होने के मद को बाहिर का दोष कहते हैं। —'लेख'

७—आश्रय—ज्ञान का आश्रय चित्त है अर्थात् ज्ञान चित्त में रहता है उस चित्त का नाश हुआ तो ज्ञान का नाश हुआ चित्त का नाश करने वाला द्यूत (जुआ खेलना) है तात्पर्य यह है कि जुआ ज्ञान का नाश करता है। —'लेख'

८—चित्त में ज्ञान विरुद्ध अन्य विचार (अज्ञान मोहादि) उत्पन्न करने वाला आसव (मदिरा) है। —'लेख'

९—बाहर के। १०—अन्दर के। ११—संयम अर्थात् इन्द्रियों को अपने वश में करना।

१२—पैदा करने वाला। १३—संग।

की आदि भी मूल लक्ष्मी का मद है यह लक्ष्मी का मद उच्च-कुल में जन्म के मद से भी विशेष अनर्थकारक है; कारण कि दूसरे मद दुष्ट विषयों को उत्पन्न नहीं करते हैं किन्तु लक्ष्मी मद दुष्ट विषयों का जनक है वे दुष्ट विषय हैं—(१) स्त्री (संसर्ग[७]), (२) द्यूत,[१] (३) मदिरा[२] इनके अतिरिक्त शेष दूसरे भी कहेंगे। इससे पहले ये तीन दोष कहे हैं जो अपरिहार्य[३] हैं। प्राणियों को सर्व प्राप्ति के तीन कारण,—'कायां', 'वाणी' और 'मन' हैं। ये तीनों यदि स्वस्थ हैं तो प्राणी सब प्रकार से उन्नत हो सकता है। यदि ये अस्वस्थ्य हैं तो प्राणी की अवनति होती है इसको स्पष्ट समझाते हैं कि ये तीन किस प्रकार प्राणी का नाश करते हैं। प्रथम 'स्त्री' काया का नाश करती है, दूसरी द्यूत वाणी का नाश करता हैं क्योंकि द्यूत खेलने में पुनः पुनः असत्य बोला जाता है जिससे वाणी अपवित्र होकर नाश होती है और तीसरी 'मदिरा' इसके पीने से बुद्धि-ज्ञान नाश होता है। जूआ मदिरा-पान और स्त्रियाँ ये तीन अधर्म के चरण हैं अर्थात् अधर्म इनके द्वारा ही चलता और बढ़ता है। श्लोक में प्रथम 'स्त्री' कहने का तात्पर्य कहते हैं कि इन तीनों में भी 'स्त्री' विशेष अनर्थ कारिणी है जैसे कहा है कि "न तथास्य भवेत्मोहो, बन्धंश्चान्यप्रसंगतो। योषित्संगाद् यथा-पुंसो यथा तत्संगिसंगतः" क्योंकि पुरुषों को स्त्रियों के संसर्ग से अथवा स्त्री संगियों के संसर्ग से जिस प्रकार मोह और बन्धन होता है वैसा दूसरे किसी से नहीं होता है। इस वाक्य से बताते हैं कि स्त्रियों में विशेष दोष होता है। जिसको लक्ष्मी का मद होता है उसके पास जो स्त्रियाँ रहती हैं वे असती* ही होती हैं॥ ८॥

आभास—दोषान्तराण्याह हन्यते पशवो यत्रेति।

आभासार्थ—लक्ष्मी मद से होनेवाले दूसरे दोषों का वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**हन्यन्ते पशवो यत्रनिर्दयैरजितात्मभिः।**
मन्यमानैरिदं देहमजरामृत्यु नश्वरम्॥ ९॥

श्लोकार्थ—इस क्षण भंगुर[४] देह को (लक्ष्मी के मद से) अजर[५] और अमर मानने वाले अजितेन्द्रिय[६] और निर्दय होके पशुओं को मारते हैं॥९॥

---

* श्री पुरुषोत्तमजी "प्रकाश" में इसका परिज्ञान कराते हैं कि धर्म के आचरण करने के वास्ते 'स्त्री' से विवाह किया जाता है यदि स्त्री अनर्थकारी दुष्ट है तो उससे धर्म के आचरणार्थ विवाह कैसे किया जाता है। इसके समाधानार्थ ही आचार्यश्री ने आज्ञा की है कि पुरुष, धन के मद से, जिन स्त्रियों को रखते हैं वे स्त्रियाँ ही असली अनर्थकारिणीयाँ होती हैं अन्य स्त्रियाँ नहीं।

१—जुआ खेलना। २—शराब पीना। ३—मिट नहीं सकते हैं। ४—पल मेंटूट जानेवाले।
५—बूढ़ा न होनेवाला। ६—इन्द्रियों को वश में न कर सकनेवाले। ७—संग।

सुबोधिनी—यत्र श्रीमदेन प्रत्यहं भक्षणार्थं पशवो हन्यन्ते, निर्दयैरिति, बाला आमा अपि हन्यन्त इति सूचितं कोमलमांसत्वात्, किञ्चाजितात्मभिः सर्वाण्येव पापानि क्रियन्ते, 'नूनं प्रमतः कुरुते विकर्म यदिन्द्रियप्रीतय आधृणोति" त्यत्र निरूपणात्, तेषां स्वेष्टसाधनताज्ञानवतां कथं स्वानिष्टे प्रवृत्तिरितिचेत् तत्राह मन्यमानैरिति, पूर्वोक्त प्रकारेण विषयभोगः स्वभावतः सुखहेतुर्भवति पर्यवसाने परलोके च दुःखहेतुर्भवति, स च परलोकोस्य देहस्य नाशे, ते हि धनमदेनवस्तुतत्त्वं न जानन्ति, अत इदं शरीरं नश्वरमप्यजरामृत्यु जानन्ति जरामृत्युरहितम् ॥ ९ ॥

व्याख्यार्थ—जहाँ लक्ष्मी मद होता है वहां प्रतिदिन अपने उदरपूरणार्थ तथा जिह्वा के स्वाद के लिये पशु मारे जाते हैं, क्योंकि उनमें दया नहीं रहती है, जिससे वे निर्दयी हो जाते हैं। निर्दयी होने से बाल-पशु (छोटे-छोटे बच्चों) को भी मारते हैं कारण कि उनका माँस कोमल होता है और मद करके वे अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रख सकते हैं जिससे इन्द्रियाधीन होकर अन्य पाप भी करते हैं। जैसा कि कहा है कि 'नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म यदिन्द्रिय प्रीतय आधृणोति" मदमत्त, इन्द्रियों को प्रसन्न करने के लिये, दुष्कर्म निश्चय से करता है। अपने इष्ट (प्रिय) पदार्थ किस साधन से प्राप्त होते हैं इस प्रकार के ज्ञान वाले होकर भी अनिष्ट फलदायी साधन (कर्म) में प्रवृत्ति क्यों करते हैं ? इस शंका का समाधान श्लोक के उत्तरार्ध द्वारा करते हैं कि विषय भोग, स्वभाव से सुख देनेवाला समझा जाता है किन्तु अन्त में परलोक में दुःखदाता होता है। वह परलोक तो इस देह छूटने के पीछे मिलता है। वे धन के मद से वस्तु के तत्व को नहीं जान सकते हैं। अतः वे इस क्षण भंगुर देह को भी जरा मृत्यु रहित समझते हैं ॥ ९ ॥

आभास—ननु सत्यमेव देवा अजरामरा इति तत्राह देवसंज्ञितमपीति ।

आभासार्थ—देवों को तो शास्त्रों में 'अजर अमर' कहा गया फिर यहाँ उनको (उनकी देहों को) नश्वर[1] कैसे कहा जाता है इस शंका का समाधान निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—देवसंज्ञितमप्यन्ते कृमिविड्भस्मसंज्ञितम् ।
भूतधुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः ॥ १० ॥

श्लोकार्थ—यह देह, देवनाम धारण करनेवाली होने पर भी, जो अन्त में सड़े तो कृमिरूप[2] है, खाया जाय तो विष्टारूप और जलाया जाय तो भस्मरूप होनेवाला है ऐसी देह के लिये जीवों से द्रोह करने वाला पुरुष क्या अपने स्वार्थ (हित) को जानता है ? अर्थात् नहीं जानता है क्योंकि भूतों के द्रोह करने से नरक की प्राप्ति होती है।

१—नाश होनेवाले। २—कीड़ा।

सुबोधिनी— यथाजाशब्दो जायां न योगेन वर्तते किन्तु ब्रह्म कदाचित् तेन रूपेण सोमाहरणार्थं गतवदिति तथा "अमरा निर्जरा" इत्यपि, यथा मनुष्याणां यावता कालेन जरा मृत्युर्वा भवति तथा न भवतीति यथा न स्वपिति पश्चाच्छायी प्रथमबोधी च तमाहुर्न स्वपितीत्यधिकारिणस्तथात्वाद् वा वस्तुतस्तु देहत्वाद् देवसंज्ञितमप्यन्तवदेव भवति, अतोन्ते कृमिविड् भस्मसंज्ञितमेव भवति, देहस्य त्रिधातिपत्तिर्दह्यते भक्ष्यते विशीर्यते वा, विशीर्णपक्षे कृमयो भवन्ति भक्षणेन ततो विड भवति दाहे भस्म, पूर्वं देवसंज्ञामपि प्राप्यान्ते कृमिविड्भस्मसंज्ञाः प्राप्नोति, एवं सति यस्तादृशदेहकृते भूतध्रुक् स किं स्वार्थं वेद ? अपि तु न वेद, यतो भूतद्रोहान्नरकपातः, विशेषकारेण हननमुक्तमिति श्रीमदस्य तदव्यभिचारात् प्रकृतेपि तदस्तीति हिंसा निन्दा, अनेन दृष्टान्तेन स्त्रीसेवका अपि स्वार्थं न विदुरित्युक्तं, अतः स्वार्थापरिज्ञानाद् धर्मसत्संगाभावाच् छाप उचित एवेतिभावः, अनेन देहार्थं प्रयत्नो न कर्तव्य इत्यर्थादुक्तम् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—निश्चय से देवों को अजर-अमर कहा गया है, किन्तु वह कहना वास्तविक अजरत्व और अमरत्व का प्रतिपादन करने वाला नहीं है; किन्तु जैसे बकरी को 'अजा' कहा जाता है, वास्तव में वह अजा नहीं है किन्तु जन्म लेती है इस प्रकार देव भी अजर-अमर कहे जाते हैं किन्तु है नहीं यह कहना रूढिमात्र है। इसको दो दृष्टान्तों से समझाते हैं १–'अजा' बकरी जन्म लेने पर भी जो 'अजा' कही जाती है उसका कारण यह है कि परमात्मा ने किसी समय सोम लाने के लिये 'अज' बकरे का रूप धारण किया था उसके साथ रूप की सादृश्यता होने से बकरे को अज और बकरी को अजा कहते हैं तथा २—जैसे किसी से पूछा जाय कि अमुक पुरुष सोता है ? जवाब में वह कहदे कि नहीं सोता है उसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह नींद लेता ही नहीं है। उसके कहने का तात्पर्य इतना ही है कि यह पुरुष सब के पीछे सोता है और सब से पहले जागता है इसलिये कहा जाता है कि यह नहीं सोता है। इस प्रकार मनुष्यों के जरा[1] वा मृत्यु[2] के समय से देवों का जरा और मृत्यु का काल विशेष देरी से आता है। अतः वे अजर और अमर कहे गये हैं। वास्तविक तो यह है कि जिसका नाम देह है वह देव कही जाय तो भी अन्तवाली ही है। देवों की भी देह होती है। देह का परिणाम तीन प्रकार से होता है १—जलाई जाती है, २—खाई जाती है और ३—सड़ जाती है। सड़ने पर उसमें कीड़े पड़ जाते हैं। खाने से विष्टा का रूप धारण करती है और जलने पर भस्म बनती है। यह देह पहले 'देव' नाम धारण करके भी अन्त में कीड़े विष्टा और भस्म नामवाली हो जाती है। जब देह ऐसी है तो उस देह के पोषणार्थ, जो भूतों (जीवों) की हिंसा करते हैं, क्या वे अपना स्वार्थ (हित) समझते हैं ? अर्थात् नहीं समझते हैं। यदि समझते होते तो भूतों का द्रोह[3] नहीं करते। क्यों ? वैसा (भूत द्रोह) करने से नरक की प्राप्ति होती है। विशेषता से यहाँ हिंसा कही गई है क्योंकि जहाँ धन मद होता है वहाँ हिंसा अवश्य होती है। इस दृष्टान्त से यह भी बताया है कि स्त्रियों के सेवक (विषयी पुरुष) भी अपने स्वार्थ (हित) को किस कर्म करने में है इसको नहीं समझते हैं। अतः स्वार्थ को न समझने से

१—बुढ़ापा। २—मौत। ३—अनिष्ट, बुरा।

और धर्म तथा सत्संग के अभाव की अवस्था में उन देवों को शाप देना उचित ही था। इससे यह भी जता दिया कि ऐसी देह के सुख के लिये प्रयत्न नहीं करना चाहिये ॥ १० ॥

आभास--तच् छास्त्रान्तरे विरुध्यति, "आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि" ति "तस्मादस्य वधो राजन् सर्वार्थवध उच्यत" इत्यादिवाक्यै रक्षाया अवश्यविधानात्। तत्रादेह किमन्नदातुः।

आभासार्थ—देह के सुखार्थ प्रयत्न नहीं करना चाहिये इसका अन्य शास्त्र विरोध करते हैं। जैसे कि कहा है कि स्त्रियों से और धन से भी पहले, देह की रक्षा करनी चाहिये। इसी देह के वध से सर्व पुरुषार्थों का वध होता है। इन शास्त्रवचनों के अनुसार देह की रक्षा अवश्य करनी चाहिये। इस शंका के उत्तर में निम्न श्लोक कहते हैं—

श्लोक--**देहः किमन्नदातुः स्वं निषेक्तुर्मातुरेव वा।**
मातुःपितुर्वा बलिनः केतुरग्नेः शुनोपि वा ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ--यह देह किसकी है ? क्या अन्नदाता की है ? वा पिता की है ? अथवा माता की है ? या नाने की है ? वा बल से अपने पास ले जावे उसकी है ? या खरीददार की है ? वा अग्नि की है ? अथवा कुत्तों की है ? ॥ ११ ॥

सुबोधिनी—स्वमिति, अविचाराद् देहे रक्षार्थं प्रयत्नवचनानि, विचारे तु न रक्षणीयं स्यादिति सन्देहजनकान् पक्षानाह, देहः केन सम्बधेन सम्बन्धी भवतीति, विचारणीयं, तत्रात्मा न भवति, अल्पविवेकेनापि तद्भेददर्शनात्, आत्मीयत्वं तु भवति, सा चात्मीयता किन्निबन्धना ? बहूनामेवैकस्मिन् छरीर आत्मीयत्वबुद्धिः, शरीरस्योत्पत्तिर्द्विविधा, आद्या प्रत्यहं च जायमाना, प्रत्यहं चेद् देहोन्नदातुर्भवत्यन्नमयत्वाच्च देहस्य, आद्यश्चेन्निषेक्तुः पितुः, लोकप्रतीत्या चेदुत्पत्तिर्मातुर्भवति, परलोकसाधकत्वे मातुःपितुर्भवति, पुत्रिकापुत्रपक्षे तथैवशास्त्रार्थत्वात्, एषा स्वरूपस्थितिः, वैषयिकस्थितिमप्याह क्रेतुर्वा बलिन इति, यो वा विक्रीणीते यो वा बद्ध्वा गृह्णाति ? अन्त्यविचारश्चेदग्नेः शुनोथ वेति ? कृमिपक्षे न स्वत्वं कस्यचित् ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थ—देह के रक्षार्थ जो वचन कहे गये हैं वे पूर्ण विचार कर नहीं कहे गए हैं। विचार करके देखा जाय तो निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि देह की रक्षा के प्रयत्न नहीं करने चाहिये। उन्होंने पहले यह निश्चय ही नहीं किया है कि देह किसकी है ? इस श्लोक में देह विषयक[1] जो-जो सन्देह हैं कि देह किस की मानी जाय वे दिखाए गये हैं जैसे कि देह किस सम्बन्ध के कारण सम्बन्ध वाली होती है प्रथम इसका विचार करना चाहिये—(१) देह आत्मा नहीं है क्योंकि थोड़ा भी विचार किया जाय तो समझ में आ जाता है कि देह और आत्मा में भेद पृथकत्व[2] है। अपनापन

१—सम्बन्ध या बारे में। २—भिन्नता, अलगपना।

तो होता है वह अपनापन किसका है और कैसा है ? यह देखना है कारण कि एक ही देह में बहुतों का अपनापन भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। शरीर की उत्पत्ति दो प्रकार की है—१. पहले जन्म समय की और २. नित्य की उत्पत्ति (नित्य शरीर का बढ़ना) नित्य की उत्पत्ति से जाना जाता है कि यह देह अन्नदाता की है क्योंकि देह अन्न से बनता और बढ़ता है इसलिये शास्त्रों में देह को अन्नमय कहा गया है। पहली जन्म समय की उत्पत्ति से, वीर्य दाता पिता की यह देह होती है। लोक में प्रत्यक्ष उत्पत्ति से देह माता की होती है। परलोक के साधक* (हित करने वाला) होने से नाने की होती है कारण कि पुत्री का पुत्र दौहित्र परलोक सुधार सकता है यों शास्त्र कहते हैं। यह स्थिति स्वरूप से कही जाती है। दूसरे प्रकार से कहते हैं कि खरीददार की वा हटात्[1] उठाके लेजाने वाले की होती है यह वैषयिक (सांसारिक सम्बन्ध की) स्थिति है। देह की अन्तिम अवस्था का विचार किया जाए तो देह अग्नि वा कुत्तों की होती है जो देह में कीड़े पड़ जावें तो किसी का भी स्वत्व[2] नहीं रहता है ॥ ११ ॥

आभास—ततः किमत आहैवमिति ।

आभासार्थ—देह के विषय में इतने पक्ष करने से क्या परिणाम निकला ? इसके उत्तर में निम्न श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—**एवं साधारणं देहमव्यक्तप्रभवाप्ययम् ।**
को विद्वानात्मसात्कृत्वा हन्ति जन्तून् कृतेसतः ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार साधारण देह जिसकी उत्पत्ति अव्यक्त से हैं और लय भी उसमें है उस देह को अपना (वा अपना रूप) समझ कर मूर्ख[3] के अतिरिक्त कौन विद्वान् है जो ऐसी देह के लिये भूतों[4] का वध करता है।

सुबोधिनी—एवं सर्वेषां साधारणं देहमात्मसात्कृत्वा को वा जन्तून् हन्तीतिसम्बन्धः तत्रापि विद्वान्, यतोयं देहः साधारणः, वस्तुतस्त्वयं देहो न पूर्वोक्तानां मध्ये कस्यचिदपिभवितुमर्हति, यतोव्यक्तमेव प्रभव उत्पत्ति-स्थानमप्ययस्थानं च, नन्वेतदृशा घातका अपि बहवो दृश्यन्त इति चेत् तत्राहुरसत इति, ये सच्छब्दवाच्या देवाः, सन्तोपि ते नैवंविधा इत्यर्थः ॥ १२ ॥

---

* प्रकाशकार पुरुषोत्तमजी कहते हैं कि पुत्र न होने पर पुत्री का पहला पुत्र नाने का पुत्र होकर पिण्डदान कर नाने का उद्धार करता है।

१—जबरदस्ती। २—अपनापन। ३—अज्ञानी। ४—जीवों, प्राणियों।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार देह का सब के साथ साधारण सम्बन्ध है उस देह को अपना (रूप) समझकर कौन है जो जीवों की हत्या करे। इस प्रकार अन्वव[1] है। उस में भी विद्वान् तो हत्या नही कर सकता है क्यों कि वह समझता है कि यह देह, साधारणतया सब से सम्बन्ध रखने वाली है, सचमुच तो यह देह ऊपर कहे हुए व्यक्तियों में से किसी की भी नहीं है। कारण कि यह देह प्रकृति से उत्पन्न होती है और उसमें ही लीन हो जाती है। यदि कहो, कि ऐसा व इतना होते हुए भी, लोक में बहुत हिंसक देखे जाते हैं, श्लोक में इसका उत्तर 'असतः'शब्द से दिया गया है कि हिंसक देखे जाते हैं वे असत्पुरुष हैं। लोक में जिस को देव वा सत्पुरुष कहते हैं वे इस प्रकार के (हिंसक) नहीं होते हैं ॥१२॥

आभास—तर्हि किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाहासत इति।

आभासार्थ—ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए? ऐसी आकांक्षा के उत्तर में निम्न श्लोक कहते हैं।

श्लोक—**असतः श्रीमदान्धस्य दारिद्र्यं परमाञ्जनम्।**
आत्मौपम्येन भूतानि दरिद्रः परमीक्षते ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ—लक्ष्मी के मद से अन्धे बने असत्[2] पुरुष के लिए दारिद्र्य [3] उत्तम अंजन है। दरिद्री ही दूसरों को अपने समान देखता है जिससे वह किसी का द्रोह[4] नहीं करता है।

सुबोधिनी—असतो लक्षणं श्रीमदान्धस्येति, श्रीमदेनान्धस्य, यथा भगवान् "यस्यानुग्रहमिच्छामि हरिष्ये तद्धनं शनैः" रिति तथा नारदोप्याह, यथा काचकामलादिनान्धस्याञ्जने दत्ते दृष्टिर्भवति न तु स्वभावत एवान्धस्य, अय च श्रीमदेनान्धः, श्रिया अभावो येनैव भवति तदेवाञ्जनं, भवति, तद् दारिद्र्यमेव, दारिद्र्यं नाम दुरदृष्टसहितसम्पत्त्यभावः, संत्यञ्जनान्यन्यान्यपि व्याध्यादीनि, परं दारिद्र्यं परममञ्जनं, न केवलं दारिद्र्यस्य दोषनिवर्तकत्वं किन्तु गुणजनकत्वमपीत्याहात्मौपम्ये नेति, आत्मोपमानं यत्र तत्र ज्ञानमात्मौपम्यं, यथात्मनि सुखदुःखानुभवस्तथा सर्वस्येत्यनुसन्धानं यथात्मसुखार्थं यतते दुःखनिवृत्त्यर्थं च न तु दुःखार्थं तथा सर्वेषामपि सुखदुःखाभावार्थं यतत इत्यर्थः॥ १३ ॥

व्याख्यार्थ—असत् का लक्षण बताते हैं कि यहाँ लक्ष्मी के मद से अन्धे को असत् कहा गया है। भगवान् जिस पर कृपा करते हैं उसी का धन नाश करते हैं क्यों कि धन से मद[5] होता है

१—सम्बन्ध। २—मूर्ख व दुष्ट। ३—गरीबी। ४—अनिष्ट, बुरा। ५—अहंकार या घमंड।

अहङ्कारी से भगवान् दूर रहते हैं अतः अहङ्कार न हो इस लिए धन का हरण कर उस पर अनुग्राह* करते हैं तब वह भगवान् से प्रेम करने लगता है। तात्पर्य यह है कि लक्ष्मी के द्वारा उत्पन्न मद से मनुष्य अहङ्कारी व अन्धा बन जाता है। भगवान् ने उसकी औषधि[1] द्ररिद्रता- बनाई है। नारदजी ने भी यही औषधि योग्य समझ कर ऐसा शाप दिया है। जैसे मोतिया बिन्दु वा कामलादि[2] से अन्धे की औषधि अन्जन है अन्जन लगाने से फिर सब दिखने लगता है। स्वभाव[3] से अन्धे के लिए अन्जन कुछ नहीं कर सकता है। ये जन्म से सुर हैं असुर नहीं हैं, केवल लक्ष्मी के मद से असत् बन गए हैं। अतः इन के लिए लक्ष्मी का अभाव ही अन्जन है जो कि दारिद्रता है। दारिद्रता का तात्पर्य है खराब प्रारब्ध[4] के साथ दारिद्रय। लक्ष्मी मद को नाश करने के लिए दूसरे भी अन्जन हैं किन्तु दारिद्रता उत्तम अञ्जन है कारण कि दारिद्रता केवलदोषों को ही नाश नहीं करती है, किन्तु गुणों को भी प्रकट करती है। गुणों को बताते हैं कि सब को अपने समान समझकर उन से अपने जैसा वर्ताव करते हैं जैसे अपने सुख के लिए और दुःख की निवृत्ति के लिए प्रयत्न करता है वैसे ही दूसरों को सुख प्राप्त हो और उनका दुःख निवृत्त उन के लिए भी प्रयत्न करता है। ॥ १३ ॥

आभास----आत्मौपम्येन भूताना दर्शनं दरिद्रस्यैव नान्यस्येत्यर्थे दृष्टान्तमाह यथेति।

आभासार्थ—जिस प्रकार दीन दूसरों को अपने समान समझता है उसी तरह दूसरे (धन वाले) नहीं समझते हैं। इसको दृष्टान्त देकर निम्न श्लोक में समझाते हैं।

श्लोक—यथा कण्टकविद्धाङ्गो जन्तोर्नेच्छति तां व्यथाम्।
जीवसाम्यं गतो लिङ्गैर्न तथाविद्धकण्टकः ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ—जिस पुरुष को कांटा लगा हो वह दूसरे को कांटा लगने की इच्छा नहीं करता है, वह मन में विचारता है कि कांटे लगने से मुझ जैसा दुःख हुआ है वैसा दुःख दूसरे को भी होगा और जिस को कांटा न लगा हो उस को ऐसा अनुभव न होने से ऐसा विचार नहीं आता है

---

* यस्यानुग्रह मिच्छामि हरिष्ये तद्धनं शनैः १०-८५-८ श्रीमद्भागवत।

१—दवा। २—कामला रोग में सबकुछ पीला दीखता है। ३—जन्म से। ४—भाग्य।

सुबोधिनी—दारिद्रं सर्वदुःखनिदानं, दारिद्रं गतः सर्वाण्येव दुःखान्यनुभवति, न त्वदरिद्रः प्रतिकारबाहुल्यात्, स्वानुभवेनैव कण्टकेन विद्धाङ्गः कण्टकव्यथामन्यस्मै न वाञ्छति जातामपि दूरीकरोति, लिङ्गैः स्वानुभवैः परदुःखज्ञापकैः कृत्वा जीवसाम्यं गतः सर्वेषु जीवेषु सन्मत्वं प्राप्तः, न तथाविद्धकण्टकः समत्वं प्राप्नोति ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थ—दरिद्रता सब दुःखों का कारण है, जो दरिद्री होता है वह सब प्रकार के दुःखों का अनुभव कर सकता है। धनाढ्य नहीं करता है क्योंकि धन के होने से वह दुःखों को मिटाने के सब उपाय कर सकता है। जिसको काँटा लगा है, वह उस से हुए दुःख के अनुभव से चाहता है कि दूसरों के भी काँटे न लगे। यदि किसी दूसरे को काँटा लग भी जाय तो उसको झट निकालने का प्रयत्न करता है। क्योंकि इससे उसमें जीवों में समभाव आ गया है–जिसको काँटा नहीं लगा है उसमें समानता का भाव उत्पन्न नहीं होता है ॥ १४ ॥

आभास—ननु तदापि दारिद्रस्य दुःखरूपत्वात् फलोतमत्वेपि स्वरूपतोनिष्टरूपत्वात् कथं स्तूयत इत्याशङ्क्याह।

आभासार्थ—दरिद्रता से उत्तम फल की प्राप्ति होते हुए भी दारिद्र्य दुःख रूप होने से उसका स्वरूप अनिष्टरूप है अतः उसकी प्रशंसा कैसे की जाती है? इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक से करते हैं।

श्लोक—दरिद्रो निरहंस्तम्भो मुक्तः सर्वमदैरिह।
कृच्छ्रं यदृच्छयाप्नोति तद्धि तस्य परं तपः ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ—सर्व प्रकार के मद से मुक्त और अहङ्कार रूप-स्तम्भ से रहित, दरिद्री पुरुष इस इच्छा से (अचानक) जो कष्ट पाता है तो वह कष्ट हो, उसके लिये बड़ा तप हो जाता है।

सुबोधिनी—दरिद्रस्येति, दारिद्रं मोक्षसाधकमतः स्वरूपतो दुःखरूपमपि तपोवदाशास्यमेव तस्य मोक्षसाधकत्वमाह दरिद्रः प्रथमतो निरहंस्तम्भः, अहंलक्षणः स्तम्भो निर्गतो यस्मात् मोक्षेहङ्काराभावः करणं, अहमित्यस्यात्मपरत्वव्यावृत्त्यर्थं स्तम्भपदं, अहंकारस्तम्भेनैवाज्ञानगृहं सुस्थिरं भवति, किञ्च सर्वमदैरपि मुक्तो भवति, यदृच्छयैवं च कृच्छ्रं क्लेशाधिक्यं प्राप्नोति, ततः किमत आह तद्धि तस्य परं तप इति, यत् कष्टेन तपः कर्तव्यं तत् तस्य स्वभावत एव सम्पद्यते, विहितत्वं त्वप्रयोजकम् ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थ—दारिद्रता मोक्ष देने वाली है। इसलिये स्वरूप से दुःख रूप होने पर भी, चाहने योग्य है। क्योंकि वह तपरूप है। दारिद्र्य मोक्ष साधक है इसको समझाते हैं कि दरिद्र[1]

१—दीन, गरीब।

अहंकार[1] रूप थम्भे वाला नहीं होता है अहंकार रूप थम्भा मोक्ष का प्रतिबन्धक[2] है। मोक्ष की प्राप्ति में अहंकार का अभाव ही साधन है। श्लोक में केवल 'अहं' पद न देकर 'अहं' के साथ 'स्तम्भ' देने का तात्पर्य बताते हैं कि 'अहं' शब्द का अर्थ 'ब्रह्म' भी होता है इसलिए साथ में स्तम्भ देकर यह समझा दिया है कि यहां अहं का अर्थ ब्रह्म नहीं है किन्तु मोक्ष में रुकावट डालने वाला अहंकार समझना चाहिए कारण कि अज्ञान रूपी गृह की पूर्ण रीति से स्थिरता[3] अहंकार रूप थंभे से होती है। दरिद्र में उसके न होने से उसमें अज्ञान नहीं रहता है जिससे उन दीन पुरुषों के दूसरे मद भी नष्ट हो जाते हैं। उसको अचानक जो विशेष कष्ट प्राप्त होते हैं वे ही उसके तप होते हैं। तपस्या करने में इन्द्रियों को रोकना आदि कष्ट साध्य है, वह इन्द्रियदमन तब इसका स्वतः स्वभाव से ही हो जाता है। तपस्या विधि अनुसार होनी चाहिए वह नियम यहाँ प्रयोजक (लागू)* नहीं होता है ॥ १५ ॥

आभास--किञ्च मोक्ष इन्द्रियजयो योगशास्त्रसिद्धः साधनत्वेन यथा साङ्ख्ये-हंकाराभावो दारिद्र इन्द्रियजयः स्वभावत एव भवति, तदाहनित्यमिति।

आभासार्थ--योग शास्त्र में मोक्ष की प्राप्ति के लिए इन्द्रियों को जीतना कहा है और सांख्य शास्त्र में अहंकार का अभाव बताया है। दीनता में इन्द्रिय-जय स्वभाव से ही हो जाता है इसको नीचे के श्लोक में कहते हैं।

श्लोक--**नित्यं क्षुत्क्षामदेहस्य दरिद्रस्यान्नकांक्षिणः।**
इन्द्रियाण्याशु शुष्यन्ति हिंसापि विनिवर्तते ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ--भूख से दुर्बल देह वाले और नित्य अन्न की चाहना वाले दरिद्री की इन्द्रियाँ निर्बल हो जाती हैं जिससे हिंसा भी निवृत्त हो जाती है।

---

*श्री पुरुषोत्तमजी 'प्रकाश' में कहते हैं कि—भगवान ने गीता में 'देवद्विगुरुप्राज्ञ' श्लोक में इन्द्रियनिग्रह-कर भगवच्चिन्तनादि करने की आज्ञा दी है। वह यहां स्वभाव से सिद्ध है। और यह तप विधिपूर्वक नहीं है उसके उत्तर में कहते हैं कि 'येन केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत' किसी प्रकार से भी मन कृष्ण में लगाए। इस न्यायानुसार पदार्थ की सिद्धि में ही तात्पर्य है विधि में नहीं है। विधि विहीन होती हुई भी अहंकार के अभाव से एवं इन्द्रिजय स्वतः होने से सत्फल की प्राप्ति होती है।

१—घमंड। २—रुकावट डालने वाला। ३—मजबूती।

सुबोधिनी—सर्वदा क्षुत्क्षामदेहस्यान्नकाङ्क्षिण इन्द्रियाण्याशु शुष्यन्ति, "विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिन" इतिवाक्याद्, **दरिद्रस्येतिहेतुः**, इन्द्रियप्रागल्भ्याभावादेव हिंसा निवर्तते ज्ञानेन्द्रिय प्रागल्भ्याभावाच्च तद्धेतुभूता तृष्णापि विषयाभावाच्च ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ—गीता के (विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः) आहार के अभाव से देहधारी का विषय निवृत्त[1] हो जाता है इस वचनानुसार यहाँ भी कहा जाता है कि भूख के कारण दुर्बल देह वाले और अन्न को चाहन वाले दरिद्री की इन्द्रियाँ शीघ्र ही शुष्क[2] हो जाती हैं कारण कि दरिद्री शरीर का पोषण करने में असमर्थ होता है। कर्म इन्द्रियाँ शिथिल हो जाने से हिंसा करनी भी छूट जाती है और ज्ञानेन्द्रियों में भी प्रतिभा[3] न रहने से और विषयों के अभाव से उनकी कारण भूत तृष्णा भी मिट जाती है ॥ १६ ॥

आभास—मनोरथरूपा तृष्णा त्ववशिष्यते, तस्या अपि निवृत्तिमाह दरिद्रस्यैवेति।

आभासार्थ—इन्द्रियों की शिथिलता से विषय भोग का अभाव हो जाता है तो भी मनोरथ रूप तृष्णा तो अवशिष्ट[4] रहती है दरिद्री की वह भी निवृत्ति हो जाती है यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**दरिद्रस्यैव युज्यन्ते साधवः समदर्शिनः।**
सङ्गैः क्षिणोति सन्तर्षं तत आराद् विशुध्यति ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ—सम दृष्टि वाले साधुओं का समागम भी दरिद्रों को ही होता है और उन के संसर्ग[5] से उसकी तृष्णा क्षीण हो जाती है जिससे वह शीघ्र ही निर्मल[6] हो जाता है।

सुबोधिनी—साधुसङ्गात् तृष्णापगमः, ते हि भगवत्प्रेरिता परिभ्रमन्ति लोकानामुद्धारार्थं, तेनावृतत्वाद् दरिद्रस्यैव गृहे गच्छन्ति, तेषां काण्डद्वयनिष्णातत्वमाह **साधवः समदर्शिन** इति, तत्रापि विश्वासार्थं सदाचार एव मुख्यः, तदाह **सङ्गैः क्षिणोति सन्तर्षमिति**, **सन्तर्षस्तृष्णा** समीचीनापि, धर्मार्थमपि यात्रार्थमपि वा धनाकाङ्क्षां, **ततः** शीघ्रमेव सिध्यति ॥ १७ ॥

व्याख्या—दरिद्र की वह (मनोरथरूप) तृष्णा भी साधुओं के संग से मिट जाती है वे भगवान् की प्रेरणा से लोकों के उद्धार के लिये चारों तरफ भ्रमण करते रहते हैं। उन दरिद्रों के द्वार सदैव साधुओं के लिये खुले रहते हैं। इसलिये साधुजन दीन मनुष्य के ही घर में जाते हैं।

१—दूर। २—सूख जाती ही, निकम्मी हो जाती है। ३—पूर्ण ज्ञान, पूरी समझ।
४—शेष, बाकी। ५—संग। ६—पवित्र।

वे साधुगण वेद के दोनों (पूर्व और उत्तर) काण्डों को यथार्थ समझ कर समदर्शी हो गए हैं तो भी दीन जन ही सदाचारी होते हैं इस विश्वास से, दीन के घर ही जाते हैं उन साधुओं के पधारने पर, वे दीनजन उनसे सतसंग कर तृष्णा को मिटाते हैं। अच्छे सत्कर्म करने के लिए (तीर्थ यात्रा आदि के लिए) जो तृष्णा हो तो वह भी मिट जाती है उसके मिट जाने से शीघ्र ही उसका फल (मोक्ष) सिद्ध हो जाता है।

आभास—ननु सन्तोपि भक्ष्यादिरहिते दरिद्रगृह कथं गच्छेयुः तत्राह साधुनामिति।

आभासार्थ—जहां भक्षणार्थ भोजनादि सामग्री का अभाव है वैसे दरिद्र के गृह में साधुगण क्यों जाते हैं ? इसके उत्तर में निम्न श्लोक हैं।

श्लोक---साधूनां समचित्तानां मुकुन्दचरणैषिणाम् ।
उपेक्ष्यैः किं धनस्तम्भैरसद्भिरसदाश्रयैः ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ--सब में सम चित्त वाले, मुकुन्द भगवान् के चरणों की चाहना वाले साधुजनों को नीचों के उपासक और स्वयं भी नीच तथा धन के कारण स्तम्भ जैसे बने हुए अहंकारी पुरुष उपेक्षा[1] करने योग्य हैं।

सुबोधिनी—सतां धनिनां च परस्परविरुद्धा धर्माः, ते हि साधवः सदाचाराः, ते ह्यसन्तोसदाचाराः, साधवस्तु समचित्ताः, ते तूपेक्ष्या एव विषमचित्ताः, समचित्तानां विषमचित्ता उपेक्ष्या एव भवन्ति, साधवस्तु मुकुन्दचरणैषिणो मोक्षदातुश्चरणान्वेषणपराः, अन्ये त्वसदाश्रयाः, असत्स्वेव हि धनं तिष्ठति, तदर्थं तच्चरणान्वेषिणो यतस्तपेवाश्रित्य तिष्ठन्ति, अतो धनस्तम्भैर्धनेन स्तम्भप्राया जाता गृहभारवाहकास्तैर्न किञ्चित् कृत्यमित्यर्थः ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ--साधुओं के और धनवालों के धर्म परस्पर विरुद्ध होते हैं अर्थात् दोनों के धर्म समान नहीं होते हैं जैसे कि साधुजन सदाचारण वाले, और वे (धनवान) असत् आचरण वाले होते हैं। साधु पुरुष सब में समान दृष्टि वाले और धनी विषम[2] दृष्टिवाले होते हैं। अतः समदृष्टि वालों के लिए विषम दृष्टि वाले उपेक्षा[1] करने योग्य हैं। साधु पुरुष मोक्षदाता मुकुन्द भगवान् के चरणों के ढूंढने में ही तत्पर रहते हैं दूसरे वे (असत् पुरुष) नीचों के आश्रय करने वाले होते हैं कारण कि धन नीचों के पास ही रहता है उनको धन की ही चाह होती है जिसके लिए वे उनका (नीचों का) आश्रय ढूंढते रहते, हैं और उनका ही आश्रय करते हैं। अतः धन

१—त्याग देने, छोड़े देने। २—भेदभाव।

से मदान्ध स्तम्भ जैसे बने हुए अनम्र[1] तथा घर के भार का वहन करने वाले असत् पुरुषों से साधुओं का कोई (किसी प्रकार का) सम्बन्ध नहीं है ।

श्लोक--तदहं **मत्तयोर्माध्व्या वारुण्या श्रीमदान्धयोः ।**
तमो मदं हरिष्यामि स्त्रैणयोरजितात्मनोः ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ--मैं माध्वी[3] वारुणी[2] से उत्पन्न हुए, धन के मद से अन्धे हुए, स्त्रियों के अधीन हुए, इन्द्रियों से जीते हुए इनका वह अज्ञान मद हरण करूँगा ।

सुबोधिनी—एकोप्यंशो नोभयोस्तुल्यः, अतः श्रीमदनिवृत्तिः कर्तव्या, दारिद्रं च सम्पादनीयं, निन्दितकर्मणा च स्थावरत्वं, मददूरीकरणं तु सतामावश्यकं, सतां दृष्टिर्हि ब्रह्मज्ञानवत् सर्वदोषनिवर्तिका, अन्यथा त्रिदोषयुक्ता नाशमेव यास्यन्तीति तयोर्दोषान् गणयति माध्व्या मत्तयोः, माध्वीपदेन रस्यत्वादनिवृत्तिः, फलं तु नाशकमेव, वारुणी दैत्यत्वसम्पादिका, श्रीमदेन चान्धौ स्त्रैणौ च, अतो दोषत्रयं दूरीकरिष्यामि तमोज्ञानं मदोजितेन्द्रियत्वं च ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थ—धनाढ्य और साधुओं में कोई भी अंश समान नही है । अतः श्रीमद से अन्धे बने हुए इन (नल कूबर और मणिग्रीव) दोनों का लक्ष्मी मद नाश करने के अर्थ इनको दरिद्र बनाना चाहिये । इनके निन्दित कर्म से इनको जड़ता प्राप्त होनी चाहिये । मद दूर करना सत्पुरुषों का आवश्यक धर्म है । साधु पुरुषों की दृष्टि ब्रह्म ज्ञान के समान दोषों को नष्ट करने वाली होती है यदि साधुजन दोषों को नाश करें तो त्रिदोष युक्त होने के कारण धनवान् नाश को प्राप्त हो जावेंगे अर्थात् अधोगति[4] पाएँगे । उन दोनों (नलकूबर और मणिग्रीव) के दोषों की गणना करते हैं । मधु से बनी हुई मदिरा से मत्त[5] हुए थे । यह मदिरा मधु से बनने के कारण, उसमें रस विशेष होने से वह छोड़ी नहीं जा सकती है । उसके पीने का फल तो नाश करने वाला होता ही है । वारुणी होने से दैत्य बना देती है । ये दोनों लक्ष्मी के मद से अन्धे और स्त्रियों में आसक्त[6] बन गए हैं । अतः इन के तीनों दोष (१-अज्ञात, २-मद और ३-इन्द्रियों के वश में होना) दूर करूँगा ॥ १९ ॥

आभास--एवं हेतुं निरूप्य शापमाह प्रसादान्तं त्रिभिर्यदिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार शाप के कारणों का निरूपण कर निम्न तीन श्लोकों से प्रसाद पर्यन्त शाप का वर्णन करते हैं ।

१—उद्दंड, कठोर स्वभाव वाले । २—शराब । ३—मधु से बनी हुई शराब ।
४—नीच गति । ५—मस्त । ६—लिप्त, लम्पट ।

श्लोक----**यदिमौ लोकपालस्य पुत्रौ भूत्वा तमःप्लुतौ ।**
न विवाससमात्मानं विजानीतः सुदुर्मदौ ॥ २० ॥

श्लोकार्थ---जो, ये दोनों लोकपाल के पुत्र होकर, अज्ञान से पूर्ण और अत्यन्त मद वाले हो गए हैं जिससे अपना नग्न होना भी नहीं जानते हैं।

कारिका----**दोषानुवादः शापश्च प्रसादश्चेत्यनुक्रमात् ॥ ½ ॥**

कारिकार्थ---पूर्व कहे हुए दोषों का अनुवाद (फिर कहना) शाप देना और प्रसाद (कृपा करना) ये तीनों विषय क्रम से २०-२१ और २२ श्लोक में कहे हैं।

सुबोधिनी—अनुवादमाह यद् यस्मात् कारणादिमौ लोकपालस्य कुबेरस्य रक्षायां प्रतिष्ठितस्य पुत्रौ भूत्वा | तत्पदाभिषेकयोग्यौ तमसा प्लुतौ किञ्च विवाससं नग्नमात्मानं च न विजानीतः, किञ्च सुदुर्मदौ ॥ २० ॥

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में दोषों का अनुवाद करते हुए कहते हैं कि रक्षा कार्य के लिये प्रतिष्टित लोक पाल, कुबेर के पुत्र और उसकी गद्दी पर बैठने के योग्य ये दोनों इतने अज्ञान से भरपूर हो गए हैं और अत्यन्त दुष्ट मद वाले हुए हैं जो अपने वस्त्र रहित (नग्न) होने को भी नहीं समझ सकते है ॥ २० ॥

आभास---अतो दोषत्रयेण स्थावरतां शुद्धतामसत्वमर्हतः, कर्मण एव तथाफलं भवतीति, ततः किमत आह यथा पुनरेव नैवं स्याताम् ।

आभासार्थ—इस कारण से (तीन दोष वाले होने से) ये शुद्ध तामसयोनि, जो स्थावर होती हैं उसके योग्य हैं। कारण कि कर्म का फल इस प्रकार का ही है इस योनि (वृक्षयोनि) को पाएंगे तो क्या होगा ? इसका उत्तर देते हैं कि स्थावर बनने से परिणाम[२] यह होगा कि ये पुनः ऐसे दुष्ट मद वाले अज्ञानी नहीं होंगे।

श्लोक---**अतोऽर्हतः स्थावरतां स्यातां नैवं यथा पुनः ।**
स्मृतिः स्यान् मत्प्रसादेन तत्रापि मदनुग्रहात् ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ---इसलिये ये स्थावर[१] होने के योग्य हैं जिससे फिर ऐसे मदान्ध न हो जाँय, यह मेरे प्रसाद से इन्हें स्मरण रहेगा और इन पर मेरा अनुग्रह वहाँ भी होगा।

१—वृक्ष, पेड़। २—फल, नतीजा।

कारिका—**ज्ञाननाशः क्रियानाशो भोगनाशस्तथैव च ।**
दुखं शीघ्रं चानिवृत्तिर्वृक्षत्वे हि भवन्ति वै ॥ १ ॥

कारिकार्थ—स्थावर होने पर क्या होता है उसका वर्णन इस कारिका में करते हैं ? १--ज्ञान का नाश, २ -क्रिया का नाश और उसी प्रकार, ३--भोग का नाश, ४--दुःख, ५–दुःख से छूटकारा शीघ्र न होना ये पांच वृक्ष योनि प्राप्त होने पर होते हैं ।

सुबोधिनी—ननु कर्मणैवैतद भविष्यति तव कः प्रसाद इति चेत् तत्राह स्मृतिः स्यान् मत्प्रसादेनेति, पूर्वजन्मवृत्तान्तस्मरणं शापेन वृक्षभावस्मरणं च यद्यपि वृक्षयोनौ न भवति सत्त्वांशाभावात् तथाप्यहं भगवत्कृपया सर्वभावं प्राप्त इति मदंशो गुप्त एव तत्रापि वर्ततेग्निवदत्राहं चेत् प्रसन्न उद्रिक्तसत्त्वगुणस्तदा मदंशस्तत्रापि प्रकटो भविष्यतीति स्मृतिः स्यात्, तत्रापि तस्मिन्नपि जन्मनीदानीमपि, किञ्चाधिकोनुग्रहोपि क्रियते प्रसादस्तु स्वधर्माविर्भावः, अनुग्रहस्तु परदोषाणां स्वीकारः अतस्तदीयदोषोंस्माभिर्गृहीत इति कर्मफलस्यापि भोगात् ॥ २१ ॥

व्याख्यार्थ—जब कर्म के फल से स्वतः वृक्षयोनि प्राप्त होती है तो नारदजी की कृपा कैसी ? वहाँ कहते हैं कि यद्यपि वृक्षयोनि जड़ है जड़योनि में सत्वगुण का अंश नहीं है अतः उस योनि में किसी प्रकार की स्मृति नहीं रहती है किन्तु मैं (नारद) भगवत् कृपा से सर्वभाव को प्राप्त होने से सर्वत्र हूँ, इसलिये उन गुह्यकों की इस वृक्षयोनि में मेरा अंश अग्नि के समान गुप्त रूप से रहेगा । जिससे वृक्षयोनि में भी इनको पूर्वजन्म के कृत्यों की और मेरे शाप से वृक्ष होने की स्मृति रहेगी । यह मेरे प्रसाद का फल है । नारदजी कहते हैं कि यदि मैं प्रसन्न हो जाऊँ अर्थात् विशेष सत्व गुण धारण करूँ तो मेरा अंश वहाँ भी प्रकट होगा जिससे इस जन्म और उस जन्म (दोनों जन्मों) में भी स्मृति रहेगी और विशेष अनुग्रह भी करता हूँ । श्लोक में 'प्रसाद' और 'अनुग्रह' दोंनों शब्द एक ही अर्थ वाले हैं किन्तु दो बार कहने से उनके भाव पृथक् पृथक् हैं उसको आचार्यश्री समझाते हैं प्रसाद कहने का भाव है अपना धर्म उसमें प्रकट करना जैसे नारदजी ने अपना धर्म-सतोगुण वृक्षों में गुप्तरूप से धरा है । अनुग्रह कहने का तात्पर्य है कि दूसरों के दोष स्वयं ग्रहण कर* उन दोषों के कर्म का फल भोग कर लेना ॥ २१ ॥

श्लोक- --**वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा दिव्यशरच्छते ।**
वृत्ते स्वलोकतां लब्ध्वा लब्धभक्ती भविष्यथः ॥ २२ ॥

---

* नारदजी ने इन गुह्यकों के शेष दोष ग्रहण किये हैं ।

श्लोकार्थ----दिव्य सौ वर्ष बीतने के अनन्तर भगवत्सान्निध्य प्राप्त कर (भगवान् के दर्शन पाकर) स्वलोक को प्राप्त करोगे उस योनि में भगवान् की भक्ति वाले होवो ।

सुबोधिनी—वासुदेवस्य सान्निध्यं प्राप्स्यथः, पुरुषापराध इति पुरुषायुःपर्यन्तं भोगः, देवत्वाद् दिव्यं दिव्यशरच्छते वृत्तीतीते वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा ततः स्वलोकतां च लब्ध्वा नलकूबरत्वं च प्राप्य पूर्वावस्थातो विशिष्टौ लब्धभक्ती भविष्यथो भक्तिस्तत्र प्रातव्या, अनेनाप्राप्तभक्तेरेव स्वसाधनरूपा भक्तिर्भवति गच्छति चानयोस्तु नैसर्गिकी रतिर्भविष्यतीतिभावः ।। २२ ।।

व्याख्यार्थ--मनुष्य यदि वैसे कर्म करे जिनसे वृक्षयोनि को पावे तो वह मनुष्य मनुष्यों की सौ वर्ष आयु जितनी वृक्षयोनि भोग कर उससे छूट जाता है । ये देव हैं इसलिये इनको यह वृक्षयोनि देवताओं के सौ वर्ष तक भोगनी है । जब देवताओं के सौ वर्ष पूरे होंगे तब आपको भगवान् के दर्शन होंगे और देवयोनि की प्राप्ति होगी । और भगवान् की स्वाभाविकी रतिरूपा स्थिर-भक्ति की प्राप्ति होगी जिनमें भक्ति नहीं है वे साधनों द्वारा भक्ति प्राप्त करते हैं, वह भक्ति स्थिर नहीं रहती है आपकी तो स्थिर रहेगी ।। २२ ।।

आभास--एवमुक्त्वा ब्रह्मवाक्यमन्यथा न भविष्यतीति तादृशवाक्यमुच्चार्य ततो गत इत्याह स एव मिति ।

आभासार्थ—ब्राह्मण का वचन टल नहीं सकता है इस प्रकार के वचनों का उच्चारण कर नारदजी वहाँ से रवाने हो गए इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

।। श्रीशुक उवाच ।।

श्लोक--स एवमुक्तो देवर्षिर्गतो नारायणाश्रमम् ।
नलकूबरमणिग्रीवावासतुर्यमलार्जुनौ ।। २३ ।।

श्लोकार्थ--श्री शुकदेवजी बोले कि ऐसे कहकर देवर्षि नारदजी नारायण के आश्रम को गए नलकूवर और मणिग्रीव यमलार्जुन हो गए ।

सुबोधिनी—स नारदो देवगुह्यकर्ता, एवमुक्तः कर्त्तरिक्तः, पश्चान्नारायणाश्रमं गतस्तद्दोषपरिहारार्थं, तज्ज्ञानार्थं देवर्षिरिति, मिलितानां मध्ये नारदस्य गमनमुक्त्वा नलकूबरयोराह नलकूबरमणिग्रीवाविति, यमलार्जुनौ वेकत्रोत्पन्नौ मूले मिलितौ, अर्जुनो जातिविशेषः ।।२३।।

व्याख्यार्थ----नारदजी देवताओं के गुह्य कार्य करने वाले हैं, वे इस प्रकार कह कर गुह्यकों† के जो दोष नारदजी ने लिये थे, उन दोषों को मिटाने के लिए नारायण के आश्रम

† 'उक्त' शब्द में क्त प्रत्यय कर्तरि प्रयोग में कहा है ।

में गए। वहाँ दोष मिटेंगे यह उनने कैसे जाना इसलिये श्लोक में नारद जी को देवर्षि कहा गया है। ऋषि त्रिकालज्ञ[1] होते हैं ये तो देव और साथ में ऋषि भी हैं इसलिये इनको यह ज्ञान पहले ही था। वहां जो देव स्त्रियां और नारद जी इकट्ठे हुए थे उन में से नारदजी चले गए। अब नल कूबर के सम्बन्ध में कहते हैं कि वे अर्जुन वृक्ष की योनि को प्राप्त हुए। उस का प्रकार बताते हैं कि जड़ तो एक थी और ऊपर दो पेड़ हो गये थे इसलिये साथ में उत्पन्न होने से 'यमलार्जुन' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं॥ २३॥

आभास---एवं शापदातुः प्रायश्चितं शापग्रहीतुः शापफलप्राप्तिश्चेति निरूप्य स्मृतिरपि तत एव भविष्यतीति तामनुक्त्वानुग्रहफलं भगवत्सान्निध्यं।

आभासार्थ—इस प्रकार शाप देने वाले (नारदजी) ने प्रायश्चित्त किया (नारायणाश्रमतीर्थ पर गए) और जिन नलकूबर मणिग्रीव को शाप मिला उस का फल उन्होंने पाया यह वर्णन कर, स्मरण भी नारदजी के प्रसाद से होगा उस को न कहकर, उन को अनुग्रह का फल भगवान् का सान्निध्य[2] हुआ। इस का वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक---**ऋषेर्भगवतस्तस्य सत्यं कर्तुं वचो हरिः।**
जगाम शनकैस्तत्र यत्रास्तां यमलार्जुनौ॥ २४॥

श्लोकार्थ---वे भगवान् देवर्षि के वचन सत्य करने के लिये जहाँ यमलार्जुन थे वहाँ हरि (श्रीकृष्ण) धीरे-धीरे पधारे।

सुबोधिनी—तयोर्जातमित्याहर्षेरिति, स हि भाव्यर्थं जानात्येव तज् ज्ञात्वैव तथोक्तवानिति, किञ्च भगवतापि स्वकृपया तस्मिन् भगवत्त्वं सम्पादितं, तदाह भगवत इति, तस्यर्षित्वं भगवत्त्वं वाक्यसत्यत्वं च कर्तुं, स्वयं च सर्वदुःखहर्ता, यत्र यमलार्जुनावास्तां तत्र शनकैर्जगामादावेव, आरावे पुनः स्त्रीणामनुसरणं भविष्यतीति भगवानेवम्प्रकारेण तत्र गतस्तौ ज्ञापयितुं यत्र स्त्रियो मामेवं कुर्वन्ति तत्र युवां कथं न करिष्यन्त्यतः स्त्रीसंगो न कर्तव्य इति तदानीमपि स्त्रीदर्शनाभावाय शनैर्गतः, तयोरागमनं न सम्भावितमिति यत्र तावेवास्तां तत्र स्वयंगतः॥ २४॥

व्याख्यार्थ—उन नारदजी ने इस प्रकार के वचन 'वृक्षयोनि में भी आपको भगवत्सान्निध्य होगा,' 'भगवान् की भक्ति सिद्ध होगी' 'स्मरण रहेगा' कैसे कहे? इस शंका को मिटाने के लिये श्लोक में ऋषि विशेषण देकर बताया है कि वे (नारदजी) भावी[3] अर्थ[4] को जानने वाले हैं इसलिए उन्होंने ऐसे वचन कहे और भगवान् ने अपनी कृपाकर उन (नारदजी) में अपना भगवत्व स्थापित

१—भूत, वर्तमान और भविष्य का ज्ञान वाले। २—समीप, निकट या पास में
३—आगे होने वाले। ४—कार्य, काम।

किया है इसलिये श्लोक में उनके लिए दूसरा विशेषण 'भगवतः' दिया है। उन (नारदजी) का भगवत्त्व[1] ऋषित्व[2] और वाणी सत्यकृत्व[3] सिद्ध करने के लिये एवं आप भी 'हरि' सर्व दुःख हर्ता[4] हैं इसलिये जहाँ वे (यमलार्जुन) थे वहाँ आप पधारे। कैसे पधारे ? इस प्रकार धीरे-धीरे गए कि थोड़ासा शब्द[5] न हो, शब्द होगा तो वहाँ स्थित स्त्रियाँ चली आएँगी, उन (स्त्रियों) का आना भगवान् को अभीष्ट[6] न था कारण कि भगवान् ने सोचा कि जो स्त्रियाँ मुझे भी बन्धन में डालती हैं वे इनको बन्धन में कैसे नहीं डालेंगी। अतः भगवान् ने धीरे-धीरे जाने की क्रिया से उनको स्त्री-दर्शन नहीं कराए और इससे यह शिक्षा दी कि स्त्रियों का संग नहीं करना चाहिये। जहाँ वे (वृक्ष) थे वहाँ आप (हरि) गए क्योंकि वे जड़ थे आ नहीं सकते थे ॥ २४ ॥

आभास--एवं भगवत्सेवकेषु भगवत्कृपा, अतो भगवत्सेवकानुवृत्तिः कर्तव्येति गत्वा भगवान् यमलार्जुनयोर्भङ्गं करिष्यतीति तत् कुतः सान्निध्यं तु वरप्राप्तं तथैव च भक्तिरपि भविष्यति सानिध्यादेवेदं शरीरं परित्यज्य नलकूबरत्वमेव प्राप्स्यतोतो भङ्गोनुचित इत्याशङ्क्य भगवतोभिप्रायमाह देवर्षिरिति।

आभासार्थ—भगवान् की भगवद्भक्तों पर ऐसी कृपा होती है जो भक्तों के वचन सत्य करने के लिए आप वहाँ गए और इससे यह शिक्षा दी कि सब को मेरे भक्तों की इच्छा के अनुसार कर्तव्य करने चाहिए। यहाँ शङ्का होती है कि नारदजी ने उनको भगवान् के समीप होने और भगवान् की भक्ति को पाने का अनुग्रह रूप वरदान दिया था जिससे सान्निध्यमात्र से इस (वृक्ष) शरीर को छोड़कर पुनः उस देवयोनि में नलकूबर बन जाते और भगवान् की भक्ति पालते। तब भगवान् ने जो वृक्ष को तोड़ देने का कर्म अनुचित किया ? इसके उत्तर में भगवान् के अभिप्राय को निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक----**देवर्षिर्मे प्रियतमौ यदिमौ धनदात्मजौ।**
तत् तथा साधयिष्यामि यद् गीतं तन् महात्मना ॥ २५ ॥

श्लोकार्थ--देवर्षि नारद मेरे परम प्रिय हैं, और ये दोनों कुबेर के पुत्र हैं, वह उसी प्रकार सिद्ध करुँगा जिस प्रकार उस महात्मा ने कहा है।

सुबोधिनी—एकमत्र सन्दिग्ध, स्मृतिर्जाता न वेति, तदपि प्रकटीकर्तव्यममर्यादरूपं च, देवर्षिराह यत् सत्त्वगुणोद्रेकेपि दुर्लभं तदतितामसे भवत्विति, ननु तन् मिथ्यैव भवत्वविचारितवचनादि-

---

१—भगवान् पन। २—ऋषिपन। ३—वाणी की सत्यता। ४—सब दुखों को मिटाने वाला।
५—खटका। ६—इच्छित, पसन्द।

त्याशाङ्क्याह मे देवर्षिः प्रियतम इति, आर्षज्ञानमर्यादा भज्येत, नारदश्च मदीयः, यन् मत्सेवकैः कृतं तन् मयैव कृतमिति, तत्राप्यत्यन्तं प्रियः प्रीतिविषयः, अतः स्नेहात् सर्वमेव कर्तव्यं, अन्यथा स्नेहमर्यादापि न स्यात, यद् यस्मादिमौ च धनदात्मजौ, कुबेरोतिभक्तः, अतो मूल-भावश्च शुद्धः, अतस्तावन्तमर्थं त्याजयित्वा धनदांशे भवत्युपयोग्यंशं योजयित्वा तत्रैव स्वयं प्रविश्य शुष्कौ कृत्वा स्वाधिदैविकभावेन तद् विदीर्णं विधाय तत उद्धृत्य दृढभक्ति कर्तव्यौ तदा नारदवाक्यं सत्यं भवति, तथैवाहं साधयिष्यामि यत् तेन गीतं तत् तथा, ननु किं परार्थ एतावानुद्यमः ? तत्राह महात्मनेति महानेव तस्यात्मा, महत्त्वं भगवत्प्रवेशात् ॥ २५ ॥

व्याख्यार्थ—यहां शेष[1] एक संशय रहता है वह यह है कि उनको स्मरण हुआ या नहीं ? इसको प्रकट करना चाहिये । नारदजी ने जो वृक्षयोनि में इनको स्मरण होने का कहा है वह मर्यादा रहित है क्योंकि स्मरण तो मनुष्य योनि में भी जब विशेष सतोगुण बढता है तब होता है यह वृक्षयोनि तामस है उसमें स्मरण कैसे होगा ? इसलिये यह नारदजी का कहना झूठ होगा, कारण कि नारदजी ने विचार करके नहीं कहा है । इस प्रकार की शङ्का मिटाने के लिए भगवान् ने कहा है कि नारदजी मेरे प्रिय नहीं, किन्तु प्रियतम (अत्यन्त प्यारे) हैं । यदि नारदजी के वचन मिथ्या होंगे तो आर्षज्ञान (ऋषि त्रिकालज्ञ होते हैं वे जो भी कहते हैं वह सत्य ही होता है) की मर्यादा नष्ट हो जायगी और नारदजी मेरे भक्त हैं, भक्तों ने जो कहा और किया वह मैंने ही किया । अत्यन्त प्रीतम के लिए स्नेह होता है, स्नेह के कारण भक्तों के सर्व कार्य, पूर्ण करने ही चाहिये यदि न किए जाएँगे तो स्नेह की मर्यादा न रहेगी । इसके अतिरिक्त ये कुवेर के पुत्र हैं । कुबेर पूर्ण भक्त है अतः इनकी (नलकूबर और मणिग्रीव की) जड़ शुद्ध है । इसलिए इन में जो धन मद का अंश है उसको नष्ट कराके उस स्थान पर भक्ति का अंश (भाव) प्रकट करके उसमें स्वयं प्रवेश कर दोनों को शुष्क करके अपने आधिदैविक भाव से उनको (वृक्षों को) गिराकर उस (वृक्षत्व) में से उन दोनों का उद्धार कर उनको दृढ़ भक्ति वाले बनाएंगे । तब नारदजी के वचन सत्य प्रमाणित होंगे । इसलिए मैं वैसा ही कर्म (लीला) करुँगा जैसा कि उन्होंने (नारदजी ने) कहा है । दूसरों के लिए इतना उद्यम क्यों ? इसके उत्तर में श्लोक में कहा है कि, 'महात्मना' । देवर्षि नारदजी महान् आत्मा है । महान् आत्मा वह है जिस आत्मा में भगवान् ने प्रवेश किया हो । अतः भगवान् के प्रवेश होने से ही नारदजी महान् आत्मा हैं ।

आभास—इति विचार्य भगवानुभयोरन्तः प्रविष्ट इत्याहेत्यन्तरेणेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार विचार करके भगवान् ने दोनों वृक्षों के बीच में प्रवेश किया ।

१—बाकी ।

श्लोक---इत्यन्तरेणार्जुनयोः कृष्णस्तु यमयोर्ययौ ।
आत्मनिर्वेशमात्रेण तिर्यग् गतमुलूखलम् ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ---इस प्रकार विचार करके श्रीकृष्ण यमलार्जुन वृक्ष के बीच में से निकलने लगे, आत्मा के प्रवेशमात्र से ऊखल टेडा हो गया ।

सुबोधिनी---यमयोरर्जुनयोरनन्तरा कृष्णो ययौ, केवलं बहिरेव ययाविति पक्षं दूषयितुं तुशब्दः, सदानन्दरूपत्वाद् दोषो दुःखं च तयोस्तदानीमेवनिवृत्तं, भगवत्सम्पृक्तं तूलूखलं दारूभयं भवतीति स्वसजातीयोद्धारार्थमात्मनो भगवतो वृक्षयोर्निर्वेशमात्रेणोलूखलं तिर्यग्भूतं जातं, ऋजुत्वे तु तदपि मध्ये निर्गच्छेत् तदा तु पुनर्भगवत्सम्बद्धं यदि सजातीयं न मोचयेत् तदा स्वस्याधिदैविकत्वं जातं व्यर्थं स्यात् ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ---यमलार्जुन के बीच में श्रीकृष्ण गए । श्लोक के 'तु' अक्षर का भाव बताते हैं कि भगवान् केवल बाहिर ही उपस्थित नहीं हुए किन्तु भीतर गए क्योंकि आप सदानन्द† रूप हैं उन (भगवान्) के प्रवेश से वृक्षों के दोष और दुःख उसी समय निवृत्त हो गए---भगवान् से बन्धा हुआ ऊखल* लकड़ी का था । इसलिये अपनी जाति काष्ठ (वृक्ष)‡ के उद्धारार्थ भगवान् का वृक्षों के बीच में प्रवेश होते ही ऊखल टेढा हो गया यदि टेढा न होता और सीधा ही रहता तो वह ऊखल भी वृक्षों से निकल जाता जिससे वृक्षों का उद्धार न होता तो भगवान् से सम्बन्धवाला होकर भी अपनी जाति वाले को यदि न छुड़ावे तो उनका आधिदैविकत्व व्यर्थ हो जाता ॥२६॥

आभास---एवमुलूखले तिर्यक्प्रकारेण पतिते भगवान् यत् कृतवांस्तदाह बाले नेति ।

आभासार्थ---इस प्रकार जब ऊखल टेडा हो गया तब भगवान् ने जो कुछ किया उसका वर्णन इस निम्न २७ वें श्लोक में करते हैं ।

श्लोक---बालेन निष्कर्षयतान्वगुलूखलं तद् दामोदरेण तरसोत्कलताङ्घ्रिबन्धौ ।
निष्पेततुः परमविक्रमितातिवेपस्कन्धप्रवालविटपौ कृतचण्डशब्दौ ॥ २७ ॥

---

* गो० पुरुषोत्तमजी 'प्रकाश' में कहते हैं कि पद्मपुराण के वचनानुसार श्रीकृष्ण को ऊखल में जब बान्धा तब वे २८ मास के थे और वह दिन मार्ग शीर्ष सुदि प्रतिपदा थी ।

† पुरूषोत्तमजी प्रकाश में कहते हैं कि भगवान् ने यह विचार किया कि यदि मैं कुछ न करूँगा तो नारदजी के वचन सिद्ध न होंगे ।

‡ लेखकार गो० वल्लभलालजी 'लेख' में कहते हैं कि श्रीकृष्ण सद्रूप है उन सद्रूप के प्रवेश से वृक्षों के दोष नष्ट हुए और श्रीकृष्ण आनन्दरूप भी हैं उस आनन्दरूप के प्रवेश से वृक्षों के दुःख दूर हो गए ।

श्लोकार्थ----टेढ़े ऊखल को बालरूप भगवान् दामोदर के खेंचते हुए उन वृक्षों की जड़ें उखड़ पड़ीं और उन दोनों वृक्षों के तने, पत्ते और शाखाएँ परम पराक्रमवालों के समान अतिशय काँपने लगी और प्रचण्ड[1] शब्द करते हुए वे वृक्ष गिर पडे ।

सुबोधिनी—उलूखलं निष्कर्षता बालेन तरसोत्कलिताङ्घ्रिबन्धौ निष्पेततुः, भूमेर्भगवत्सम्बन्धादार्द्रता सात्त्विकभावात्, अतः शिथिलसर्वभागावाकर्षेणोत्कलिताङ्घ्रिबन्धौ जातौ, अन्वगनुकूलतयाकृष्टं यथा भवति तथोलूखलं नितरां कर्षतेति, उलूखलाकर्षणेन तावप्याकृष्टौ, अन्वगीषदिति वा, दामोदरेत्यन्वर्थनाम, बालस्योदरेणाकर्षणमल्पमेव भवति तत्राप्यूलूखलस्य स्थूलस्य, रज्जुरपि सूक्ष्मात्याकर्षेण नश्येत् अनेनापि साक्षाद्भगवानित्युक्तं, रज्जूलूखलयोरभङ्ग्यर्जुनयोर्भङ्गात्, उपपत्तिस्तु रज्जुर्भगवद्रूपेति पूर्वमुक्तं, उलूखलं त्वाधिदैविकं रूपं प्राप्तवत्, अतो युक्तमेव मूलतः पतनं, क्रियाशक्तेरल्पीयस्या अप्युद्भताया महत् कार्यं जातमित्याह परमविक्रमितातिवेपस्कन्धप्रवालविटपाविति, परमं विक्रमं प्रापितौ परमविक्रमितौ यथा भीमेन हनुमता वा बलाच्चाल्येत परमविक्रमितयोरिव योयमतिवेपः स्कन्धप्रवालविटपानां ययोः, स्कन्धस्य चलनमतिकठिनं ततोप्यल्पप्रवालानां पृथक्तया चलनमत्याश्चर्यं ताभ्यां युक्तानां विटपानां चलनमिति, किञ्च कृतश्चण्डः शब्दो याभ्यां, पाते महाञ्छब्दः, आसुरभावस्य वा नाशदशायां तदभिमानिनः शब्दः, एवमसुरनाशिकाया भगवत्क्रियाशक्तेर्माहात्म्यमुक्तम् ॥२७॥

व्याख्यार्थ—भगवान से सम्बन्ध होते हुए भी पृथ्वी में सात्त्विक भाव आने से उसकी शुष्कता[2] मिट गई और उसमें आद्रता[3] आ गई जिससे जड़ से लेकर सर्वभाग ढीले पड गये । अतः बाल-रूप दामोदर भगवान् के टेढे ऊखल को खेंचते ही वे (वृक्ष) भी पीछे-पीछे खिच आए और बहुत शीघ्र ही उनकी जड़ें उखड़ पड़ीं और स्वयं दोनों वृक्ष गिर पड़े । भगवान् का दामोदर नाम सार्थक था, क्योंकि उस समय भगवान् का उदर[4] रज्जु[5] से बांधा हुआ था । इस लीला से यह बताया कि यह बालक साक्षात् भगवान् है कारण कि बालक के उदर से खेंचान छोटे पदार्थ की हो सकती है पर यहाँ तो स्थूल[6] ऊखल को खींचना था, रज्जु भी पतली थी जो कि जोर से खींचने से वह टूट जाती ये सब कारण बालक का साक्षात् भगवान् होना प्रमाणित करते हैं । इतने बड़े वृक्ष तो जड़ से उखड़ कर टूट गए किन्तु न रज्जु टूटी और न ऊखल फूटा (यह विशेष आश्चर्य कारक हुआ) उपपत्ति[7] बताते है कि रज्जु साधारण रज्जु नहीं थी किन्तु भगवान् स्वयं रज्जु रूप हो गए थे इसलिए रज्जु टूटी नहीं । ऊखल की भी भगवत्स्पर्श होने से आधिभौतिकता नष्ट हो गई थी और उसका आधिदैविक रूप हो गया था जिससे वह फूटा नहीं अतः इनके द्वारा वृक्षों का गिर पड़ना योग्य ही है । भगवान् ने अपनी अल्प[8] ही क्रिया शक्ति प्रकट की, जिससे इतना महत् कार्य सम्पन्न हुआ उसका वर्णन वृक्षों के इन दो विशेषणों से प्रकट करते हैं । अतिशय सामर्थ्य वाले भीम अथवा हनुमान के चलाने जैसा कम्पन हो वैसा कम्पन, जिनके तनों पत्तों और शाखाओं में हो रहा था । पेड़ के तने का चलना अति कठिन है उससे भी पत्तों का

१—घोर शब्द । २—सूखापन । ३—गीलापन । ४—पेट ।
५—रस्सी । ६—भारी । ७—सिद्धान्त या प्रमाण । ८—थोड़ीसी ।

दामोदर लीला

उनसे पृथक होकर चलना आश्चर्य कारक है और दोनों से इकट्ठी शाखाएँ भी हिल रही थीं। इस प्रकार कांपते हुए वृक्ष गिर पड़े जिनके गिरने का महान् शब्द हुआ अथवा भगवान् के सान्निध्य से उनका जो आसुर भाव नष्ट हुआ उस आसुर भाव के अभिमानी देवता का यह महान् शब्द था। इस प्रकार इस श्लोक में आसुर भाव को नाश करने वाली भगवान् की क्रिया शक्ति का माहात्म्य कहा है।

आभास----एवं तयोर्दोषपरिहारमुक्त्वा गुणमाह तत्रेति।

आभासार्थ---इस प्रकार उनके दोषों के नाश का वर्णन कर अब निम्न श्लोक में गुणों का वर्णन करते हैं।

श्लोक—**तत्र श्रिया परमया ककुभः स्फुरन्तौ सिद्धावुपेत्य कुजयोरिव जातवेदाः।**
कृष्णं प्रणम्य शिरसाखिललोकनाथं बद्धाञ्जली विरजसाविदमूचतुः स्म ।२८।

श्लोकार्थ----वहाँ इन दोनों वृक्षों में से मूर्त रूप अग्नि की तरह प्रकट होकर दिशा के प्रकाश से शोभित दोनों सिद्धों ने लोकों के नाथ श्रीकृष्ण के पास आकर मस्तक से प्रणाम किया और निर्दोष होने से हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे।

सुबोधिनी—**परमया श्रिया** दश दिशः स्फुरन्त्यो जातास्तावपि स्फुरन्तौ सन्तावुपेत्येतिसम्बन्धः, अस्यैव स्फुरच्छब्दस्य विभक्तिलिङ्गविपरिणामेन दिक्शब्देनापि सम्बन्धः, प्रकाशमानया तत्सम्बन्धिन्या वा कृत्वा तत्र देशे तयोर्वृक्षयोर्वा स्फुरन्तौ निर्गच्छन्तौ **श्रिया** विराजमानौ ततो निर्गतौ, ककुभः सम्बन्धि तेजो विद्युति दृष्टं, अत एव परमशोभात्वेन निर्दिष्टं, यथा दामोदरेण मोचनमेवं नग्नेनापि पीताम्बरतुल्यतेजःसम्पादनमित्यद्भुतच रित्रमुक्तं, निर्गमनात् पूर्वमेव यावदभीष्टं तावद् रूपं सम्पन्नमिति सिद्धौ, कुजयोर्वृक्षयोः सकाशादागत्य भगवन्निकटे, पूर्ववृत्तान्तज्ञानवतामपि भ्रममिवोत्पादयन्तौ ताविति दृष्टान्तेनाह **जातवेदा इवेति**, दृष्टान्तेपि द्वित्वमत्यन्तदुर्लभं, कुजयोररणिद्वयरूपयोः सकाशाद् यथा श्रौतोग्निर्भवति, **जातो वेदो** यस्मात्, क्रियाकाण्डनिमित्तजन्मा वह्निरित्येत्यर्थः, ततो भगवन्तं **प्रणम्य** पूर्वज्ञानस्य दार्ढ्याच् छिरसेति, साष्टाङ्गनमस्कारं भूमौ कृत्वा देवानामितरनमस्कारशङ्का भूमिसम्बन्धी शङ्कां च व्युदस्य **बद्धाञ्जली** भूत्वा भगवन्तं वक्ष्यमाणप्रकारेणोचतुः **स्मेतिसम्बन्धः**, शापविमोक्षे जातेपि भगवन्तमपृष्ट्वास्तुत्वा च न गन्तव्यं यतो भगवानखिललोकनाथः सर्वलोकाधिपतिः स्वयमेकलोकाधिपतेः पुत्रौ तदाज्ञाव्यतिरेकेण गते तस्मिँल्लोके स्थितिरपि न स्याद् भक्तिस्तु दूरे, **अञ्जलिबन्धो** विज्ञापनार्थः, तादृशयोः कथं भगवत्स्तोत्रेधिकार इत्याशङ्क्याह **विरजसाविति** अत्रासम्भावनाव्युदासाय **स्मेति**प्रसिद्धिरुक्ता ।। २८ ।।

व्याख्यार्थ---विशेष श्री से (प्रकाश या तेज से) दश दिशाएँ प्रकाशित हो गईं*

---

* श्लोक में 'स्फुरत्' शब्द पुल्लिंग और द्विवचन है इस के लिये आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि इस 'स्फुरत्' शब्द के लिङ्ग और विभक्ति का परिवर्तन करने से दिशा वाचक 'ककुभ्' शब्द से भी उसका सम्बन्ध हो सकता है। इसलिये उसके दो प्रकार से अर्थ होते हैं—जैसाकि १-प्रकाशमान होती हुई दिशा, अथवा २-तेज से सम्बन्धित दिशाओं के कारण तेज से शोभित। एक जगह 'ककुभः' प्रथमा का बहुवचन और दूसरी जगह ककुभः षष्ठी का एक वचन होता है।

वे दोनों भी यमलार्जुन वृक्ष में से तेज युक्त प्रकट होकर श्रीकृष्ण के पास गए और निम्न प्रकार से कहने लगे। दिशा के सम्बन्ध वाला तेज बिजली में दृष्टिगोचर होता है इस कारण ही उसको परम शोभा वाला कहा है। जैसे दामोदर मुक्त करते हैं, वैसे गुह्यक भी पीताम्बर के समान तेज सम्पादन करते हैं यह भगवान् का अद्भुत चरित्र कहा गया है।

वृक्ष में से निकलने के पूर्व जैसा रूप चाहते थे वैसा ही रूप प्राप्त हुआ। इसलिये श्लोक में इनको 'सिद्धौ' विशेषण दिया है जिसका तात्पर्य यह है कि इन्होंने अपना कार्य सिद्ध कर लिया। दोनों वृक्षों से प्रकट होकर सीधे भगवान् के पास आए थे। पूर्व से पहचानने वालों को भी इनके इस प्रकार तेज युक्तरूप से भ्रम-सा हो गया कि ये वे नलकूबर-मणिग्रीव हैं या कोई दूसरे हैं ? क्योंकि इनका रूप वैसा प्रकाश स्वरूप देखने में आया, जैसे कि अरणी[1] के संघर्ष[2] से उत्पन्न यज्ञ की प्रकाश स्वरूप अग्नि हो। वहाँ भगवान् के समीप आने के पश्चात् प्रथम भगवान् को मस्तक से प्रणाम करने लगे। मस्तक से प्रणाम करने का आशय यह है कि उनको पूर्व ज्ञान दृढ़ था, वह नष्ट नहीं हुआ था। पृथ्वी पर स्थिति हो साष्टाङ्ग नमस्कार कर हाथ जोड़ के निम्न प्रकार से प्रार्थना करने लगे। देव दूसरों को नमस्कार नहीं करते हैं और न पृथ्वी पर पदार्पण[3] करते हैं। इन दोनों कार्यों का इन्होंने इसलिये तिरस्कार कर दिया कि भगवान् सर्वलोकों के अधिपति हैं और हम तो एक लोक के अधिपति के पुत्र हैं। शाप मुक्त हो गए हैं, तो भी भगवान् की स्तुति करने और आज्ञा लिए बिना कैसे चले जावें अर्थात् नहीं चलना चाहिये। इनकी आज्ञा के बिना चलने से उस लोक में भी स्थिति नहीं होगी। जब वहाँ ही स्थिति न होगी, तो भक्ति की प्राप्ति तो दूर रही। हाथ जोड़ने का भाव यह है कि हमारा कहना केवल कहना नहीं है किन्तु प्रार्थना है। ऐसे अहङ्कारियों को भगवान् की स्तुति का अधिकार कैसे प्राप्त हुआ ? इस शंका को मिटाने के लिये श्लोक में 'विरजसौ' विशेषण दिया है जिसका तात्पर्य है कि इनमें से रजोगुण निकल गया है अतः ये अब निरहंकारी[4] हो गए हैं अतः इनको स्तुति करने का अधिकार है। विशेष में श्लोक में 'स्म' शब्द देकर यह भी बता दिया है कि इसमें किसी प्रकार की असम्भावना नहीं करनी चाहिये क्योंकि इनका अहंकार नष्ट हो गया है इनमें दीनता आ गई है यह बात प्रसिद्ध है गुप्त नहीं है ॥ २८ ॥

कारिक--दशभिः प्राणभृच्छ्लोकैश्चक्रतुः स्तोत्रमुत्तमम् ।
ज्ञानवैराग्ययोरत्र निर्णयः समुदीरितः ॥ १ ॥

कारिकार्थ----नल कूबर और मणिग्रीव अपने देव रूप को प्राप्त होकर भगवान् की दश श्लोकों से स्तुति करते हैं। आचार्यश्री उनका भावार्थ कारिकाओं द्वारा संक्षेप में बताते हैं।

१—एक प्रकार की लकड़ी। २—रगड़ने से। ३—पैर रखते हैं। ४—दीन।

कारिकार्थ—प्राण दश हैं इसलिये इन्होंने दश श्लोकों से स्तुति की हैं कारण कि किसीका यह मत है कि वृक्षयोनि में प्राण (यहाँ प्राण शब्द—इन्द्रियों का वाचक समझना चाहिये) नहीं है अतः उनकी प्राप्त्यर्थ यह प्रार्थना होने से दश श्लोकों में स्तुति की गई है। यहां (नवम तथा दशम अध्याय की संगति बताने के लिये) ज्ञान और वैराग्य का निर्णय अच्छे प्रकार से किया गया है।। १ ।।

कारिका—**मूलरूपो भवान् पूर्वं जगद्रूपस्तथैव च ।**
मध्यरूप इति त्रेधा ज्ञानरूपो निरूपितः ।। २ ।।

कारिकार्थ—स्तुति करने (प्रथम श्लोक अर्थात् २९ वें) में मूलरूप आप हो यह वर्णन किया गया है। वैसे ही आप जगत्रूप (देह-इन्द्रियादि रूप भी) हो इसका वर्णन ३० वें श्लोक में किया है। इसी प्रकार मध्यरूप (महत्तत्त्व और प्रकृति आदि रूप) भी आप हो जिसका वर्णन ३१ वें श्लोक में करने में आया है। इसी प्रकार ज्ञानरूप भगवान् तीन तरह से वर्णित किये गये हैं। १—मूल रूप, २—जगद्रूप और ३—मध्यरूप से सद्रूप के वर्णन से चिद्रूप का भी निरूपण किया गया है ।। २ ।।

कारिका—**माहात्म्यज्ञापनार्थाय दुर्ज्ञेयत्वं च वर्णितम् ।**
सर्वरूपोपि सर्वस्मिन् गृह्यमाणैर्न गृह्यते ।। ३ ।।

कारिकार्थ—इस कारिका के पहले अर्द्ध में ३२वें श्लोक के उत्तरार्ध का अर्थ कहा गया है कि भगवान् दुर्ज्ञेय[1] है यह उनका दुर्ज्ञेयपन महात्म्य जताने के लिए कहा है। कारिका के उत्तरार्द्ध में ३२ वें श्लोक में पूर्वार्द्ध में योगी भी भगवान् को ग्रहण नहीं कर सकते हैं इसका आशय बताते हुए कहा है कि भगवान् सर्वरूप हैं और सब में हैं तो भी सर्व पदार्थ ग्रहण होते हुए भी आपको कोई ग्रहण नहीं कर सकता है ।। ३ ।।

कारिका—**आध्यात्मिकस्ततो नायं भौतिकोपिततो न हि ।**
दैविकत्वेन सर्वः स्यात् द्वयं तस्माच्च जायते ।। ४ ।।

कारिकार्थ—सर्व पदार्थ तो ग्रहण किये जा सकते हैं किन्तु पुरुषोत्तम को ग्रहण नहीं कर

१—जिसका समझना कठिन हो ।

सकते हैं इस कारण से यह (श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम) न, आध्यात्मिक हैं और न आधिभौतिक हैं ये दोनों आध्यात्मिक और आधिभौतिक उस आधिदैविक से प्रकट होते हैं। अतः आध्यात्मिक और आधिभौतिक भिन्न वस्तु नहीं हैं किन्तु आधिदैविक रूप से ही सब है। यह ३०वें श्लोक में कहा है, ३१वें श्लोक में आध्यात्मिक रूप का कर्त्ता भी वहीं है और ३२वें श्लोक में आधिभौतिक का कर्त्ता भी इसको ही कहा है ॥ ४ ॥

कारिका--**अतः सर्वत्वकर्तृत्वे ज्ञानभक्ती फलिष्यतः ।**
अतो ज्ञानं निरूप्यादौ भक्तिमाहतुरुत्तमाम् ॥ ५ ॥

कारिकार्थ--पुरुषोत्तम, सर्व रूप और सर्व आधिभौतिक और आध्यात्मिक के कर्ता हैं, इनसे ज्ञान और भक्ति की प्राप्ति होगी। इसलिए पहले ज्ञान का निरूपण कर प्रश्चात् उत्तम भक्ति को कहते हैं। ३०वें श्लोक का यह तात्पर्य है कि एक ब्रह्म के ज्ञान से सब का (सब पदार्थों और रूपों का) ज्ञान हो जाता है। ३१वें व ३२वें श्लोकों में कहे गये अर्थ के ज्ञान से भक्ति की प्राप्ति होती है। इन श्लोकों से भगवान् के स्वरूप का निर्णय हुआ है। भगवान् का (आधिदैविक) स्वरूप सर्व (आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक) रूपों से लिप्त होने के कारण प्रकाशित नहीं होता है क्योंकि आधिभौतिक और आध्यात्मिक रूप सद् रूप हैं तो भी ज्ञान को आच्छादन[1] करते हैं। ज्ञान के आच्छादित होने से आधिदैविक स्वरूप का दर्शन नहीं हो सकता है। भगवान् काल रूप से ईश्वर रूप से अथवा प्रकृति रूप से कर्ता हैं और अक्षर रूप से सर्व रूप है। कर्तृ रूप से भक्ति एवं अक्षर रूप से ज्ञान प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

कारिका--**अनेनैव च वैराग्यं ज्ञानाजनकता यदि ।**
तदा सर्वं परित्याज्यमन्यथा स्याद् विनाशनम् ॥ ६ ॥

कारिकार्थ—ज्ञान के वर्णन करने से वैराग्य का भी निरूपण किया गया है। भगवान् सर्व रूप हैं यदि इससे ज्ञान उत्पन्न न होवे तो सर्व का त्याग करना चाहिए, अर्थात् सबसे राग[2] निकाल लेना चाहिए। जो ज्ञान के अभाव में सब में से आसक्ति भी नहीं निकाली तो नाश (अधः पतन) होता है ॥ ६ ॥

कारिका--**भक्तिसिद्ध्यै तु यज् ज्ञानं श्लोके षष्ठे निरूप्यते ।**
अन्यथाभावशङ्काया व्यावृत्त्यर्थं भवान् परः ॥ ७ ॥

१—ढक देते हैं। २—प्रेम और आसक्ति।

कारिकार्थ—भक्ति की सिद्धी हो उसके लिए, जिस ज्ञान की आवश्यकता है उसका वर्णन इस स्तोत्र के छठे श्लोक (१०वें अध्याय के ३४वें श्लोक) में किया गया है श्लोक ३५वें में श्रीकृष्ण मनुष्य नहीं है· किन्तु ब्रह्म ही है इसको 'पर' विशेषण से सिद्ध किया है। जिससे इस प्रकार की (कृष्ण के मनुष्यत्व की) शङ्का को निर्मूल बना दिया है ॥ ७ ॥

कारिका----**भगवन्तं नमस्कृत्य गमनप्रार्थना कृता ।**
तदयुक्तं भक्तिमतामिति भक्तिस्तु षड्गुणा ॥ ८ ॥

कारिकार्थ—इस कारिका में श्लोक ३६वें, ३७वें व ३८वें में वर्णित विषय का सार बताया है जैसा कि ३६वें श्लोक में भगवान् को नमस्कार की है, ३७वें श्लोक में जाने के लिए प्रार्थना की है और ३८वें श्लोक में भक्ति के प्रकार (छ अंग) एवं उसकी प्राप्ति की प्रार्थना की है। (अर्थ) भगवान् को नमस्कार कर जाने की प्रार्थना की है। भक्ति वालों को यों करना योग्य नहीं है इस प्रकार की शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि भक्ति छ गुण वाली है इसलिए यों करना भक्ति मार्ग में अयोग्य नहीं है ॥ ८ ॥

कारिका—**भक्तैः सहैव सा कार्या परोक्षेणैव सिध्यति ।**
गुप्तो रसस्तदो द्बुद्धो रसतां याति नान्यथा ॥ ९ ॥

कारिकार्थ—भक्ति की सिद्धि[1] के लिए, वह छः गुण वाली भक्ति, भक्तों के साथ और भगवान् के परोक्ष में करनी चाहिए। जब इस प्रकार भक्ति की जाती है तब गुप्त रस जाग्रत हो कर रसिकता को प्राप्त होता है, अन्य प्रकार से (भगवान् के सान्निध्य में वा भक्तों के सङ्ग बिना अकेला भक्ति करने से) नहीं ॥ ९ ॥

कारिका—**गुणप्रधानभावत्वमेकत्र हि विरुध्यते ।**
अतोत्र भगवाँल्लीलां स्वयं कर्तुं समुद्यतः ॥ १० ॥

कारिका—**स्वस्यैव रसभोगार्थं परार्थं वेत्यनिर्णयः ।**
ताभ्यां विमोचनं नैव शक्यं पक्षद्वयेपि हि ॥ ११ ॥

कारिकार्थ—इन दोनों कारिकाओं में बताते हैं कि भगवान् दो प्रकार से लीला करते हैं।

१—प्राप्ति ।

एक लीला में भक्तों की प्रधानता होती है। दूसरी लीला में भगवान् की प्रधानता होती है। भगवान् गोकुल में जो लीला करते हैं उन लीलाओं में भगवान् की गौणता और भक्तों की प्रधानता है। एक ही स्थल पर दो प्रकार की (गौण और प्रधान) लीला करने में विरोध होता है अतः नल कूबर गोकुल की लीला के अधिकारी न होने से व्रज भक्तों के साथ भक्ति नहीं कर सकते थे इसलिए उन्होंने जाने की प्रार्थना की है। यहाँ (गोकुल में) भगवान् अपने लिए ही अपने रसभोगार्थ अथवा दूसरों को (व्रज भक्तों को) रस दान करने के लिए लीला करने का स्वयं उद्यम करते हैं इसका निर्णय वे (नल कूबर और मणिग्रीव) नहीं कर सकते थे। दोनों पक्ष ग्रहण करने से भी वे भगवान् को ऊखल से मुक्त नहीं कर सकते थे इन कारणों से भगवान् को ऊखल में बन्धा हुआ ही छोड़ कर चले गए ॥ १०-११ ॥

आभास--पूर्वस्मृतिः सन्दिग्धेति तन्निर्णयार्थं भगवानागत इत्युक्तं, सा स्मृतिः सर्वलोकप्रसिद्धा भवत्विति कृष्णस्वरूपं ज्ञातं निरूपयतः, "ज्ञानी प्रियतमोतो म" इतिवाक्यात्, अन्यथा सर्वैव स्तुतिर्विरुध्यते।

आभासार्थ—नलकूबर और माणिग्रीव को पूर्व ही स्मृति है ? वा नहीं, इस प्र कार का संदेह था, उस सन्देह के निर्णयार्थ भगवान् स्वयं वृक्षों के पास पधारे। उनकी वह स्मृति सर्व लोक में प्रसिद्ध रहे इसलिए ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्यारे हैं। २५वें श्लोक में कहे हुए इस वाक्य के अनुसार वे दोनों निम्न श्लोक में बताते हैं। कृष्ण के स्वरूप का ज्ञान हमें है यह यदि नहीं बतावें तो सकल स्तुति का विरोध दीखने में आवे।

॥ नलकूबरमणिग्रीवावूचतुः ॥

श्लोक--**कृष्ण कृष्ण महायोगिंस्त्वमाद्यः पुरुषः परः।**
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते ब्रह्मणो विदुः ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ--नलकूबर व मणिग्रीव ने कहा, हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगी ? आप आद्य तथा पुरुष एवं पर हो, ज्ञानीजन प्रकट तथा अप्रकट यह विश्व आपका रूप है, यों वेद से जानते हैं।

सुबोधिनी—तत्र प्रथमं पुरुषोत्तमो भवानित्याहतुः **कृष्णकृष्णेति**, आदरे वीप्सा, कृष्णः सदानन्दः, स एव कृष्णनामा च, उभयविधाज्ञाननिवृत्त्यर्थं वा तथोक्तं, आकृत्या चेष्टया च नावयोर्भ्रम इत्याहतुर्महायोगिन्निति, लौकिका अपि नानायोगचर्यायां प्रवृत्ता हीनभावं न प्राप्नुवन्ति कुतः पुनर्नादोषपूर्णगुणविग्रहः ? अतो नाम-रूपे वर्णनीयेर्थे न बाधके, आद्य इति, मूलभूतत्वमेव महत्त्वं, सर्वैर्हि स्वापेक्षया महत्त्वं ज्ञातव्यं, आद्यस्तु तथा आद्यत्वं मतान्तरेचेतनस्यापि सम्भवतीति तदव्यावृत्त्यर्थ-माह **पुरुष** इति, साङ्ख्यतुल्यतामाशङ्क्याहतुः **पर**

इति, पुरुषोत्तम इत्यर्थः, निराकारपक्षनिवृत्त्यर्थं पुरुषपदं तस्मिन् पक्षेयं विकृतो भवेदेव, परः कालादी नामपि नित्यता, एवं भगवतो मूलरूपत्वं निरूप्य कार्यरूपाभावे मूलरूपत्वं नोपपद्यत इति कार्यस्य चान्यथात्वे तस्य गौणत्वमविकृतत्वमसङ्गित्वं च विरुध्यत इति कार्यरूपमपि त्वमेवेत्याहतुर्व्यक्ताव्यक्तमिदमिति, इदं सर्वमेव जगद् द्विरूपमेव भवति कालेनापरिगृहीतमव्यक्तं भवति परिगृहीतं व्यक्तं भवति, आकाशपरमाण्वादीनामपि व्यक्ततेति केचित्, तदा सर्वमेव जगत् कालादितृणस्तम्बान्तं व्यक्तमव्यक्तं च भवति, अवयुत्यानुवादो वा, उभयथापीदं जगत् तवैव रूपं, अत्र प्रमाणमाहतुर्ब्रह्मणो विदुरिति, ब्राह्मणो वेदात्, ब्राह्मणा इति वा, ते ब्रह्मण इति वा, तदा सर्वा एव श्रुतयःप्रमाणमित्युक्तं भवति, रूपमिति स्वरूपं निरूपकं वा ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ--प्रारम्भ में ही कहते हैं कि आप स्वरूप से सदानन्द हो, इसलिये कृष्ण हो और वही सदानन्द स्वरूप आप कृष्ण नामधारी बने हो। इस भाव को बताने के लिए श्लोक में कृष्ण! कृष्ण! दो बार कहा है और आदर भाव दिखाने के लिए भी कृष्ण दो बार कहा गया है। अथवा आपके नाम और स्वरूप का हमको ज्ञान है इसको बताने के लिए भी दो बार कृष्ण कहा है। श्लोक में कहे हुए 'महायोगिन्, का भाव प्रकट करते हैं कि आपकी आकृति का आकार और चेष्टा करनी मनुष्यों जैसी दीखती है तो भी हमको यह भ्रम नहीं होता है कि आप ब्रह्म नहीं हो और मनुष्य हो। क्योंकि आप योगी नहीं हो किन्तु महायोगी हो। जब लौकिक योगी भी अनेक प्रकार की क्रिया करते हुए हीन भाव को प्राप्त नहीं होते हैं तो आप फिर दोष-रहित पूर्ण गुणाकृति महायोगी कैसे हीन भाव को प्राप्त होंगे कदापि नहीं। अतः आपके स्वरूप और गुण वर्णन में नाम और रूप किसी प्रकार बाधक नहीं हो सकते हैं। आप सब से प्रथम हो अर्थात् आदि हो यह मूलभूतपता ही आपका महत्त्व है। प्रत्येक यह जानता है कि जो हमारा आदि मूल है वह हमसे महान् है इस प्रकार जानना ही चाहिये। किसी के सिद्धान्त में जीव भी आद्य है, किन्तु जीव आद्य (मूल) नहीं है इसलिये 'पुरुष' कह कर जीव के आध्या होने का निषेध किया है। पुरुष शब्द से कोई सांख्य सिद्धान्त में कहे हुए पुरुष के समान आप यह कृष्ण हैं इस शंका को मिटाने के लिये कहा है कि आप 'साङ्खाप्रोक्त' पुरुष नहीं हो। किन्तु 'पर' हो अर्थात् पुरुषोत्तम हो। पुरुष पद का दूसरे प्रकार से भाव बताते हैं कि कोई कहते हैं कि भगवान् निराकार है किन्तु भगवान् निराकार नहीं है साकार है इसकी पुष्टि करने के लिये 'पुरुष' पद दिया है। यदि भगवान् साकार होंगे तो विकारी होंगे। इस भ्रम के निवारण के लिए 'पर' पद दिया है कि वे 'पर' होने से कालादिकों के भी नियामक हैं जिससे कालादिकृत विकार उनमें नहीं आ सकते हैं। इस प्रकार भगवान् के मूलरूप (आद्य-कारणरूप) का वर्णन किया। कोई भी तत्व कारण रूप तब हो सकता है जब उसका कार्यरूप भी हो और यदि कार्य कारण से अन्य प्रकार का (विकारी, झूठा वा पृथक्,) हो तो कारण रूप (मूलरूप) भी वैसा ही होना चाहिये यों नहीं है। जैसा कारण वैसा ही कार्य है कारण आप हो और कार्य (विश्व) आप ही हो यह बताने के लिये श्लोक में कहा है कि यह प्रकट और अप्रकट विश्व (जगत्-कार्यरूप) आपका ही रूप है। इस समग्र जगत् के दो रूप हैं। १-व्यक्त (प्रकट) २-अव्यक्त (गुप्त) जिस रूप को काल ने घेर लिया है वह व्यक्त है और जिसको काल ने नहीं घेरा हे वह अव्यक्त है। कोई कहते हैं कि आकाश और परमाणु

आदि भी व्यक्त हैं। तब तो समग्र जगत् काल से लेकर तिनके पर्यन्त व्यक्त और अव्यक्त होगा। अथवा यहाँ भिन्न-भिन्न कहा है। दोनों प्रकार* का होते हुए भी यह सारा जगत् आपका ही रूप है। नलकूबर व मणिग्रीव अपने कथन का प्रमाण देते हैं कि इस प्रकार वेद से सब जानते हैं अथवा ब्राह्मण जानते है कि यह जगत् ब्रह्म का रूप है। इससे यह कहा है कि सर्व श्रुतियाँ प्रमाण हैं। रूप का अर्थ है स्वरूप अथवा निरूपण किया जा सकने वाला है॥ २९॥

आभास---एवं सर्वरूपत्वं भगवतो निरूप्याधिदैविकप्रकारेणापि सर्वरूपत्वमाह तुस्तवमेक इति।

आभासार्थ—इस प्रकार के सब भगवान् के ही रूप हैं यह निरूपण (वर्णन) कर अब आधिदैविक प्रकार से भी वे (परमात्मा श्रीकृष्ण) सर्व रूप हैं यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक---**त्वमेकः सर्वभूतानां देहास्वात्मेन्द्रियेश्वरः।**
त्वमेव कालो भगवान् विष्णुरव्यय ईश्वरः॥ ३०॥

श्लोकार्थ---आप एक ही सर्व भूतों (प्राणिमात्र) का देह, प्राण, अन्तःकरण, इन्द्रियाँ तथा जीव हो भगवान् काल, विष्णु, अव्यय और ईश्वर भी आप हो।

सुबोधिनी—तत्तदाधिदैविकानां भेदो भविष्यतीत्याशङ्क्याहतुरेक इति, देवादीनामुक्तमत्वात् आधिदैविकत्वमस्तु कृमिकीटादि दैविकत्वं तु न भविष्यतीत्याशङ्क्याहतुः सर्वभूतानामिति, आब्रह्मतृणस्तम्बान्तजातिभेदानां देहा असवः प्राणा आत्मान्तःकरणमिन्द्रियाणीश्वरो जीवः, स्वात्मा जीवो वा, इन्द्रियपदेन प्राणाः, इन्द्रियाण्यन्तःकरणं च, ईश्वरोन्तर्यामी, आधिभौतिकादीनामीश्वरो वा, देहद्वयसहितजीवस्य वा, नियामकत्वपक्षे भिन्नतया कालादीनामपि तथात्वमिति कालादिरूपतामाहतुस्त्वमेव काल इति, कालो भगवच्चेष्टेति केचिद, वस्तुतस्तु त्वमेव कालः, तत्र हेतुमाहतुर्भगवानिति, ऐश्वर्यं सर्वस्यापि कालकृतमेवेति काल एवेश्वर, तथा बलमपि, तारुण्य एव बलं, तपोयोगादिभिरपि कालपुष्टैरेव बलं, सिध्यति, यशोपि काल एव, न हि सर्वदा कस्यचिद् यशो भवति, एवमन्येपि गुणाः, कालान्वयव्यतिरेकात् काल एव षड्गुणहेतुरिति गम्यते, ननु कालस्तु विष्ण्वात्मकः, यो हि व्यापको भवति स कलयति न हि योयं व्याप्तुं न शन्कोति स कलयति, अतो विष्णुरेव कालो नान्य इत्याशङ्क्याहतुर्विष्णुरिति, त्वमेव विष्णुराधिदैविकः कालो यज्ञरूपो वा पालको वा सत्त्वात्मकः, तस्य भिन्नत्वे भगवतस्तदधीनत्वं स्यात्, अव्ययोक्षरमपि त्वमेव, अन्यथा भगवतः समवायित्वं न स्यात्, अक्षरमेव हि समवायिकारणं प्रकृतिपुरुषोपादानत्वात्, "सर्वं समाप्नोषि ततोसि सर्वं" इति सर्वत्वमन्यथाप्युपपद्यते, वस्तुनः परिच्छेदकत्वं न सर्ववादिसम्प्रतिपन्नं अतोक्षरो भगवानेवेश्वररूपमप्यन्तर्यामिरूपं भिन्नरूपं वाधिकारित्वेन निर्दिष्टं यस्यासाधारणो धर्म ऐश्वर्यं भवति॥ ३०॥

---

*गो० श्रीवल्लभजी 'लेख' में कहते हैं कि दो मत हैं—पहिले मत में जगत् किसी समय व्यक्त और किसी समय अव्यक्त होता है, दूसरे मतमें कहा गया है कि जगत् के कितने ही पदार्थ तो व्यक्त हैं और कितने ही अव्यक्त हैं। दूसरे मत के अनुसार व्यक्त और अव्यक्त इकट्ठा करने के बिना भी ये सर्व व्यक्त और अव्यक्त आप के ही रूप हैं।

व्याख्यार्थ--पदार्थ पृथक् पृथक् हैं अतः उनके आधिदैविक रूप भी भिन्न-भिन्न होंगे इस शंका को मिटाने के लिये कहते हैं कि 'त्वमेकः' सबों का आधिदैविक रूप एक आप ही हैं। देवता उत्तम हैं। अतः उनके आधिदैविक भले आप भगवान् हो किन्तु कृमि कीटादिकों का तो आधिदैविक रूप भगवान् नहीं हो सकते हैं ? इस पर श्लोक में कहते हैं कि ('सर्व भूतानां') सब भूतों का अर्थात् ब्रह्मा से लेकर तिनके पर्यन्त जितने भी जो कुछ हैं उनके देह, प्राण, अन्तःकरण, इन्द्रियाँ, ईश्वर जीव अथवा स्वात्मा 'इन्द्रिय' पद से प्राण व अन्तःकरण समझने चाहिये। ईश्वर पद से अन्तर्यामी समझना, आधिभौतिकादिकों के ईश्वर अथवा दोनों देहसहित* जीव को ईश्वर समझना चाहिये (ये सब रूप आप ही हो)। जिस मत में ईश्वर को नियामक माना जाता हैं और काल आदि को आप से (भगवान् से) पृथक् समझ कर ईश्वर कहा जाता है। वह मत अपूर्ण है क्योंकि कालरूप भी आप ही हो। कोई कहते हैं कि 'काल' भगवान् की चेष्टा रूप है (इच्छा का रूप है) वास्तविक तो वह चेष्टा रूप काल भी आप ही हो क्योंकि आप भगवान् हो। सबों में जो कुछ ऐश्वर्य देखने में आता है वह काल ने ही किया (दिया) है। अतः काल ही ईश्वर है। सबों में जो बल है वह भी काल-दत्त है जैसाकि बल युवावस्था (जवानी) में ही होता है। तपस्या और योगादि से भी बल तब प्राप्त होता है जब काल भगवान् उसको सफलता देता है। यश की प्राप्ति भी काल-द्वारा होती है यदि काल द्वारा न होती हो तो यश सदैव रहना चाहिये। वह सदा किसी का भी नहीं रहता है। इसी प्रकार दूसरे गुण भी (श्रीज्ञानादिभी) काल-कृत हैं। काल अन्वय$ और व्यतिरेक† से ऐश्वर्यादि षड्गुणों का कारण है।

यदि यह शंका होवे कि जो सबको अपना ग्रास बनाता है वह काल है, और वह सर्वव्यापक हो तब ही बन सकता है इसलिये 'विष्णु' जो सर्वव्यापक है वह काल है। यह 'श्रीकृष्ण' नहीं है क्योंकि यह (श्रीकृष्ण) सर्वव्यापक नहीं है इस शंका को मिटाने के लिये श्लोक में श्रीकृष्ण के लिये तीन विशेषण—१–विष्णु, २–अव्यय और ३–ईश्वर दिये हैं। 'विष्णु' विशेषण देकर यह समझाया है कि वह व्यापक विष्णु यज्ञ रूप, पालक रूप तथा सतोगुणी आधिदैविक आप ही हो यदि वह (विष्णु) आप (श्रीकृष्ण) न हो तो वह आपसे पृथक् अन्य कोई होता तो उसका आपके ऊपर आधिपत्य होनी चाहिये थी। वह तो है नहीं आप स्वतंत्र हो अतः विष्णु भी आप ही हो इतना ही नहीं किन्तु आप इस मनुष्याकृति धारण करते हुए भी अव्यय[1] अक्षर रूप हो जो

---

* देह, स्थूल शरीर, इन्द्रियाँ सूक्ष्म शरीर 'स्वात्मा' यहाँ जीव का ईश्वर कहते हैं। 'लेख'

$ अन्वय—जिस के होने से वह वस्तु हो उसको अन्वय कहते है।

† व्यतिरेक—जिसके न होने से वह वस्तु न हो उसको व्यतिरेक कहते हैं। यहाँ काल के होने से ऐश्वर्य आदि गुण हो तो वह अन्वय है, काल के न होने से वे नहीं हों तो वह व्यतिरेक है।

१—अविकारी

अक्षर रूप आप न होते तो सबका समवायि कारण भी न हो सकते थे। प्रकृति और पुरुष अक्षर रूप आपसे ही प्रकट हैं। वे ही जगत् के समवायि कारण हैं। दूसरे प्रकार से सब में व्याप्त हो कर रहते हो इसलिये सर्व रूप भी आप हो (भगवद्गीता ११-४० सर्व समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः) पदार्थ परिच्छेद[1] वाले होते हैं इस को सब वादी नहीं मानते हैं अतः भगवान् ही अक्षर है। भगवान् के ही अन्तर्यामी रूप से तथा दूसरे रूप से ईश्वर रूप का भी अधिकारी रूप से वर्णन किया गया हैं और उस (ईश्वर रूप) का असाधारण धर्म ऐश्वर्य है ॥ ३० ॥

आभास---एवमाधिदैविककालादिरूपत्वं निरूप्याध्यात्मिकत्वमाधिभौतिकत्वं च निरूपयितुं मध्यमभावं निरूपयति त्व महानिति।

आभासार्थ—इसी प्रकार आप ही आधिदैविक काल आदि रूप हो इस का वर्णन कर, आध्यात्मिक और आधिभौतिकत्व भी आप हो। इसको सिद्ध करने के लिये मध्यम भाव (आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक रूप धारण करने) के लिए आधि दैविक ने कौन कौन रूप धारण किए- यह भाव मध्यम भाव है उस का निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं।

श्लोक---**त्वं महान् प्रकृतिः सूक्ष्मा रजःसत्त्वतमोमयी।**
त्वमेव पुरुषोध्यक्षः सर्वक्षेत्रविकारवित् ॥ ३१ ॥

श्लोकार्थ--आप ही महान्, प्रकृति, सूक्ष्म (प्रकृति) और रजोगुण, सतोगुण एवं तमोगुण वाली प्रकृति हो। आप ही पुरुष, अध्यक्ष और समस्त क्षेत्रों के विकारों को जानने वाले हो।

सुबोधिनी—सर्वस्यापि जगतो-ङ्कुरभूतो **महान्**, तस्यापि क्षेत्ररूपं **प्रकृतिः**, तस्या अपि कार्योत्पत्ति-साधारणरूपं योनिवद् या **प्रकृतिः** सा **सूक्ष्मा**, तस्या अपि मूलभूता **गुणाः**, **तन्मय्याधिदैविकी प्रकृतिर्गुणाश्च त्वमेव**, एवं पञ्चरूपत्वमुक्तं, एवं योनिरूपत्वमुक्त्वा बीजरूपत्वमाहतुस्त्वमेव **पुरुष** इति, तस्याः प्रकृतेः पुरुषस्तस्यास्तावत्त्वसम्पादकः, **अध्यक्षः** साक्षी, साक्षिरूपं भिन्नमितिसिद्धान्तः, **क्षेत्रज्ञश्च** तथा क्षेत्राभिमानी जीवः सोपि क्षेत्रज्ञो भवति, क्षेत्रं जानातीतिव्युत्पत्त्या यः क्षेत्रज्ञः स मुख्यो भवान्, एतावता यत्रैव प्रमाणप्रवृत्तिः केनापि प्रकारेण तदेव भवानित्युक्तं भवति ॥ ३१ ॥

व्याख्यार्थ--समस्त जगत् का अंकुर रूप महान् महत्तत्त्व है। प्रकृति उस (महत्तत्त्व) का क्षेत्ररूप है सूक्ष्म प्रकृति योनि के समान कार्य के उत्पत्ति का साधारण रूप है, उस सूक्ष्म प्रकृति की मूल (जड़) सत्वादि तीन गुण हैं उन गुणोंवाली आधिदेविकी प्रकृति और गुण आप ही हैं। इस

१—सीमा

प्रकार भगवान् (श्रीकृष्ण) के मध्यम भाव में पंचरूपपना दिखाया है। ये पांचोरूप योनिरूप (कारणरूप) कह कर अब बीजरूप (मूल कारण) कहते हैं आप ही पुरुषरूप हैं, उस प्रकृति में इतनी शक्ति (उत्पत्ति आदि कार्य करने की सामर्थ्य) का सम्पादन आप ही हैं। जो अध्यक्ष (साक्षी) है वह भी आप हो हो साक्षी* रूप पृथक् है। यद्यपि देह (क्षेत्र) का अभिमानी होने के कारण से जीव को क्षेत्रज्ञ कहा जाता है किन्तु क्षेत्रज्ञ शब्द के अर्थ क्षेत्र के स्वरूप को जो जानता है वह मुख्य-क्षेत्रज्ञ आप हो। आप ही सर्व पदार्थों के आधिदैविक आध्यात्मिक आधिभौतिक रूप हो। इसलिये जहाँ किसी भी प्रकार से शास्त्र के प्रमाण की प्रवृत्ति है वह ही आप हैं। अर्थात् शास्त्र प्रमाणानुसार सब कुछ आप ही हैं॥ ३१ ॥

आभास--तत् प्रमाणं श्रुतिरेव न तु प्रत्यक्षमित्यलौकिकत्वसम्पादनार्थं भगवतः प्रत्यक्षग्राह्यत्वं निराकरोति गृह्यमाणैरिति।

आभासार्थ—सर्व महान् प्रकृति आदि भगवान् (आप) ही हैं इसका प्रमाण श्रुति है न कि प्रत्यक्ष प्रमाण है, क्योंकि भगवान् अलौकिक हैं। अलौकिक का ज्ञान प्रत्यक्षादि से नहीं हो सकता है। यह निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं।

श्लोक--**गृह्यमाणैस्त्वमग्राह्यो विकारैः प्राकृतैर्गुणैः।**
कोन्विहार्हति विज्ञातुं प्राक् सिद्धं गुणसंवृतः॥ ३२॥

श्लोकार्थ---इन्द्रियों से जो ग्रहण किये जा सकते हैं ऐसे प्राकृत विकार वाले गुणों से वा पदार्थों से आपका ग्रहण नहीं हो सकता है। क्योंकि गुणोंकर के आवृत्त कौनसा मनुष्य है जो सबकी उत्पत्ति से प्रथम स्वतः सिद्ध (आपको) जान सके ? (कोई नहीं जान सकता है।)

सुबोधिनी— गृह्यमाणैर्घटपटादिभिः कृत्वा त्वमग्राह्यः, तद्रूपोपि तैर्गृहीतैर्न गृहीतो भवसि, न वा तैः सह, तेषां धर्माणां त्वदाश्रयाणां धर्म्याश्रयसहभाननियमात्, तत्रहेतुर्विकारैरिति, विकारे हि प्रकृतिर्न प्रतीयते यथा सन्निधाते, तत्र प्राकृतस्तिरोभवति, स्वप्रकाशमेव हि जडैः सह भासते यथा ज्ञानं विषयैः, तथा भगवानपि विषयान् प्रकाशयन् विषयैः सह कुतो न भासत इति चेत् तत्राहतुः प्राकृतैरिति, प्रकृतिर्हि जडा पुरुषाच्छादिका, प्रकृतौ प्रविष्टं पुरुषं न प्रकाशयति तथा प्राकृतैरपि तत्र स्थितो भगवानाच्छाद्यत इति न भगवान् गृह्यते, ज्ञानं त्वन्यनिष्ठं, ननु पुरुषो भगवान् प्रकृति स्त्रियमुपमर्द्य कथं न प्रकाशत इत्याशङ्क्याहतुर्गुणैरिति, गुणा हि बंधका रज्जुकाश्च, अतः प्रकृतौ प्रविष्टस्तद्गुणानुरक्तस्तद्गुणैर्वशीकृयत इति तैः सह न प्रकाशते, ननु गुणाः साम्प्रतमेव

---

* शरीर में जो सात्विक रूप है वह अन्तर्यामी है। —'प्रकाश'

जाता भगवांस्तु मूलभूत इति गुणक्षोभात् पूर्वमेव ज्ञात्वोत्तरत्रापि तदनुवृत्तिः कथं न क्रियत इत्याशङ्क्य तत् परिहरन्तौ भगवांस्तथैव करोतीत्यत्र हेतुं वदन्तौ तादृशस्य भक्तिमार्गप्रवर्तकत्वमाहतुः कोन्विहार्हतीति, इहास्मिन् संसारे, न्वितिवितर्के, पश्चादुद्भुतः को वा प्राक्सिद्धं गुणक्षोभात् पूर्वस्थितं विज्ञातुमिदमित्थतया द्रष्टुमर्हति ? अपि तु न कोपि, नन्वयमप्यात्मत्वान्नेदानीं सिद्धः कुतो नार्हतीती चेत् तत्राहतुर्गुणसंवृत इति, गुणैर्वेष्टितः गुणा हि पूर्वबुद्धिं दूरीकृत्य स्वरूपमप्यावृनवन्तः, अतो ज्ञातृज्ञेययोरावरणान्न ज्ञानं सम्भवति ॥ ३२ ॥

व्याख्यार्थ—घट पट आदि सर्व पदार्थ आपके ही रूप हैं चक्षु से उनका तो ज्ञान हो जाता है किन्तु आपका ज्ञान उनके साथ नहीं होता है और न पृथक् भी होता है। नियम तो यह है कि जिन धर्मों का जो आश्रय होता है जैसे आप इन धर्मों का आश्रय हो, तो उन पदार्थों (धर्मों) का धर्मी और आश्रय के साथ ज्ञान हो जाता है। उस नियम के विरुद्ध भगवान् (आप) का ज्ञान नहीं होता है उसका कारण बताने के लिए श्लोक में 'विकारैः' पद दिया है। वे पदार्थ विकारी हो गए हैं अतः उनके साथ पृथक् आपका ज्ञान नहीं होता है। इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जिस प्रकार मनुष्य को जब सन्निपात का रोग होता है तब उसकी प्रकृति* का ज्ञान नहीं होता है। वहां (विकार होने से) प्राकृत का तिरोभाव हो जाता है। अर्थात् स्वभाव छिप जाता है।

जिस प्रकार ज्ञान, विषयों के साथ प्रकाशित होता है उसी प्रकार, जिससे अपने विषयों का प्रकाश होता है, वैसा ही ज्ञान जड़ पदार्थों के साथ भासता है। तथा भगवान् भी विषयों को प्रकाश करते हुए विषयों के साथ क्यों नहीं भासते हैं ? इस शंका को मिटाने के लिए श्लोक में 'प्राकृतैः' पद दिया है जिसका आशय है कि प्रकृति जड़ है वह पुरुष का आच्छादन करती है। प्रकृति में प्रविष्ट (जड़ के भीतर गए) पुरुष को प्रकाशित नहीं करती है। वैसे ही प्राकृत पदार्थों में स्थित भगवान् को भी वे पदार्थ आच्छादित कर (ढक) देते हैं इससे भगवान् का ग्रहण नहीं हो सकता है। ज्ञान तो दूसरों में रहता है। प्रज्ञान का पदार्थों से संयोग अथवा समवायि सम्बन्ध न होने से पदार्थ उनको आच्छादित नहीं कर सकते हैं।

भगवान् पुरूष है, प्रकृति स्त्री है तो भगवान् उसको दबाकर क्यों नहीं प्रकाशित होते हैं इस शंका को मिटाने के लिये श्लोक में 'गुणैः' शब्द दिया है। गुण बन्धन-कर्ता और प्रेम करने वाले होते हैं। इस कारण से जो प्रकृति में प्रविष्ट होता है उसको प्रकृति के गुण प्रेम से वश कर लेते हैं जिससे उनके साथ प्रकाशित नहीं होते हैं।

गुण तो अब उत्पन्न हुए हैं और भगवान् तो सब से पहले ही होने से मूल भूत हैं। तब

---

* प्रकृति का अर्थ स्वभाव है। जल स्वभाव से स्वच्छ होता है परन्तु जो उसमें मिट्टी आदि से विकार हो जाय तो नदी का तल (पेंदा) देखने में नहीं आता है, स्वच्छ हो तो देखने में आ जावे।—'लेख'

इसी प्रकार पदार्थ, घट पट, नेत्र आदि विकृत होने से नजर नहीं आते हैं, उसी प्रकार भगवान् का ज्ञान नहीं होता है—'अनुवादक'

तो गुणों के क्षोभ[1] से पहले ही जीव को भगवान् का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये था और सदैव उसकी अनुवृत्ति[2] करना चाहिये था। इस शंका को मिटाने के लिये आचार्यश्री कहते हैं कि भगवान् इसी प्रकार करते हैं। क्योंकि इसी प्रकार करने वाले (भगवान्) भक्ति मार्ग के प्रवर्तक हैं। जिसको उत्तरार्द्ध से समझाया गया है कि जगत् में पीछे उत्पन्न हुआ ऐसा कौन है जो गुणक्षोभ से पहले विद्यमान को पूर्ण रीति से जान सके ? कोई भी ऐसा नहीं है।

दूसरे उनको नहीं जान सके, किन्तु जीव तो अनादि आत्मा है, अब उत्पन्न नहीं हुआ है, वह क्यों नहीं उसको जानने के योग्य है ? इस शंका के निवारणार्थ श्लोक में 'गुण संवृतः' 'गुणों से आवृत'[3] होने से वह भी नहीं जान सकता है। क्योंकि गुण पूर्वबुद्धि (पहले ज्ञान) को हटा कर स्वरूप को भी आच्छादान कर देते हैं अतः ज्ञान (जीव) और ज्ञेय (भगवान्) में आवरण (बीच में अज्ञान का पड़दा) हो जाने से ज्ञान नहीं होता है ॥ ३२ ॥

आभास---तर्हि कथं निस्तार इति चेत् तत्राहतुस्तस्मैतुभ्यमिति।

आभासार्थ—जो इस प्रकार है तो भगवान् का ज्ञान हो नहीं सकेगा यदि भगवान् का ज्ञान न हुवा तो जीव की मुक्ति कैसे होगी ? इस शंका के निवारणार्थ निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**तस्मै तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे।**
आत्मद्योतैर्गुणैश्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः ॥ ३३ ॥

श्लोकार्थ---स्वयं प्रकाशित गुणों से आच्छादित महिमा वाले वासुदेव जगत्कर्ता आप परब्रह्म को हम नमस्कार करते हैं।

सुबोधिनी—केवलं तस्मै सर्वदुर्ज्ञेयाय तुभ्यं नानाविनोदयुक्ताय नमः, "ननु तमेव वितित्वातिमृत्युमेती" तिश्रुतेः कथं भगवदज्ञाने निस्तार इति चेत् तत्राहतु भगवत इति, भगवज्ज्ञानगुणेन भगवज्ज्ञानं, अज्ञातोपि प्रमेयबलेन निस्तारयतीति "भक्तिस्तत्र प्रयोजिका" "यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानता" मितिश्रुत्य ज्ञात एव ज्ञातो भवति, अतो भगवानीश्वरः केन ज्ञातुं शक्यः ? किञ्च प्रमाणबलेनाज्ञातोपि स्वतो ज्ञातुं शक्यः, यतोयं वासुदेवः, वसुदेवे शुद्धे सत्त्व आविर्भवतीति, आविर्भूतस्तु सर्वैरेव ज्ञातुं शक्यः, नन्वेतदेव सर्वं कुतो भवेत् साधनपरता साधनोत्पत्तिः सत्वशुद्धे रविर्भाव इति ? तत्राहतुर्वेधस इति, स हि सर्वं विदधाति, अन्यथा तेन कृतस्तन्मार्गो व्यर्थः स्यात्, नमो धीमहीति वा, हृदये प्रत्यक्षे भगवति तत्पादयोः शिरः स्थापयित्वा मनसा यन्नमनं तत् सोपस्करं धीमहीत्यर्थः, अतोन्तःकरणप्रत्यक्ष एव भगवान् न बहिः, प्रत्यक्षविषयः, तर्हि बहिर्नास्तीत्येव

१—हलचल। २—अभ्यास। ३—ढका हुआ।

मन्तव्यं, तत्राहतुरात्मद्योतैर्गुणैश्छन्नमहिम्न इति, आत्मना स्वेनैव द्योतो येषां, गुणा अपि भगवतैव प्रकाश्यन्ते यथा सूर्येण मेघाः, त एव तस्यावरका भवन्ति, न हि गाढान्धकारे निशायां मेघा दृश्यन्ते, एवं सर्वैरेव विषयैरात्मनैव प्रकाशितैश्छन्नो महिमा यस्य, अतो न प्रकाशते, वस्तुतस्तु वर्तत, एव सर्वत्र अन्तर्बहिःस्थितो हेतुमाहतुर्ब्रह्मण इति, "बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाद ब्रह्म," अतः सर्वत्रैव वर्तसे परमन्तरेव प्रकाशसे न बहिरिति ॥ ३३ ॥

व्याख्यार्थ—मुक्ति का साधन केवल आपके उस* सर्व दुर्ज्ञेयस्वरूप (जिस स्वरूप को कोई नहीं जान सकता है) और नाना प्रकार से विनोद[1] करनेवाले आप† को नमस्कार ही हैं।

'त्वमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' इस श्रुति में कहा है कि उस (परमात्मा) को जानकर ही जीव मुक्ति पा सकता है तो फिर उसके जाने बिना मुक्ति कैसे होगी ? इस शंका के निवारणार्थ श्लोक में 'भगवते' शब्द कहा है जिसका आशय है कि भगवान् के गुणों के ज्ञान से भगवान् का ज्ञान हो जाता है। बिना ज्ञान हुए भी आपने प्रमेय बल से इस संसार से वे छुड़ाते हैं इस छुड़ाने में भक्ति ही प्रेरक वा जुटानेवाली है। जिसने कहा है मैंने ब्रह्मा को नहीं जाना है उसने जान लिया है, जो कहता है मैंने ब्रह्म को जान लिया है उसने नहीं जाना है इस श्रुति के अनुसार, अज्ञात ब्रह्म ही ज्ञात होता है अर्थात् न जाना हुआ ब्रह्म ही जाना जाता है। अतः भगवान् ईश्वर को कौन जान सकता है और प्रमाण बल से नहीं जाना गया भी स्वतः जाना जा सकता है। क्योंकि यह आप वासुदेव हैं। शुद्ध सतोगुण में आप प्रकट हो जाते हैं। प्रकट होने पर आपको सब ही जान सकते हैं। भगवान् साधनों से प्राप्त नहीं हो सकते हैं ऐसी समझ, साधनों की उत्पत्ति और शुद्ध सतोगुण का आविर्भाव ये सब ही कैसे होंगे ? इस शंका को मिटाने के लिये श्लोक में 'वेधस्' शब्द दिया है। जिसका भावार्थ यह है कि वह (वेधस्) ही सब कुछ कर सकता है। अर्थात् पार भी पहुँचा सकता है। यदि वे वह (वेधस्) पार न पहुँचावे तो उनका प्रकट किया हुआ भक्ति मार्ग व्यर्थ हो जाएगा।

'नमो धीमहि इतिवा' इस प्रकार का पाठ लिया जाए तो हृदय में भगवान् प्रत्यक्ष विराजते हैं उस भगवान् के चरणारविन्दों में शिर धर कर मनःपूर्वक नमन करना और विभूषित स्वरूप का ध्यान धरना यह अर्थ होगा। इससे यह जाना जाता है कि भगवान् हृदय में प्रत्यक्ष हैं किन्तु बाहिर प्रत्यक्ष नहीं हैं। यदि बाहर प्रत्यक्ष नहीं हैं तो मान लेना चाहिये कि भगवान् बाहर है ही नहीं। इस शंका को मिटाने के लिये श्लोक में 'आत्म द्योतैर्गुणैश्छन्नमहिम्ने' भगवान् का

---

* 'उस' शब्द परोक्ष जो देखने में नहीं आता है उस के लिए कहा जाता है जिसका तात्पर्य 'दुर्ज्ञेय' कठिनाई से जानने में आने योग्य है। —'लेख'

† 'आप' शब्द प्रत्यक्ष (आंखों से देखने में आवे उस) के लिए कहा जाता है। अतः विनोद करने के लिए आप अपनी इच्छा से प्रत्यक्ष हुए हो। —'लेख'

१—लीला या खेल।

विशेषण दिया गया है जिसके देने का तात्पर्य यह है कि जैसे मेघों को सूर्य प्रकट करता है वे ही मेघ सूर्य को छिपा लेते हैं वैसे ही भगवान् के द्वारा प्रकाशित (प्रकटित) गुणों ने भगवान् की महिमा को आच्छादित कर दिया है। जिससे भगवान् बाहर प्रत्यक्ष देखने में नहीं आते हैं। सचमुच तो सर्वत्र (सब जगह सब पदार्थों में) आप विद्यमान ही हैं। भगवान् अन्दर बाहर सर्वत्र है इसका कारण बताने के लिये श्लोक में (ब्रह्मणे) पद दिया है। जिसका भावार्थ यह है कि सब से बड़े होने से सब आप में समाये हुए हैं अतः आप बाहर भीतर सब जगह तथा सर्व पदार्थों में स्थित हो किन्तु भीतर प्रकाशित होते हो बाहिर नहीं होते हो ॥ ३३ ॥

आभास--तर्हि कथमवतारात् बहिः प्रकाशरूपो भगवान् भवतीति ? तत्राहतुर्यस्यावतारा इति ।

आभासार्थ--जो भगवान् बाहर प्रकाशित नहीं होते हैं तो अवतार लेकर बाहर कैसे प्रकाशित होते हैं ? इस शंका के उत्तर में यह निम्न श्लोक है ।

श्लोक--**यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्वशरीरिणः ।**
तैस्तैस्तुल्यातिशयैर्वीर्यैर्देहिष्वसंगतैः ॥ ३४ ॥

श्लोकार्थ--जिस बिना, देह वाले के अवतार शरीरों में जाने जाते हैं उनका कारण यह है कि जो उनके पराक्रमों के आगे देहधारियों के पराक्रमों की समानता तो नहीं है किन्तु हीनता है ।

सुबोधिनी--मत्स्यादिषु **शरीरेषु** क्वचिदेव मत्स्यविशेषेलौकिकभावो दृश्यते स च न जीवधर्मो भवतीत्य-**शरीरिणस्तव तेष्ववतारा इति ज्ञायन्ते, अशरीरिण** इतिवचनाच्छरीराकृतिरेव तत्र प्रकाशते न तु तच्छरीरं, अन्यथा वृद्धिर्नोपपद्यते, सामर्थ्यं परमधिकं भवेत्, तस्माच्छरीराकारेण भासमानं भगवद्रूपमेवेति न **तुल्यमतिशयो या** यस्य यस्मादन्यत्र **तदतुल्यातिशयं**, कालापेक्षया नान्यस्य वीर्यमस्ति कालमर्यादां चेदुल्लङ्घति तदा भगवद्वीर्यतुल्यातिशयमिति ज्ञायते, सोपि नैकविधः पराक्रमः, क्षणेन विश्वरूपो भवति, क्षणेन वामनो दृश्यश्चादृश्यश्च बहिरन्तः परिच्छेदो व्यापकश्च, अतो ज्ञायते सर्वेष्वेव **देहिष्वसङ्गतैः** कदाप्यसम्बद्धैर्भगवानेवायमिति न तु प्रत्यक्षतया भगवानिति निश्चेतुं शक्यत इत्यर्थः, तत्रापि कदाचिच्चेदलौकिकं भवति कल्प्येतापि कथञ्चिज्जात्मिति, सर्वदा चेदवाङ्मनोगोचरा अनुभावास्तदा कथं न ज्ञायेत ? तदाहतुस्तैस्तैरिति, एवमवतारेषु भगवज्ज्ञानमानुमानिकं न प्रत्यक्षमित्युक्तम् ॥ ३४ ॥

व्याख्यार्थ--मत्स्य[1] आदि शरीरों में प्रायः अलौकिक भाव देखने में नहीं आते हैं क्योंकि अलौकिक भाव भगवद्धर्म है, जीव धर्म नहीं है, अतः जहाँ अलौकिक भाव देखने में आते हैं वे शरीर

१--मछली ।

भगवान् ने अवतारों में धारण किए है। जैसा कि भगवान् ने मत्स्यरूप से अवतार लिया तो उस मत्स्य में अलौकिक भाव प्रकट हुए जैसे वह मत्स्य-शरीर बढ़ता ही गया इसी प्रकार अन्य मत्स्य नहीं कर सकते हैं जिससे यह निश्चय होता है कि भगवान् उस मत्स्य आकृति में केवल दर्शन देते हैं किन्तु वह आकृति देह नहीं है यदि देह होती तो बढ़ती नहीं उसको बढ़ने के लिये काल की आवश्यकता पड़ती है। भगवान् तो अपने वीर्य धर्म से काल का उल्लंघन कर सकते हैं अतः काल का विचार न कर अपने वीर्य से बढ़ते ही गए। जाना जाता है कि यह भगवान् का अतुल्य और अतिशय वीर्य का प्रदर्शन[1] है। वह वीर्य प्रदर्शन आपने एक प्रकार से नहीं अनेक प्रकार से अपने अवतारों में प्रकट किया है। क्षण में विश्वरूप हो जाते हैं, क्षण में वामन बन जाते हैं। कभी दृश्य और कभी अदृश्य होते हैं बाहर से और भीतर से परिच्छेद[2] वाले बन जाते हैं तथा कभी व्यापक[3] होते हैं। इससे समझ में आता है कि इस प्रकार के पराक्रम किसी देहधारियों में नहीं है और न ऐसे पराक्रमों से देहधारियों का सम्बन्ध है। अतः ऐसे अलौकिक वीर्य वाले भावों को प्रकट करने से निश्चय होता है कि यह भगवान् ही हैं। अपनी आँखों से केवल उन आकृतियों[4] को देखने से यह निश्चय नहीं किया जा सकता है कि यह भगवान् हैं। जो अलौकिक भाव कभी-कभी हो अथवा किसी न किसी प्रकार से उस (अलौकिक भाव) का ज्ञान हुआ हो, किन्तु यदि हमेशा जो वाणी तथा मन से जिनका ध्यान न हो सके ऐसे पराक्रम सदा देखने में आते हों तो कैसे न कहा जाय कि यह भगवान् है। यह तात्पर्य श्लोक के उत्तरार्द्ध 'तैस्तैः' से कहा है। इस प्रकार अवतारों में भगवान् का ज्ञान (ये अवतार रूप भगवान् के हैं) अनुमान किया जाता है प्रत्यक्ष से नहीं होता ॥ ३४ ॥

आभास--प्रकृते तु शब्दादेव नारदकृपया वा भगवानेतदर्थमागत इति ज्ञायत इत्याहतुः स भवानिति।

आभासार्थ--इस समय तो भगवान् (आप श्रीकृष्ण) इसके लिये (हमारे उद्धार के लिये और हमको दर्शन देने के लिये) प्रकट हुए हो इसका ज्ञान नारदजी के शब्द तथा कृपा से हुआ है इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक--स भवान् सर्वलोकस्य भवाय विभवाय च।
अवतीर्णोंऽशभागेन साम्प्रतं पतिराशिषाम् ॥ ३५ ॥

श्लोकार्थ--सर्व लोक के कल्याण और मोक्ष देने के लिये सर्व सुखों के पति वह आप अंश और भाग से अवतीर्ण हुए हो।

१—दृश्य नजारा। २—सीमा, हद्द। ३—सर्वत्र स्थिति, असीम बेहद्द। ४—रूपों या शक्लों।

सुबोधिनी—यः पूर्वोक्तः सर्वप्रमाणवेद्यो लौकिकैरवेद्योन्तःकरणप्रत्यक्षोवतारी चतूरूपो भवान्, अत एव सर्वस्यैव लोकस्य भवायोद्भवायैश्वर्याय च, अंशेन भागेन च साम्प्रतमवतीर्णः, यतो भवानाशिषां पतिः, स्वरूपतो भवाँश्चतूरूपो विवृतः प्रकारेण, ततोप्यधिकास्त्यत्र गुणाः, सर्व एव लोका उत्पादनीयाः, ततस्तेभ्यः स्वसमानैश्वर्यादिकं च देयं भगवत्यंशतः समागते सर्वे भगवदीयाः शुद्धसत्त्वांशेनैवाविर्भवन्ति भगवत्सेवोपयिकदासरूपांशेन वा सर्वे लोकाः स्वदासभावेनाविर्भवन्त्वितीच्छया भगवानेकदेशभावं प्रकाशितवान्, समुदाये ग्रहणभजनाद्यनुपपत्तेः, न हि प्रलयाग्निः सेवितुं शक्यते, किञ्च भागाः कलाः, कलयावतीर्णः, सर्वेषां सर्वकलाकौशलाय सर्वाः कलास्तदैव प्रादुर्भवन्ति यदि मूलभूतः कलारूपेणाविर्भवति तदैव च सर्वाः कलाः पूर्णा भवन्ति, इदं स्वोपयोगायोक्तं, स्वस्यापि वैष्णवरूपेणोद्भवो भक्तिकलाश्च पूर्णा भविष्यन्तीति, एता एताशिषः, अग्रे प्रार्थ्यमानत्वात्, मानुषभावेन नानाविधाः क्रीडा भक्तानुत्पाद्य तेषु भक्तिस्थापनार्था इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

व्याख्यार्थ—सर्व प्रमाणों से जानने योग्य लौकिक जिसको नहीं जान सकते हैं, अन्तःकरण में जो प्रत्यक्ष होते हैं और जो अवतारी हैं वह आप चतुःरूप (चार रूपों वाले) हो। इस कारण से ही आप अब सर्व लोगों के कल्याण तथा ऐश्वर्य के लिए अंश और भाग्य से अब अवतार धारण कर पधारे हो। कारण कि आप आशिषों (धर्मादि चार पुरुषार्थ) के पति हैं। आप स्वरूप से चार रूपों वाले हो यह वर्णन प्रकार (सादृश्य) से आगे किया है। उससे भी विशेष यहाँ (आप में) गुण हैं। सब लोकों को उत्पन्न* करना है। उसके पीछे उनको अपने समान ऐश्वर्यादिक देने हैं। भगवदीय शुद्धसत्व गुण से ही आविर्भूत‡ होते हैं उसका कारण यह है कि भगवान् उनमें अंशरूप से प्रकट होते हैं। भगवान् उन (भगवदियों) में किस भावांश का प्रकाश करते हैं ? आचार्यश्री उस पर प्रकाश डालते हैं कि भगवान् की इच्छा है कि सब दासभाव से प्रकट होवे इसलिए लोकों (भगवदियों) में दासभाव रूप अंश का प्रकाश करते हैं। यदि अन्य अंशों से भी उनमें विराजे तो सेवा भजन आदि नहीं हो सके। कारण कि प्रलय की अग्नि का सेवन कोई भी नहीं कर सकता है। 'भाग' शब्द का आशय कला है। भगवान् ने भाग से (कलारूप से) अवतार लिया हैं। कलारूप से अवतार लेने का कारण यह है कि जब कलाओं का मूल रूप (बीज) प्रकट होवे तब ही सब कलाओं का विकास हो और सबों में सर्व कलाकौशल्य[1] हो। तब ही सर्व कलाएं पूर्ण विकसित होती हैं। नलकूबर और मणिग्रीव ने यह अपने उपयोग के लिये कहा है क्योंकि उनका भी वैष्णवरूप से जन्म हुआ है उसमें ही भक्ति कलाएं पूर्ण होगी। ये ही आर्शीवचन हैं जो आगे प्रार्थना करेंगे। भगवान् लोगों में भक्ति की स्थापना के लिये भक्तों को उत्पन्न कर उनके साथ मनुष्य भाव से अनेक प्रकार की क्रीड़ा करते हैं ॥ ३५ ॥

---

* उत्पन्न का तात्पर्य यह है कि जो लौकिक में आसक्त हैं उनको अलौकिक बनाना है।—अनुवादक

† श्रीकृष्ण अवतारी पूर्ण स्वरूप हैं। यहाँ अंश से और भाग से अवतार लिये। इस कहने से परस्पर विरोध दृष्टि गोचर होता है इस शङ्का को मिटाने के लिये आचार्यश्री ने सुबोधनी में यह कहा है कि श्रीकृष्ण भगवादियों में अपने अंश-भाग से पधारे हैं। आप तो पूर्णरूप से प्रकटे हैं।—'प्रकाश'

१—कारीगरी।

आभास—किञ्चित् प्रार्थयितुं नमस्कारं कुरुतो नम इति ।

आभासार्थ—कुछ प्रार्थना करने के लिये वे दोनों निम्न श्लोक में भगवान् को नमस्कार करते हैं ।

श्लोक—**नमः परमकल्याण नमस्ते विश्वमङ्गल ।**
वासुदेवाय शान्ताय यदूनां पतये नमः ॥ ३६ ॥

श्लोकार्थ—*हे परम कल्याण रूप ! आपको नमस्कार है । हे विश्वमङ्गल रूप ! आपको नमस्कार है । हे परम शान्त यदुवंश शिरोमणि आपको बार-बार हम प्रणाम करते हैं ।

कारिका—**आदिमध्यावसानेषु नमनं मनआदिभिः ॥ ½ ॥**

कारिकार्थ—आदि, मध्य और अन्त में मन आदि* से प्रणाम करते हैं ।

सुबोधिनी—आदौ कायिकं नमनं, तत्र फलं **परमकल्याणेति, कल्याणानां** निधानरूपो भगवान्, **कल्याणानि** शुभफलानि पुत्रजन्मादीनि लोके प्रसिद्धानि, **परमानन्दः परमकल्याणः**, कायेन नमस्कृतः शरीरोपभोगाय **परमकल्याणः** प्रादुर्भवति, **नमस्त** इति वाचनिकं, ते तुभ्यमितिकीर्तनात्, तस्य फलं **विश्वमङ्गल** इति, वेदादिनिर्माणाद् विश्वस्मै तत्साध्यफलरूपो मङ्गलं भवति, अन्ते **नमनं** मानसं, तदर्थं मनस्याविर्भावाय **वासुदेवायेति**, **शान्तायेति** ज्ञानरूपाय, केवलमाविर्भूते नारदवदज्ञाते तथापुरुषार्थो न भवतीति **शान्तं** लयविक्षेपशून्यं रूपमाविर्भावो ज्ञानं चोक्तं फलमाह **यदूनां पतय** इति भगवान् स्वामी फलं यथा **यदूनाम्** ॥ ३६ ॥

व्याख्यार्थ—आदि (आरम्भ) में काया से नमन करते हैं जिसका फल यह है कि शरीर के उप-भोगों के लिये (शरीर से सेवा लेने के लिये अथवा उसको आनन्द देने के वास्ते) कल्याणों का भण्डाररूप भगवान् स्वयं प्रकट होते हैं लोक में पुत्र जन्म आदि शुभ फल कल्याण नाम से प्रसिद्ध हैं और भगवान् ही परम कल्याण अर्थात् परमानन्द नाम से विख्यात हैं ।

मध्य में वाणी से नमस्कार करते हैं यह श्लोक में आए हुए 'नमस्ते' पद का भाव है । वाणी से नमस्कार का फल (विश्वमङ्गल) रूप है । विश्व के कल्याण के लिये भगवान् ने वेद प्रकट किए हैं उन वेदों से प्राप्त स्वरूप (विश्वमंगल) है अर्थात् विश्व का मंगल करनेवाला स्वरूप वाणी द्वारा नमस्कार करने से फलरूप (प्रकट) होता है ।

अन्त में मन से नमस्कार करते हैं । मन से नमस्कार करने से भगवान् मन में प्रकट होते

---

* आदि शब्द से काया और वाणी समझनी चाहिए—जिसको" श्री सुबोधिनीजी में स्पष्ट कर दिया है ।

हैं यह बताने के लिये श्लोक में 'वासुदेवाय' पद दिया है। केवल मन में प्रकट होने से नारदजी के समान कोई लाभ नहीं है, जब तक कि उसका ज्ञान न हो, अतः 'शान्ताय' पद देकर बताया है कि आप लय और विक्षेप-रहित ज्ञान स्वरूप से भी (मनद्वारा नमस्कार करने से) प्रकट होते हैं। 'यदूनां पतये' यादवों के स्वामी शब्द से यह बताया है कि आप फलरूप तब होते हैं जब स्वामी रूप से प्रकट होते हैं जिस प्रकार यादवों के पति (स्वामी) होकर प्रकटे हैं ॥ ३६ ॥

आभास--एवं नमस्कृत्य गमनार्थं प्रार्थयेते अनुजानीहोति ।

आभासार्थ—इस प्रकार नमस्कार कर निम्न श्लोक में प्रार्थना कर वहाँ से आने की आज्ञा मांगते हैं।

श्लोक--**अनुजानीहि नौ भूमंस्तवानुचरकिङ्करौ ।**
दर्शनं नौ भगवत ऋषेरासीदनुग्रहात् ॥ ३७ ॥

श्लोकार्थ--हे भूमन् ! आपके अनुचरों के किंकर[1] हम दोनों को जाने के लिये आज्ञा दीजिये। भगवान् ऋषि के अनुग्रह से आपके दर्शन हुए।

सुबोधिनी—नावावामनुजानीहि, अनुज्ञां प्रयच्छ, भूमन्निति सम्बोधनं स्वस्य तत्र स्थातुमयोग्यतार्थं, तदेवाहतुः स्वानुचरकिङ्करावि ति, तवानुचरस्य नारदस्य किङ्करौ दासौ, सेवकसेवकत्वमेवोचितं न तु त्वत्सेवकत्वमावयोः, यतस्त्वं भूमा महान्, न ह्यल्पेन महतः सेवा कर्तुं शक्यते, ननु दर्शनयोग्यता यदा तदा सेवायोग्यता सिद्धैव ततः कथमयोग्याविति चेत् तत्राहतुर्दर्शनं नौ भगवत ऋषेरासीदनुग्रहादिति, महाराजसेवकः स्वभृत्यं कदाचिन् महाराजस्थानं नयति नैतावता तस्य महाराजसेवायोग्यता भवति, अतो दर्शनान्यथानुपपत्त्या न सेवायोग्यता, भगवतो दर्शनमृषेरनुग्रहादिति, ऋषेर्भगवत इति गुरुदेवतयोरैक्यार्थं सहनिर्देशः ॥ ३७ ॥

व्याख्यार्थ– हम दोनों को आज्ञा दो। भगवान् के लिये 'भूमन्' विशेषण देकर यह प्रकट किया है कि हम यहां रहने के योग्य नहीं हैं। क्यों योग्य नहीं हैं तो उसके उत्तर में कहते हैं कि हम आपके सेवक नारदजी के सेवक हैं। हम आपके सेवक के सेवक बनने के ही योग्य हैं न कि आपके सेवक बनने के योग्य हैं। कारण कि आप महान् हैं। महान् की सेवा छोटे नहीं कर सकते हैं। जब आप मेरे दर्शन करने के योग्य हुए हो तो सेवा के योग्य भी हो यह तो स्वतः सिद्ध है ही, तो आप कैसे अयोग्य हो ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि आपके दर्शन हमको हमारी योग्यता के कारण नहीं हुए हैं। किन्तु भगवान् ऋषि नारदजी के अनुग्रह (कृपा) से हुए है। महाराज का नौकर कभी अपने सेवक को महाराज के स्थान पर ले जाता है जिससे वह सेवक महाराज की

१—नौकर।

सेवा के योग्य नहीं बन जाता है। महाराज के दूसरे प्रकार से दर्शन हो नहीं सकते, इससे कोई सेवा की योग्यता नहीं आ जाती है। नारदजी के लिये भगवान् और ऋषि दोनों पद साथ देने से यह बताया है कि गुरू और देव एक ही हैं ॥ ३७ ॥

आभास--एवं गमनं प्रार्थयित्वा तत्र गतयोर्भक्ति प्रार्थयेते वाणीति ।

आभासार्थ—इस प्रकार जाने के लिये आज्ञा प्रदान करने की प्रार्थना की अब निम्न श्लोक में वहाँ जाकर रहनेवाले हमको आपकी भक्ति स्थिर रहे यह प्रार्थना करते हैं ।

श्लोक—**वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां हस्तो च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।**
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत् प्रणामे दृष्टिः सतां दर्शनेस्तु भवत्तनूनाम् ॥३८॥

श्लोकार्थ--हे निवास जगत् ! (जिसका जगत् निवास-स्थान है) हमारी वाणी आपके गुणानुवाद में (गुणों के कीर्तन मे), कर्ण आपकी कथा सुनने में, हाथ आपकी सेवा करने में, मन आपके चरणों के स्मरण में, मस्तक आपको प्रणाम करने में और दृष्टि आपके स्वरूप भूत भक्तों के दर्शन में तत्पर रहे ।

कारिका—**वाक् श्रोत्रे च करौ चित्तं शिरश्चक्षुस्तथैव च ।**
षडेते भगवत्कार्ये यदि सक्ताः कृतार्थता ॥ १ ॥
कीर्तने श्रवणे चैव गुणानां रूपदास्यके ।
स्वरूपस्मरणे नित्यामवतीर्णस्य दर्शने ॥ २ ॥

कारिकार्थ--मनुष्य के अङ्गों में ६ अङ्ग मुख्य हैं। वे ६-वाणी, कान, हाथ, चित्त, मस्तक और नेत्र हैं। ये ६ अंग यदि भगवान् के कार्य (सेवा) में लगे रहें तो उनकी सार्थकता है ।

वाणी भगवान् के गुणों के कीर्तन में, कान गुणों के श्रवण में, हस्त स्वरूप की दासता में, चित्त स्वरूप के स्मरण में, शिर प्रणाम करने में, नेत्र अवतार स्वरूप के दर्शन करने में लगे रहें तो इन ६ की सार्थकता है ।

पहली कारिका में मुख्य ६ अंग दूसरी में उनके कार्य (सेवा) को बताकर यह कहा है कि इस प्रकार यदि ये अंग सेवा में तत्पर रहते हैं तो उनका होना सफल है नहीं तो वे अंग निष्फल हैं ।

सुबोधिनी—षडङ्गानि पुरुषे प्रधानानि, गुणानामुत्कर्षाधायकधर्माणां कीर्तने वाण्यस्तु, तत्रैव सा विनियुक्ता भवतु, यथा वराय दत्ता कन्या नान्यगामिनी भवति नाप्यन्यः प्रार्थयते नापि पतिभयात् सान्यसम्बन्धिनी कथञ्चिदपि भवति तथा वाणी भवतु, एवमेव श्रवणौ कथायां,हस्तावुभावपि भगवतः सर्वकर्मस्वाचष्टयामिकेषु, चकारात् पादावपि मन्दिरगमनादिषु, तद्व्यतिरेकेण हस्तसेवा नोपपद्यत इत्युभयमेकरूपं, तव पादयोः स्मृत्यां नो मनोस्तु स्मरणे सर्वानेव भक्तानेकीकृत्याहतुः, पादयोरितिद्विवचनं रूपान्तरे तथाभावाय, शिरस्तु प्रणामे, चतुरङ्गया भक्तया भगवतः सर्वस्थितिः सर्वान्तरत्वं च स्फुरिष्यति, अतः सम्बोधनं यतो हे निवासजगदिति, निवासभूतं जगद् यस्येति, दृष्टिस्तु सतां दर्शनेस्तु, भगवद्दर्शनं तु धार्ष्ट्यान्न प्रार्थितं, ननु तेषां दर्शने किं स्यात् ? तत्राहुर्भगवत्तनुनामिति, भगवतस्तनूरूपास्ते, तत्र भवान् वर्तत इति तथा, अयोगोलके वह्निर्यथा वा गङ्गायां जलम् ॥ ३६ ॥

व्याख्यार्थ—विवाह संस्कार द्वारा दान की हुई कन्या वर के अतिरिक्त दूसरे के पास नहीं जाती है, उसके लिये दूसरा पुरुष माँग भी नहीं कर सकता है और वह पति के भय से दूसरे से किसी प्रकार का सम्बन्ध भी नहीं कर सकती है वैसे ही हमारी वाणी भी भगवान् के गुणों (उत्कर्षता बताने वाले धर्मों) के कीर्तन करने में तत्पर रहे दूसरी तरफ न जावे। इसी प्रकार कान भगवान् की कथा में, हाथ आठों पहर भगवान् के सब कार्यों में लगे रहें। श्लोक में आए हुए 'च' शब्द से यह भाव बताते हैं कि पैर भी मन्दिर में जाने आदि कार्यों में लगे रहें। इसके लिए विशेष हेतु देते है कि यदि पैरों से मन्दिर में जाने की सेवा न ली जाए तो हाथों से मन्दिर में जाकर सेवा बन नहीं सकेगी। अतः दोनों (हाथ और पैर) एक रूप समझने चाहिये। आपके चरणों के स्मरण में हम सब लोगों का मन लगा रहे इससे यह बताया कि स्मरण भक्तों के साथ मिलकर करना चाहिये। आपके इस (श्रीकृष्ण) स्वरूप से अन्य स्वरूप में हमारा मन न लगे इसलिये 'पादयोः' यह द्विवचन दिया है। दूसरे स्वरूप में इसका अभाव है। मस्तक आपको प्रणाम करने में लगा रहे। श्रवण, कीर्तन, स्मरण और पाद सेवन इस चार प्रकार से की हुई प्रणामरूप भक्ति से भगवान् की सर्व में स्थिति और सर्वान्तरत्व (सबके भीतर भगवान् हैं) की स्फूर्ति होती है। अतः निवास 'जगत्' यह संबोधन देकर बताया है कि आपका निवास-स्थान जगत् है जिससे आपके सर्व में स्थिति और सर्वान्तरत्व की सिद्धि हो जाती है भगवान् के दर्शन की प्रार्थना तो ढीठपन से नहीं दी है। भगवद्भक्त सत्पुरुषों के दर्शन की प्रार्थना इसलिए की है कि वे भगवान् के शरीर हैं अर्थात् भगवान् उनमें सदैव बिराजते हैं उनके दर्शन से स्वतः भगवान् के भी दर्शन हो जाएंगे। जिस प्रकार लोहे के गोले में अग्नि और गंगा के खात (तह) में जल रहता है उसी प्रकार भगवान् उनमें रहते हैं जिससे वे (भक्त सन्त) वैसे (भगवान् के समान) ही हैं ॥ ३८ ॥

आभास----एवं गमनभक्त्योः प्रार्थनायां कृतायां सर्वथा भक्तौ शीघ्रमेव लयो भविष्यतीति किञ्चिन् मोहयित्वा किञ्चिद् दत्तवानित्याहेत्थमिति ।

आभासार्थ—उनकी जाने की आज्ञा और भक्ति की प्राप्ति की प्रार्थना पर भगवान् ने सोचा कि यदि इनको सर्वथा (पूर्ण) भक्ति दे दूंगा तो इनका शीघ्र ही लए हो जाएगा। यह मुझे

इष्ट नहीं है। अतः कुछ मोह उत्पन्न कराने को कुछ दूं—इसका वर्णन श्रीशुकदेवजी निम्न श्लोक में करते हैं।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक----**इत्थं संकीर्तितस्ताभ्यां भगवान् गोकुलेश्वरः।**
दाम्ना चोलूखले बद्धः प्रहसन्नाह गुह्यकौ ॥ ३९ ॥

श्लोकार्थ---श्री शुकदेवजी कहते हैं कि रस्सी से ऊखल में बन्धे हुए गोकुलेश्वर भगवान् ऐसो उनको स्तुति सुन, हँस कर उन दोनों यक्षों को कहने लगे।

सुबोधिनी—एवङ्कारेण सम्यक् कीर्तितस्तोषपर्यन्तं स्तुतः **प्रहसन् गुह्यकावाह**, सर्वकरणदानयोः समर्थ इति ज्ञापयति **भगवानिति**, शीघ्रं तयोर्मुक्तौ गोकुले स्वस्य क्रीडायामन्यप्रवेशो भविष्यतीति ज्ञापयति **गोकुलेश्वर** इति, गोकुलवासिनामेव साम्प्रतं तद् युक्तं न त्वन्येषां, अतो गोकुलक्रीडासमाप्तिपर्यन्तं तथामोहनमुचितमेव, **किञ्च दाम्नोलूखले च बद्धः**, यस्तु गोकुलरसभोगार्थं तत्र गौणभावं प्राप्तस्तेषु वा रसाधिक्यसिद्ध्यर्थं तदधीनो जातः, देवयोर्गोकुले स्थितयोः पूजा कापि न जातेतिशङ्कापि न कर्तव्या यतो **गोकुलेश्वरो दाम्ना** बद्धः, वस्तुतस्त्वीश्वर एव लोकदृष्ट्यापि नन्दस्यायमेव पुत्र इतीश्वर एव स चेद् **दाम्ना** यन्त्रितस्त दा कस्य **गोकुले** सन्मानं स्यात् ? उचितं चैतद्, देवयोरत्र वृक्षत्वं, एवं गोकुलवासिनां वृत्तान्तं स्मृत्वा प्रहसन् वक्ष्यमाणमब्रवीत् यद् युवाभ्यां प्रार्थ्यते तत् किमपि नावशिष्टं, मदधिकारिणैव तत्सम्पादनात्, द्वयं हि पुरुषार्थो मुक्तिर्मयि प्रेम च, निरोधस्योभयरूपत्वात् ॥ ३९ ॥

व्याख्यार्थ—यक्ष ने जब भगवान् के प्रसन्न होने तक स्तुति की तब भगवान् हँसकर उनको कहने लगे। आचार्यश्री प्रकट करते हैं कि यह स्वरूप सब कुछ करने और सर्व प्रकार के दान देने में सामर्थ्यवान् है इसलिये श्लोक में 'भगवान्' नाम दिया है। भगवान् गोकुल में अब जो लीला जिनसे कर रहे हैं उस लीला में दूसरे का अथवा दूसरे प्रकार की लीला का प्रवेश होगा जो भगवान् को अभीष्ट[1] नहीं है इस भाव को प्रकट करने के लिये श्लोक में 'गोकुलश्वर' नाम दिया है वह लीला गोकुलवासियों के ही योग्य है न कि दूसरों के योग्य है। अतः इन (नलकूबर मणिग्रीव) की शीघ्र मुक्ति नहीं करनी चाहिये इसलिये इनको अब पूर्ण भक्ति दान नहीं करना है पूर्ण भक्ति दान से इनकी यहाँ ही मुक्ति हो जाएगी। इसलिए जब तक गोकुल में क्रीड़ा चल रही है तब तक इनको मोहित कर देना ही योग्य है। और भगवान् अब तक रस्सी से ऊखल में बन्धे हुए हैं इससे भगवान् बताते हैं कि अब मैं गोकुल में होती हुई लीला के रस भोगार्थ में गौण हूँ। और गोकुलवासी अथवा उनको विशेष रस की सिद्धि करने के लिये उनके आधीन हूँ। यह शंका भी नहीं करनी कि गोकुल में देव आए (नलकूबर मणिग्रीव देवरूप से वहाँ प्रकट हुए) और उनका किसी प्रकार

१—प्रिय।

का सन्मान (पूजा) न हुई। क्योंकि उस समय गोकुल का ईश्वर रस्सी से बान्धा हुआ था। वास्तविक रीति से ईश्वर ही है और यों लौकिक दृष्टि से भी तो नन्द के पुत्र होने से ईश्वर ही है। वह (ईश्वर) जहां बन्धा हुवा हो वहां तब किसका सन्मान होगा। गोकुल में देव, वृक्ष* हुए हैं यह उचित है। इस प्रकार गोकुलवासियों का वृत्तान्त स्मरण कर भगवान् हँसते हुवे गुह्यकों को निम्न प्रकार से कहने लगे। आप दोनों जो मांगते हो वह मेरे अधिकारी ने आपको दे दिया हैं अब कुछ मांगना तो रहा ही नहीं हैं। दो पुरुषार्थ हैं—(१) मुझ में भक्ति और (२) प्रेम, ये दोनों निरोध के रूप हैं। प्रपञ्च की विस्मृति (मुक्ति) है वह आपको पहले ही प्राप्त हुई है। इसका वर्णन करते हैं ॥ ३९ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

श्लोक---**ज्ञातं मम पुरैवैतदृषिणा करुणात्मना।**
यच्छ्रीमदान्धयोर्वाग्भिर्विभ्रंशोनुगृहः कृतः ॥ ४० ॥

श्लोकार्थ--भगवान कहते हैं कि दयालु ऋषि ने, तुम जो लक्ष्मी के मद से अन्धे हो गए थे उन पर अपनी वाणी से (शाप देकर) पात (पदवी से गिराने) रूप अनुग्रह किया है यह मैंने पहले ही जाना है।

सुबोधिनी—प्रपञ्चविस्मृतिर्मुक्तिः सा पूर्वमेव जातेत्याह ज्ञातमिति, मयैतत् पूर्वमेव ज्ञातमासीद् यद् **ऋषिणा करुणात्मना श्रीमदान्धयोर्विभ्रंशः कृतः**. सेवकाः कदाचित् स्वेच्छयापि कुर्वन्तीति नदव्यावृत्त्यर्थं ज्ञानमुच्यते, न केवलं ज्ञातं किन्त्वभिमतमित्यृषिप्रशंसा, ततो मयैतावत् कृतमित्यर्थाज् ज्ञापितं, अतो न प्रार्थनीयं किञ्चिदवशिष्यत इतिभावः, शापो ह्यपकारे भवति स शापदातुः समानाधिकरणो भवति, परदुःखमपि दृष्ट्वा कारुणिको दुःखितो भवति, तदाह **करुणात्मनेति**, करुणायुक्त आत्मान्तःकरणं यस्येति, भाव्यर्थावश्यम्भावज्ञानाद् ऋषित्वं, युवयोस्त्वतिक्लिष्टत्वमाह **श्रीमदान्धयोरिति**, अन्धतमस उद्धारोवश्यं कर्तव्यः, **वाग्भिरितिवचनमात्रं** तेनोक्तं, ज्ञापनार्थं कृतिस्तु मयैव कृता, अत एव **वाग्भिर्यो विभ्रंशोज्ञानरूपः स त्वनुग्रह एव** ॥ ४० ॥

व्याख्यार्थ—मैंने वह पहले ही जान लिया है कि लक्ष्मी के मद से अन्धे बने आप दोनों का दयालु ऋषि ने देव योनि से आपका पात किया है यह भी विचार नहीं करना कि सेवक अपनी इच्छा से जैसा चाहे वैसा भी कभी कभी करते हैं। वैसे ही नारदजी ने भी किया होगा, यदि आप को ऐसा विचार हो तो योग्य अथवा सत्य नहीं है क्यों कि इसका मुझे पहले से केवल ज्ञान न था, किन्तु मेरी ही यह इच्छा थी अथवा इस प्रकार करना मेरा अभीष्ट था। यों कहने से ऋषि की

---

* देवों का यहां वृक्ष होना इसीलिये उचित है कि यह गोकुल की भूमि भगवान् की कृपा से सर्व भूमिओं से उत्तम है।—'प्रकाश'

प्रशंसा की है । इस से यों समझना कि यह मैंने ही किया है इस लिए मांगने के लिए शेष कुछ बचा हो नहीं है ।

किसी का जब अपकार[1] किया जाता है तब वह शाप देता है । नारदजी ने अपकार के कारण शाप नहीं दिया है किन्तु आप के ऊपर दया करके शाप दिया है, क्योंकि धन मद से जो आप मदिरापानादि असत्कर्म कर रहे थे जिस का फल आप को दुःख भोगना पड़ेगा यह जानकर वे दुःखी हुए जिससे उनके चित्त में दया आई, उस दया से इस प्रकार का शाप देकर महान् दुःख भोगने से आपको बचा लिया । नारदजी ने ये होने वाले दुःख रूप फल को पहले ही कैसे जान लिया ? इस के उत्तर में नारदजी के लिए 'ऋषि' विशेषण दिया है । ऋषि वह है जिस को आगामी का भी ज्ञान होता है । श्लोक में आप के लिए श्री मद से अन्धे बने हुए जो कहा है उससे आप को अन्धतम नरक की प्राप्ति होती यह जानकर इस नरक से इनका उद्धार अवश्य करना चाहिए । नारदजी ने तो केवल वाणी से ही कह दिया, उस वाणी को कार्य रूप में तो मैं लाया हूँ । अतः वाणी से जो नारदजी ने आप दोनों का पात[2] कर ज्ञान दिया वह उनका अनुग्रह ही समझना चाहिए ॥ ४० ॥

आभास---नन्ववश्यम्भावि चेत् तथात्वं किमिति नारदेनोक्तं ? वचनात् तूष्णीम्भाव एवोचित इति चेत्तत्राह साधूनामिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार यदि अवश्य होने वाला ही था, तो नारदजी जी ने वाणी से क्यों कहा ? इससे तो उनको मौन धारण करना ही योग्य था ? इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक से करते हैं।

श्लोक---**साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम् ।**
दर्शनान्नो भवेद् बन्धः पुंसोक्ष्णोः सवितुर्यथा ॥ ४१ ॥

श्लोकार्थ----जैसे सूर्य के उदय होते ही नेत्रों की देखने की रुकावट नष्ट हो जाती है वैसे ही समान चित्तवाले ज्ञानी, मुझमें पूर्ण रूप से अर्पित आत्मा वाले साधुओं के दर्शन से पुरुष का बन्धन नहीं रहता है ।

सुबोधिनी—ये हि साधवस्तेषां दर्शने पुनर्बन्धो न भवति, ते हि ज्ञानव्याप्ता वह्निनायःपिण्ड इव, यथा तत्सम्बन्धेग्नेरप्यधिको दाहो भवत्येवमेव ब्रह्मज्ञानापेक्षयापि सद्दर्शने बन्धनिवृत्तिर्भवति, साधवः सदाचाराः समचित्ता ज्ञानिनः, अतो ज्ञानकर्मणोः सद्भावादेते मुक्ता एतेमुक्ता इतिवैलक्षण्यज्ञानं न समदर्शित्वबाधकं,

---

१—बुराई । २—देव योनि से वृक्ष योनि में गिराकर ।

नापि तैस्तथा सम्पाद्यते, किन्तु तेषां दर्शनमेव मुक्तिसाधकं, किञ्च नितराम्मत्कृतात्मनामिति, मयि कृत आत्मा यैः समर्पितात्मानः, मत्कृते, वात्मा येषां, कर्मज्ञानभक्तीनां तेषु सिद्धत्वाद् बन्धः सर्वथा न भवति, तमो निवर्तितं कर्मणा रजो ज्ञानेन सत्त्वं भक्त्येत्यतो न केनाप्यंशेनावशिष्यते, अत एव पूर्णकर्मणो वस्वादिभावं प्राप्नुवन्ति ततोपि ज्ञानिनो ब्रह्मविदः सनकादय इव भवन्ति, ततोपि भक्ता मद्भावं प्राप्नुवन्तीति तदाह दर्शनान्नो भवेद् बन्ध इति, पुंस इति, मर्यादाधिकारिणस्तु ततो बन्धो निवर्तते, अहं त्वनधिकारिणोपि निवर्तक इतिविशेषः, तथाप्यप्रार्थितं कथं दत्तवन्त इत्याशङ्क्य दृष्टान्तेन निराकरोत्यक्ष्णोः सवितुर्यथेति, अक्ष्णोर्बन्धनमन्धकारः, स सवितृदर्शने निवर्तत एव ॥ ४१ ॥

व्याख्यार्थ—वे (साधुजन) इसी प्रकार ज्ञान से भरे हुए है जैसे लोहे का गोला आग से पूर्ण होता है। जैसे उस गोले के स्पर्श से अग्नि से भी विशेष दाह होता है वैसा ही ब्रह्म ज्ञान से भी विशेष शीघ्र बन्ध की निवृत्ति साधुओं के दर्शन से होती है। सदाचारण वाले साधु हैं और सम न चित्त वाले ज्ञानी है। ज्ञान और कर्म के सद्भाव होने के कारण ऐसे साधुओं में से भेद भाव निकल जाता है इसलिए ये मुक्त हैं वा ये अमुक्त है इस प्रकार का उनका वैलक्षण्य[1] ज्ञान उनके समदर्शीपने में बाधक नहीं होता है। वे भी वैसे नहीं करते हैं अर्थात् स्वयं मुक्त नहीं कराते हैं, किन्तु उनका दर्शन ही मुक्ति का साधक[2] है। और जिन साधुओं ने मुझ में आत्मा का समर्पण कर दिया है अथवा जिनकी आत्मा मेरे लिये ही है। उन में कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों ही सिद्ध होने से सर्व प्रकारसे बन्ध नहीं होता है। उनमें बन्धकारक तीनों गुण नहीं रहते हैं। कर्म से तमोगुण की निवृत्ति हो जाती है, ज्ञान से रजोगुण ‡ निवृत्त हो जाता है और भक्ति से सतोगुण* जाता रहता है। इससे बन्ध का कोई अंश नहीं रहता है अतः पूर्ण कर्म वाले वसुभाव को प्राप्त होते हैं उनसे विशेष ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी सनकादिकों के समान होते हैं। उनसे भी अधिक भक्त जन, मेरे भाव को प्राप्त करते हैं ऐसे साधुओं के दर्शन से 'पुरुष' मर्यादाधिकारी का बन्धन निवृत्त हो जाता है। अर्थात् जो मोक्ष के अधिकारी हैं उनके बन्धन दर्शन से कट जाते हैं। जो मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं उनके बन्धनों को काटने वाले हम हैं।

नलकूबर व मणिग्रीव ने मोक्ष मांगा नहीं तो भी मोक्ष कैसे दिया ? इस शंका का उत्तर देते हैं कि जैसे नेत्रों की प्रार्थना बिना सूर्य के उदय से आँखों का बन्धन (न देखना) वा अन्धकार स्वतः छूट जाता है और नेत्र देखने लगते हैं ॥ ४१ ॥

आभास—न हि वस्तुशक्तिः प्रार्थनादिकमपेक्षते तस्मान्मोक्षस्तु पूर्वमेव सिद्धो भक्तिरपि सिद्धेति वदन् प्रार्थितमाह तद् गच्छतमिति, भक्तेः कारणमाह महाभागाविति।

---

‡ ज्ञान से रजोगुण के नाश होने से सतोगुण उदय होता है वह पुरुष सतोगुण से ज्ञानवान बनता है। 'सत्वात्संजायते ज्ञानं' अतः सनकादिक ज्ञानी सतोगुणी हैं।—'लेख'

* भक्ति से सतोगुण के नाश होने से भक्त निर्गुण होते हैं।

१—विचित्रता, अजीबपना। २—देने वाला।

आभासार्थ—कारण कि वस्तु की शक्ति प्रार्थना की अपेक्षा[1] नहीं रखती है इससे मोक्ष तो पहले ही सिद्ध था शेष रही भक्ति जो भी सिद्ध हो गई है उन्होंने जो प्रार्थना की उसका उत्तर नीचे के श्लोक में देते हैं।

श्लोक ---**तद् गच्छतं महाभागो नलकूबरसादनम् ।**
सञ्जातो मयि भावो वामीप्सितः परमोभवः ॥ ४२ ॥

श्लोकार्थ---हे नलकूबर ! इस कारण से महाभाग्य वाले तुम दोनों घर जाओ। आप दोनों का इच्छित अन्तिम जन्मरूप भाव मेरे में हुआ है।

सुबोधिनी—अनन्तकोटिजन्मपुण्यपापयोरुपार्जितयोर्मध्ये दिव्यशतवर्षपर्यन्तं मत्प्रतीक्षाभावनात् सर्वमेव पापं नष्टं, पुण्यं त्ववशिष्यते, तदुक्तं **महाभागाविति, नलकूबरेत्येकस्यैव प्रसादः, सादनं** गृहं, यत्रावसादं प्राप्तौ, अनेन तत्रासक्तिर्न भविष्यतीति सूचितं, **मयि** तु मद्विषयको **भावः** प्रेमलक्षणकः **सञ्जात** एव, तेनैव श्रवणादिकं स्वत एव भविष्यति, अप्रार्थितत्वादनभिमतमित्याशङ्क्याहेप्सित इति, तत्र हेतुः **परमोभव** इति, **भाव** एवान्तिमजन्मरूपो न तस्मादप्यन्यज् जन्म भवतीति परमत्वं, अतो जन्मभिः क्लिष्टानां सर्वेषामेव **मयि भावः** प्रार्थनीयो भवति, अतो **वां** युवयोरपीप्सितत्वात् सम्यग् जातः ॥ ४२ ॥

व्याख्यार्थ—अनन्त करोड़ जन्मों में आपने पाप और पुण्य इकट्ठे किये थे सौ दिव्य वर्ष मेरे दर्शन की प्रतिक्षा करने के भाव से आपके पाप तो नष्ट हो गए, अब शेष पुण्य रहे हैं जिनका फल भक्ति की प्राप्ति है, इसलिये आप बड़े भाग्यशाली हो। दोनों का मन मिलकर एक हो गया है अतः भाव भी एक होने से यहाँ केवल एक नंलकूबर संबोधन से दोनों पर ही अनुग्रह कहा है। गृह के लिये श्लोक में 'सदन' शब्द न देकर 'सादन' दिया है आचार्यश्री उसका आशय बताते हैं कि आप अपने घर जाओ किन्तु आपकी वहाँ जाने पर घर में आसक्ति न होगी क्योंकि वहाँ आपने कष्ट पाया है अथवा वहाँ से आपका नाश हुआ है मेरे में तो आपका मेरे सम्बन्धवाला प्रेमरूप भाव हो ही गया है इससे ही श्रवणादिक स्वतः हो जाएंगे। इस प्रकार के भाव की तो प्रार्थना नहीं की है इससे जाना जाता है कि हमको यह इष्ट नहीं है? इसके उत्तर में श्लोक में "ईप्सितः" शब्द देकर यह बता दिया है कि आपको इष्ट है उसका कारण बताने के लिये 'परमत्वं' शब्द दिया है यह भाव ही अन्तिम जन्मरूप है। इस भाव के होने के पीछे दूसरा जन्म नहीं होता है अनेक जन्मों से जो दुःखी है वे सब मेरे में यह भाव माँगने के योग्य हैं अर्थात् मांगते (चाहते) ही हैं। अतः आप दोनों को भी यह इष्ट होने से सम्यक्[2] प्रकार से यह भाव हुआ है ॥ ४२ ॥

१—आवश्यकता। २—अच्छे।

आभास--एवमुक्तौ तत्रोचितं कृत्वा गतवन्तावित्याहेत्युक्तौ ।

आभासार्थ—भगवान् ने उनको जो कुछ ऊपर कहा, वह सुनकर वे जाने लगे । जाने से पहले जो कुछ उनको करना योग्य था वह उन्होंने किया उसका वर्णन नीचे के श्लोक में शुकदेवजी करते हैं ।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक---**इत्युक्तौ तं परिक्रम्य प्रणम्य च पुनः पुनः ।**
बद्धोलूखलमामन्त्र्य जग्मतुर्दिशमुत्तराम् ॥ ४३ ॥

श्लोकार्थ--श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि ऊखल में बन्धे हुए भगवान् से इस प्रकार कहे हुए वचन सुनकर उन दोनों ने उन (ऊखल में बन्धे हुए) की बार बार परिक्रमा और नमस्कार कर और आज्ञा लेकर वें उत्तर दिशा में गये ।

सुबोधिनी—तमिति बालकव्युदासः, बहुवारं प्रदक्षिणां कृत्वा प्रतिप्रदक्षिणं नमस्कृत्य चकरात् स्वदीनतां चाविष्कृत्य लीला भावादिभिरण्य मोहितौ सन्तौ बद्ध मुलूखलं यस्मिन्निति, आमनय 'गच्छाव' इत्युक्त्वोत्तरां दिशं स्वस्थानं जग्मतुः, एवं गोकुलवासि नोर्वृक्षयोरपि निरोध उक्तः ॥ ४३ ॥

व्याख्यार्थ--श्लोक में (त) शब्द इसलिये दिया है कि वे बालक नहीं थे अर्थात् परब्रह्म थे इसलिये उनकी बार बार प्रदक्षिणा की । प्रत्येक प्रदक्षिणा के समय प्रणाम किये । श्लोक में (च) शब्द आया है उसका आशय बताते हैं कि प्रणाम अभिमान से नहीं किये किन्तु दीनता प्रकट कर प्रणाम किए । लीला भाव से भी मोहित नहीं हुए, अर्थात् उस समय श्रीकृष्ण मनुष्य के बालक के समान ऊखल में बन्धे हुए थे और डरने आदि की चेष्टा कर रहे थे इसको देख कर भी भूले नहीं कि यह मनुष्य है इससे इनको प्रदक्षिणा और प्रणाम कैसे करें, मोहित न हुए इसीलिये प्रणाम के पीछे उसी ऊखल में बन्धे हुए से ही जाने की आज्ञा ली । आज्ञा लेकर अपने स्थान उत्तर दिशा में गये । इस लीला से यह स्पष्ट दिखाया कि मैंने केवल गोकुलवासी चेतन्यों का ही निरोध नहीं किया है किन्तु गोकुल के जड़-वृक्षों का भी निरोध किया ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, दशम-स्कन्ध (पूर्वार्ध) के दशम अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्यवरणकृत श्रीसुबोधिनी (संस्कृत टीका) के द्वितीय 'तामस-प्रकरण, प्रमाण' अवान्तर प्रकरण, का 'वैराग्य निरूपक' छट्ठा, स्कन्धानुसार दशम अध्याय (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण ।

इस 'वैराग्य' निरूपक अध्याय में श्रीबालकृष्ण दामोदर प्रभु की लीला सम्बन्धित निम्न पदों से आनन्द लेवें।

रागधनाश्री

हरि चितये यमलार्जुन तन।
अबहि आजु इनहि उद्धारों, ए हैं मेरे निज जन ॥ १ ॥
इनके हेतु भुजा बन्धवाई, अब बिलम्ब नहिं लाऊँ।
परस करौं तनु तरुहि गिराऊँ, मुनिवर श्राप मिटाऊँ ॥ २ ॥
ए सुकुमार बहुत दुःख पायो, सनकादिक सुत चारों।
सूरदास प्रभु कहत मन हि मन, कर बन्धन निरवारों ॥ ३ ॥

(२)

तबहि श्याम एक बुद्धि उपाई।
युवति गई घरनी सब अपने, गृह कारज जननि अटकाई ॥ १ ॥
आप गए यमलार्जुन तरु पट, परसत पात उठे झहराई।
दिए गिराए धरनि दोउ तरुवर, ह्वे कुबेरसुत प्रकटे आई ॥ २ ॥
ह्वे कर जोर करत दोउ अस्तुति, चार भुजा तिन प्रकट दिखाई।
सूर धन्य व्रज जन्म लियो हरि, धरनी की आपदा नसाई ॥ ३ ॥

(३)

धनि गोविन्द धनि गोकुल आए।
धनि धनि नन्द धन्य निशिवासर, धनि यशुमति जिन गोद खिलाए ॥ १ ॥
धनि व बाल केलि यमुना तट धनि बन सुरभि वृन्द चराए।
धनि यह समय धन्य व्रजबासी, धनि धनि वेणु मधुर धुनि गाए ॥२ ॥
धनि धनि अनख उराहनो धनि धनि, धनि माखन धनि मोहन खाए।
धन्य सूर ऊखल तरु गोविन्द, हमहि हेतु धनि भुजा बंधाए ॥ ३ ॥

(४)

जा को ब्रह्मा अन्त न पावे।
तासों नन्द की नारि यशोदा, घर की टहल करावे ॥ १ ॥
शेष सनक नारद गनेश मुनि, जाके गुण नित गावे।
निसि वासर खोजन पच हारे, मुनि मन ध्यान न आवे ॥ २ ॥
धनि धनि गोकुल धनि व्रज बनिता, निरखत श्याम बंधावे।
सूरदास प्रभु प्रेमहि के बस, संतनि दरस दिखावे ॥ ३ ॥

(५)

धनि धनि धनि ऋषि श्राप हमारे।
आदि अनादि निगम नहि जानत, ते हरि प्रकट देह व्रज धारे ॥ १ ॥
धन्य नन्द धनि मात यशोदा, धन्य आंगन में खेलत बारे।
धन्य श्याम धनि दाम बंधाए, धनि ऊखल धनि माखन त्यागे ॥ २ ॥
दीन बन्धु करुणानिधि हो प्रभु, राखि लेहु हम शरण तुम्हारे।
सूर श्याम के चरण शीस धरि, अस्तुति कर निज धाम पधारे ॥ ३ ॥

॥ श्री कृष्णायनमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभायनमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्योनमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य – विरचित – सुबोधिनी-टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

तामस-प्रकरण

प्रमाण अवान्तर प्रकरण

सप्तमो अध्याय

दशम स्कन्धानुसार : एकादश अध्याय

कारिका––**निरोधः सर्वभावेन वर्णनीयो हि गोकुले ।**
स्त्रीणां स चोक्तः पुंसां च नन्दप्राधान्यभावतः ।

कारिकार्थ––गोकुल में सर्वभाव से जो निरोध का वर्णन करने योग्य है, वह स्त्रियों का है और पुरुषों का भी मुख्य कर नन्दजी के भाव से कहा है ॥ १ ॥

व्याख्या—गोकुल में सर्वभाव से (सब प्रकार से अथवा सर्व करणों[1] से जिसके द्वारा भगवान् से सम्बन्ध हो जाए इसी प्रकार से) निरोध करना है। दशम स्कन्ध 'निरोध स्कन्ध' है अतः उसमें गोकुल का, 'फल' पर्यन्त पूर्ण निरोध प्रथम कहा है। इससे पहली और दूसरी कारिका से ग्यारहवें अध्याय का 'अर्थ' और प्रथम कहे हुए की संगति कही है। इस अध्याय में स्त्रियों का निरोध और नन्दरायजी की मुख्यता से पुरुषों के निरोध का भी वर्णन है ॥ १ ॥

१—साधनों ।

कारिका—**एकादशे ततोध्याये पूर्वावस्थामशेषतः ।**
त्याजयित्वा तु नन्दस्य कृष्णभावो निरूप्यते ॥ २ ॥

कारिकार्थ—इससे ११ वें अध्याय में पूर्वावस्था (पहली अवस्था) का पूर्ण रीति से त्याग कराके, नन्दरायजो के कृष्ण के भाव का निरूपण करते हैं ।

व्याख्या—यद्यपि नन्दरायजी के निरोध का वर्णन पूर्व हुआ है, किन्तु वह सामान्य था । क्योंकि उस समय नन्दरायजी से प्रपञ्च की आसक्ति नहीं छूटी थी । अब इस अध्याय में वर्णन की हुई लीला द्वारा नन्दरायजी की प्रपञ्च में रही हुई आसक्ति का पूर्ण त्याग कराके, कृष्ण में आसक्ति रूप भाव उत्पन्न कराया जाएगा । जिससे नन्दरायजी का पूर्ण निरोध सिद्ध होगा उसका निरूपण इस अध्याय में किया गया है ॥ २ ॥

कारिका—**मोचनं मुग्धलीला च स्थानान्तरपरिग्रहः ।**
तत्र लीला वत्सबकौ ज्ञानं चेति निरूप्यते ॥ ३ ॥
षड्भिस्त्रिभिः षोडशभिश्चतुर्भिः षड्भिरेव च ।
नवभिः पञ्चभिश्चेति सप्तार्थाः सगुणो हरिः ॥ ४ ॥

कारिकार्थ—(१) छुडाना (ऊखल में बान्धे हुए भगवान् को छुड़ाना), (२) मुग्ध लोला, (३) दूसरे स्थान पर जाकर रहना, (४) वहाँ लीला करनी, (५) वत्सासुर का वध, (६) बकासुर का वध और (७) ज्ञान लीला । इन सातों का वर्णन क्रमशः निरूपण किया है जैसा कि (१) छुड़ाने का छः श्लोकों से, (२) मुग्ध लीला का तीन श्लोंकों से, (३) दूसरे स्थान पर जाकर रहने का सोलह श्लोकों से, (४) लीला करने का चार श्लोकों से, (५) वत्सासुर का वध छ श्लोकों से, (६) बकासुर के वध का नौ श्लोकों से, (७) ज्ञानलीला का पांच श्लोकों से वर्णन कर यह बताया है कि छ गुणों वाला 'ज्ञान रूप' धर्मी हरि इस ११ वें अध्याय का 'अर्थ' है ॥ ३–४ ॥

व्याख्या—इन दो कारिकाओं से यह बताया है कि इस अध्याय का अर्थ 'हरि है । वह हरि ऐश्वर्यादि छ गुण और ७ वां आप धर्मी रूप होने से 'सगुण' कहा गया है ।'३-४ ॥

कारिका—**स्वार्थं तु भगवान् कार्यस्तथात्वं ज्ञाप्यते पुनः ।**
सर्वस्वं हरिरेवेति तदर्थं त्याग ईर्यते ॥ ५ ॥

कारिकार्थ--भगवान् अपने रस भोगार्थ जो निरोध करते हैं वह निरोध भगवान् ही हैं अर्थात् वह निरोध भगवान् का ही रूप है। इस प्रकार फिर समझाते हैं कि सर्वस्व[1] हरि ही है उस (हरि) के लिये त्याग कहा जाता है।

व्याख्या--भगवान् दो प्रकार से निरोध करते हैं। एक अपने लिये दूसरा अन्यों के लिये। अपने लिये जो निरोध करते हैं वह लीलारूप निरोध भगवद्रूप (धर्मीरूप) है और अन्यों के लिये जो निरोध करते हैं वह निरोध धर्मरूप है। पहले ६ अध्यायों में जो निरोध किया है वह धर्मरूप (गुणरूप) है। सातवें अध्याय में जो दूसरों के लिये पाँच प्रकार के निरोध का वर्णन किया है उनसे श्रोताओं की भगवद्गुणानुवाद में रुचि उत्पन्न होती है जिससे भगवान् में उनकी आसक्ति होती है। पाँचवें अध्याय से दसवें अध्याय तक ६ अध्याय गुणाध्याय हैं और यह एकादश (११) अध्याय रूपाध्याय है इसलिये इसमें रूपलीला से निरोध करते हैं। इस रूप लीला से निरोध दृढ़[2] हो जाता है।

भगवान् जिस प्रकार भक्तों का निरोध अपने में कराते हैं वैसे ही अपना निरोध भक्तों में कराते हैं इस प्रकार दोनों का परस्पर निरोध होने से निरोध परिपक्व होता है।

'स्वार्थ' का विशेष आशय यह भी है कि अपने मन में जिस प्रकार की भगवत्सेवा करने की इच्छा हो उसकी सिद्धि के लिये भगवान् को अपने वश में करना आवश्यक है यह भगवान् को ऊखल से छुड़ाने की प्रथम लीला से बताया है। दूसरी मुग्ध लीला से भगवान् भक्तों के वश होते हैं यह बताया हैं जिसका आशय है कि यह देखकर अन्य भी उस फल की इच्छा से सेवा करेंगे ॥५॥

कारिका--**वृन्दावने स्थितौ हेतुर्भगवत्तोषतः परम्।**
नास्तीतिज्ञापनायोक्ता प्रीतिर्लीलोपयोगिषु ॥ ६ ॥

कारिकार्थ--वृन्दावन में स्थिति का कारण भगवान् को प्रसन्न करने के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है क्योंकि वृन्दावन में लीलोपयोगी जो पदार्थ हैं उनमें भगवान् की प्रीति है।

व्याख्या--गोकुल छोड़कर वृन्दावन में जाकर क्यों रहे उसका कारण केवल भगवान् की प्रसन्नता है भगवान् को वृन्दावन अति प्रिय है क्योंकि वहाँ लीलोपयोगी पदार्थ सुन्दर एवं विशेष हैं। अतः भगवान् की प्रसन्नता के अर्थ सब कुछ त्याग करना योग्य समझ अपना गोकुल गाँव छोड़ा है। ज्ञान मार्ग में 'आत्मा' के लिये सर्व त्याग किया जाता है वैसे ही इस भक्ति मार्ग में 'सर्वस्व' हरि होने से गोकुल का त्याग किया गया है ॥ ६ ॥

१—सब कुछ। २—पक्का, उपयुक्त।

कारिका—**वत्सचारणदोषस्य निवृत्तिर्वत्समारणम् ।**
गोपालदोषव्यावृत्त्यै बकस्यापि विनाशनम् ॥ ७ ॥

कारिकार्थ—वत्सासुर का वध, वत्सचारण के दोषों की निवृत्ति के लिये किया है और गौपालन के दोषों का निवारण करने के वास्ते बकासुर का वध किया है ।

व्याख्या—इस कारिका में वत्सासुर वध और बकासुर वध क्यों किया ? उसको बताया गया है । वत्सासुर वध का कारण भगवान् में वत्स चारण शी लीला से, जो मनुष्यत्व बुद्धि रूप दोष, गोकुलवासियों में उत्पन्न हुआ था, उसका नाश किया । वह असुर, वत्स का रूप धारण कर, बछड़ों में मिल गया था, जिसको ईश्वर के अतिरिक्त कोई नहीं पहचान सकता था । कृष्ण ने अपना ईश्वरत्व प्रकट दिखाने के लिये उसको पहचान कर उसका नाश किया जिससे दोष निवृत्ति हुई । दूसरा वत्सों के चराने से काँटों वाले और कंकरवाले स्थानों पर वत्स जाते हैं जिससे उनको कष्ट होता है । उनसे उत्पन्न दोषों को भी, वत्सासुर वध से निवृत्त किया । वह दोषरूप असुर दुष्ट बुद्धि से भगवान् के वत्सों में (भगवदीयों में) प्रविष्ट हुआ था । उसका फल यह हुआ कि वह स्वरूप से नाश हो गया किन्तु भगवदीयों के सम्बन्ध से उसको भगवान् के कर कमल का संस्पर्श हुआ जिससे उसकी दुष्ट बुद्धि नष्ट हो गई ।

इस लीला से यह शिक्षा प्राप्त होती है कि भक्तों का संग, दोष रहित बुद्धि से करना चाहिये । यदि दुष्ट बुद्धि से किया जाएगा तो वत्सासुर की तरह नाश को प्राप्त होना पड़ेगा । भगवान् अपने भक्तों का जब अनिष्ट दूर करते हैं तब लोक अथवा वेद मर्यादा की अपेक्षा नहीं रखते हैं ॥ ७ ॥

कारिका—**स्थानत्यागे हरीच्छैव कारणं न तु दुष्टता ।**
तज् ज्ञापयितुमत्रापि बकत्वसौ विनाशितौ ॥ ८ ॥

कारिकार्थ—स्थान के त्याग का कारण स्थान की दुष्टता (दोषों का होना) नहीं था किन्तु भगवान् की इच्छा थी यह बताने के लिए वहाँ भी असुर और वत्सासुर का वध किया है ।

व्याख्या—इस कारिका में यह कहा है, कि किसी को यह भ्रम हुआ हो, कि गोकुल इसलिये छोड़ा है कि वहां पूतना आदि दैत्य आए उनको भगवान् ने मारा इसलिये यह गोकुल दोषयुक्त होने से दुष्टता को प्राप्त हुआ है इसलिये इसे छोड़ा है । इस भ्रम[1] निवृत्यर्थ[2] वृन्दावन

१—सन्देह । २—मिटाने के लिये ।

में भी बक और वत्स को मारा है। जिससे इस भ्रम की पूर्णतया निवृत्ति की है। जो भगवान् अन्तःकरण में सदैव विराजमान हैं, दम्भ[1] जो लोभ और असत्य को पैदा कर उनको (भगवान् को) तिरोहित[2] करता है उस (दम्भ) ने बक का रूप धारण कर अपना दम्भ रूप (दोष स्वरूप) प्रकट कर दिखाया था। दम्भ रूप असुर ने गोपालों के अन्तःकरण में प्रवेश किया था किन्तु यमुनाजल के पान से वह दम्भ उनके अन्तःकरणों में से बाहिर निकल गया वहां से निकल कर उस असुर ने अपने जैसे दम्भी बक का रूप धारण किया है भगवान् जो अन्तर्यामी हैं उनने यह जानकर बक रूप असुर का नाश किया जिससे गोपाल दम्भ रूप दोष से निश्चिन्त हो गए ॥ ८ ॥

कारिका---**अतो विमर्शो गोपानामानन्दश्च निरूपितः ।**
तदर्थमेव च हरेर्बालभावो न चान्यथा ॥ ९ ॥

कारिकार्थ---अतः गोप के विचार करने का और आनन्द का निरूपण किया है। हरि का बाल भाव इसलिये ही है, न कि अन्य किसी भाव से है।

व्याख्या---गोकुल दोष युक्त (दुष्ट) नहीं था इसलिये गोकुल का त्याग गोपों नें भगवान् की इच्छा जानकर किया है। अतः गोपों ने वृन्दावन में निवास करने की मन्त्रणा[3] और आनन्द के अनुभव का वर्णन किया है। भगवान् की बाल लीला का मुग्ध[4] भाव आनन्द के लिए और नन्दादिकों का सर्व भाव से निरोध करने के लिये था ॥ ९ ॥

कारिक----**सम्पन्ने तु ततस्तस्य परित्यागोपि वर्ण्यते ॥ ९½ ॥**

कारिकार्थ---उसके पूर्ण हो जाने के पीछे बाल भाव के त्याग का भी वर्णन है।

व्याख्या---नन्दादिकों का पूर्ण निरोध सम्पन्न होने के अनन्तर बाल-भाव लीला की आवश्यकता न रही। अतः भगवान् के बाल-भाव का त्याग करना युक्त था। जिसका वर्णन भी इस अध्याय में किया है ॥ ९½ ॥

आभास---तत्र प्रथमं प्रपञ्चविस्मरणपूर्वकं भगवदासक्ति वक्तुं भयविमोकावाह गोपा नन्दादय इतिषड्भिर्नन्दार्थमेवैतदिति ज्ञापयितुं नन्दादय इति, गोपा इति।

१---कपट, पाखण्ड। २---छिपाता है। ३---सम्मति सलाह। ४---भोला भाला स्वभाव।

आभासार्थ—एकादश अध्याय में, प्रपञ्च के विस्मरण के साथ भगवान् में आसक्ति का वर्ण करने के लिये प्रथम गोपों के उत्पन्न भय का और भगवान् को ऊखल से नन्दजी ने छुड़ाया उसका वर्णन पहले से लेकर छः श्लोक तक करते हैं।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—**गोपा नन्दादयः श्रुत्वा द्रुमयोः पततो रवम् ।**
तत्राजग्मु कुरुश्रेष्ठ निर्घातभयशङ्किताः ॥ १ ॥

श्लोकार्थ—श्रीशुकदेवजी कहते हैं हे कुरु श्रेष्ठ ? वृक्षों के गिरने का शब्द सुनकर बिजली के गिरने की शंका से भयभीत हुए नन्दादिक गोप वहाँ आए।

सुबोधिनी—स्वतः सामर्थ्याभावः, भगवतोद्भुतलीलामाह श्रुत्वा द्रुमयोः पततो रवमिति, पततोर्द्रुमयोरिदानीं रवः श्रुतो यदा तौ स्तुत्वा निर्गतौ, इदं नान्यशक्यं, ततस्तत्राजग्मुः, कुरुश्रेष्ठेतिविश्वासार्थं, सर्वेषां तत्रागमने हेतुर्निघतिभयशङ्किता इति, निर्घातो निरभ्रविद्युत्पातस्तत्कृतं भयं कस्यचिदुपद्रवो भाव्यनिष्टसूचनम् ॥ १ ॥

व्याख्यार्थ—पहले से छट्ठे श्लोक तक की लीला नन्दजी के निरोध के लिये ही की है। वह बताने के लिये श्लोक में नन्दजी का नाम पहले दिया है। गोपों में वहाँ अकेले जाने की सामर्थ्य नहीं थी इसलिये नन्दजी को आगेवान कर उनके पीछे-पीछे गए यह बताने के लिये श्लोक में 'गोपाः' शब्द का विशेषण नन्दादय (नन्द है आदि में जिनके ऐसे गोप) दिया है। 'दोनों पेड़ों के गिरने का शब्द सुनकर' नन्दादिगोपों को आश्चर्य हुआ, क्योंकि भगवान् की अद्भुत लीला थी। वृक्षों के गिरने का शब्द उन्होंने तब सुना जब वे (नलकूबर और मणिग्रीव) स्तुति करके चले गए थे। इस प्रकार की यह लीला ईश्वर बिना दूसरा कोई नहीं कर सकता है। क्योंकि पेड़ गिरे वे देवरूप होकर प्रगटे और भगवान् की स्तुति की, तब तक गोपों ने न शब्द-ध्वनि सुनी और न कुछ जाना उनके जाने के पीछे शब्द सुना यह ईश्वर की अद्भुत लीला है और ईश्वरत्व है। इस लीला पर आपको विश्वास होगा और होना चाहिये क्योंकि आप 'कुरुश्रेष्ठ' हो। नन्दजी के अतिरिक्त अन्य गोपादिकों के आने का कारण बताने के लिये 'निर्घातभयशंकिताः' पद श्लोक में दिया है जिसका आशय यह कि आकाश में बादल नहीं है तो भी बिजली गिरी है यह उपद्रव है वह भावी[1] अनिष्ट[2] की सूचना देता है इससे उत्पन्न भय के कारण शंकाशील होकर सब वहाँ आ गए थे ॥ १ ॥

१—आगे आने वाले। २—सङ्कट या विपत्ति।

आभास---आगतानां ज्ञानमाह भूम्यामिति ।

आभासार्थ—आए हुए नन्दादिकों को जिस प्रकार का ज्ञान हुआ उसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक---**भूम्यां निपतितौ तत्र ददृशुर्यमलार्जुनौ ।**
बभ्रमुस्तदविज्ञाय लक्ष्यं पतनकारणम् ॥ २ ॥

श्लोकार्थ---वहां पृथ्वी पर पड़े हुए यमलार्जुन को देखा, पड़ने का कारण प्रत्यक्ष होते हुए भी उसको न समझकर भ्रमित हो गए ।

सुबोधिनी—भूमौ निपतितावर्जुनौ दृष्टवन्तः ततोन्यत्र तौ चेत् पतितौ भवतस्तदा कालान्तरत्वं न दोषायेति तदव्यावृत्त्यर्थमाह तत्रेति, यत्रैव स्थितौ तत्रैव पतितौ, आर्द्रता च तेषां दृष्टिगम्या न भवति, बहिर्मुखत्वात्, जातायामपि तत्राप्याकर्षणस्यापेक्षितत्वात् तस्य पतनस्य कारणमविज्ञाय बभ्रमुः, ननु प्रत्यक्षस्याभावेप्यनुमानेन कथं न कल्प्यते ? तत्राह लक्ष्यमिति, लक्ष्यमप्यविज्ञाय, ते ह्यतिनैयायिका युक्तिबाधितं प्रमाणं न किमपि मन्यन्ते, अतो व्याप्तस्याभावान्नानुमानेन पतनकारणज्ञानम् ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ—पृथ्वी पर पड़े हुए पेड़ों को देखा । श्लोक मे दिये हुए 'तत्र' का भावार्थ बताते हैं कि यदि वे पेड़ कहीं दूर जा के गिरे होते और हमको देरी से पता लगता तो देरी होना दोष नहीं था, किन्तु जहां खड़े थे वहां ही गिरे हैं और गिरे हुए को विशेष समय भी नहीं हुआ है । बहिर्मुख होने से उनको पेड़ों की आर्द्रता[1] भी देखने में नहीं आई । यदि उन्होंने गीलापन देखा भी हो तो भी उन (पेड़ों) को खेंचने की आवश्यकता थी यहां कोई खेंचने वाला नहीं देखकर, उनके गिरने का कारण न जानकर भ्रम में पड़ गए । यदि प्रत्यक्ष से, कारण को नहीं जान सकें तो अनुमान से कारण की कल्पना कर लेते ? इसके उत्तर में श्लोक में 'तद् अविज्ञाय लक्ष्यं' पद दिये हैं जिसका आशय है कि देखने में आते हुए को भी न समझ सके । जब देखा कि वृक्ष गिरे पड़े हैं, तो अवश्य इनको किसी ने गिराया होगा, ऐसा अनुमान लगा के कारण का पता लगा लेते यों भी उन्होंने नहीं किया । कारण कि वे बड़े नैयायिक थे । बड़े नैयायिक जिसका युक्ति से बाध[2] हो जाता है वैसा कोई प्रमाण नहीं मानते हैं । इससे किसी ने गिराये हैं । इस प्रकार के ज्ञान का प्रमाण न होने से और उसके अनुमान करने की इच्छा न होने से एवं व्याप्ति*

* एक वस्तु के ज्ञान होने पर दूसरी वस्तु का ज्ञान व्याप्ति हैं । जैसे जहां धूम्र (धूंआ) होता है वहां अग्नि होनी ही चाहिये ।

१—गीलापन । २—झूठा सिद्ध होना ।

वाले किसी भी कारण के न होने से उन्होंने समझ लिया कि अनुमान से गिरनें के कारण का ज्ञान नहीं होगा ॥ २ ॥

आभास----ननु भगवानस्त्येव प्रत्यक्षसिद्धः कोत्र सन्देह इति चेत् तत्राहोलूखलमिति ।

आभासार्थ—वृक्षों को गिरानेवाला भगवान् यहां है ही यह प्रत्यक्ष दिखता है इसमें किसी प्रकार से संशय नहीं है तो भी उनको सत्य ज्ञान नहीं हुआ यह तीसरे श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक---**उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं च बालकम् ।**
कस्येदं कर्म आश्चर्यमुत्पात इति कातराः ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ--(नन्दादिगोपों ने) रज्जु से बंधे हुए बालक को, ऊखल खेंचते हुए देखा तो भी यह काम किसका है ? आश्चर्य है ! यह कोई उत्पात है ऐसा समझ भयभीत हो गए ।

सुबोधिनी—उलूखलाकर्षणं कुर्वन्तं तदानीमपि ततोप्यग्रे गच्छन्तं वृक्षयोर्मध्ये स्थित, अन्यत्र गमनाभावे हेतुर्दाम्न बद्धमिति, च कारादुलूखलेन सह वृक्षयोः पातं बालकं चेति वा बालकत्वादेव न स्वतो मोचनं भगवन्तं हेतुत्वेन प्रत्यक्षसिद्धमप्यन्यथासिद्धं कृतवन्त इत्याह कस्येदमिति, इदं बन्धनलक्षणं कस्य कर्म ? कर्मेतिवचनं, व्याकुलत्वज्ञापकं, किञ्च कुतो वा हेतोरेतद् बन्धनमिति, आश्चर्यमिति, बालकस्य बन्धनं तेन पातनं त्वसम्भवितमेवात आश्चर्यमेवैतदुभयमपि, पातनमेव वा, नन्वकारणकार्योत्पत्तिः कथम् ? तत्राह उत्पात इति, अयमुत्पातो देवदैत्यादिकृतो भाव्यनिष्टसूचको न तु सर्वथा युक्तिबाधितो भगवता कृत इति कार्यकारणभावे प्रत्यक्षसिद्धेपि न तथात्वमङ्गीकर्तुं शक्यते, अत एव भ्रान्तो नैयायिकस्तर्कविरुद्धं न मन्यते, 'अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेदि" तिवाक्याच्च, तर्हि किं जातं तादृशज्ञानस्य फलमित्याकांक्षायामाहोस्पात इति कातराः,पातस्तूत्पातरूपः अग्रे च भयं भविष्यतीति कातरा भयव्याकुला जाता इत्यर्थः ॥३ ॥

व्याख्यार्थ—जिस समय नन्दादि गोप वहाँ गए उस समय भी भगवान् उखल को खेंच रहे थे खेंचते हुए वहां वृक्षों के बीच में ही स्थित थे । आगे न जाने का कारण यह था कि आप ऊखल से बन्धे हुए थे श्लोक के 'च' अक्षर का आशय बताते हैं कि गोपों ने यह प्रत्यक्ष देखा कि ऊखल के कारण पेड़ पड़े हैं क्यो कि ऊखल पेड़ों के बीच मे टेढा हुआ वृक्षों के पास पड़ा है । और ऊखल से बन्धे हुए बालक को देखा । बालक होने से स्वयं ऊखल से अपने को नहीं छुड़ा सके ।

भगवान् वृक्षों के गिराने का कारण है यह प्रत्यक्ष सिद्ध देखकर भी इस हेतु को उन्होंने नहीं माना किसी दैत्य का यह उत्पात कार्य है ऐसा समझ उसको हेतु मान लिया । भगवान् के बन्धन

का कर्म किसने ? यहाँ 'कर्म' शब्द से गोपों ने अपनी व्याकुलता प्रकट की है और भगवान् के बान्धने का क्या कारण है ? अचम्भा हैं ! बालक ऊखल में बन्धा हुआ है, वह पेड़ों को गिरावे यह असम्भव है। अतः यह भी आश्चर्य है, और पेड़ों का गिरना भी आश्चर्य है। कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति कैसे हुई ? अर्थात् कारण के बिना पेड़ों का पातरूप कार्य कैसे हुआ ? इसके उत्तर में कहते हैं कि यह देव अथवा दैत्यों द्वारा किया हुआ उत्पात[1] है और आने वाले अनिष्ट[2] का सूचक है। सर्व प्रकार से जो युक्ति से वाधित[3] हैं वह तो भगवान् ने नहीं किया है। कार्य (पेड़ों का गिरना) और कारण (भगवान् का भाव) प्रत्यक्ष सिद्ध होने पर भी हम वह नहीं मान सकते हैं। इस से ही कहा जाता है कि तर्क विरुद्ध बात को न मानने से वे नैय्यायिक भ्रान्त[4] हैं। क्यों कि शास्त्र में कहा है कि 'अलौकिकास्तुये भावा नतांस्तर्केण यौजयेत्' जो अलौकिक भाव हैं उनको तर्क से सिद्ध नहीं करना चाहिये। इस प्रकार युक्तियों पर आधार रखने का फल क्या हुआ ? वृक्षों के गिरने को उत्पात समझा और उससे भावी आपदा आने वाली है यों समझ भयभीत हुए ॥ ३ ॥

आभास--अत एव बालकैरुच्यमानमपि वाक्यं नांगीकृतवन्त इत्याह बालाः प्रोचुरितिद्वाभ्यां।

आभासार्थ—महानैयायिक होने से ही बालकों की प्रत्यक्ष देखी हुई बात को भी नहीं माना। इसका वर्णन ४थे-५वें दो श्लोकों में करते हैं।

श्लोक--**बालाः प्रोचुरनेनेति तिर्यग् गतमुलूखलम्।**
विकर्षता मध्यगेन पुरुषावप्येचक्ष्महि ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ--बालकों ने कहा ति पेडों के बीच मे आए हुए इस (बाल कृष्ण) ने टेढ़े पड़े हुए ऊखल को खेंचा जिससे ये पेड़ गिर गए हैं और उनमें से निकले हुए दो पुरुषों को भी हमने देखे हैं।

सुबोधिनी—सर्व एव बाला यथादृष्टार्थवादिनः कल्पनासमर्थाः कारणं प्रोचुः, तेषां वाक्यमाहानेनेति, अनेन वृक्षौ पातितौ, प्रकाराकङ्क्षायामाहुस्तिरश्चीनमुलूखलं विकर्षतेति, तिर्यक् पतितमुलूखलं तं विशेषेण कर्षता, कर्षणेपि प्रयोजनमाहुर्मध्यगेनेति, मध्ये स्थितः किं कुरयात् ? नचैतज् ज्ञानं भ्रान्तमित्याशङ्क्यायामाहुः पुरुषावप्यचक्ष्महीति, वृक्षाद् द्वौ पुरुषौ निर्गतौ तावप्यस्माभिर्दृष्टाविति, अतः स्वदृष्टं लौकिकमलौकिकं चोक्तवंतः ॥ ४ ॥

१—उपद्रव। २—विपत्ति। ३—सिद्ध नहीं। ४—भ्रम में पड़ हुए।

व्याख्यार्थ—जो बालक अब तक बात की बनावट करने में असमर्थ हैं उन्होंने जैसा देखा वैसा ही वे कहने लगे। उन्होंने कहा कि पेड़ इस बालक ने गिराए हैं। इसने कैसे गिराए ? तो कहने लगे कि इस टेढ़े ऊखल को खेंचते हुए गिरा दिए। यह ऊखल खेंचते हुए टेढ़ा हो गया था उसको जोर से खेंचा तो पेड़ गिर गए। जोर से क्यों खेंचा ? तो कहने लगे कि बालक पेड़ों के बीच में स्थित था इसलिये क्या करे ? बाहिर निकलने के लिये उसको जोर से खेंचना आवश्यक था। जब ऊखल को जोर से खेंचा तो पेड़ गिर गए। यह ज्ञान संशययुक्त (भ्रमवाला) न समझना क्योंकि पेड़ों के गिरते हुए उनमें से दो पुरुष निकले वे भी हमने देखे हैं। बालकों ने जो कुछ लौकिक (ऊखल को खेंचना उसका टेढ़ा होना तथा पेड़ों का गिरना) और अलौकिक (पेड़ों से दो देवरूप पुरुषों का निकलना) देखा वह उनको कह दिया ॥ ४ ॥

आभास—तदुभयमपि तैर्नाङ्गीकृतमित्याह न ते तदुक्तं जगृहुरिति ।

आभासार्थ—बालकों के कही हुई दोनों बातें उन्होंने नहीं मानी ।

श्लोक—**न ते तदुक्तं जगृहुर्न घटेतेति तस्य तत् ।**
बालस्योत्पाटनं तर्वोः केचित् सन्दिग्धचेतसः ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ----वृक्षों को यह बालक जड़ से उखेड़ दें यह हो नहीं सकता है, ऐसा समझ कर बालकों का कहना नहीं माना। कुछ गोपों को संशय हुआ कि कदाचित् इसने इस प्रकार से गिरा भी दिया हो।

सुबोधिनी—ते गोपा बालकोक्तं न सत्यमिति गृहीतवन्तस्तत्र हेतुर्न घटेतेति, तस्य बालकस्य तर्वोरुत्पाटनं सर्वथा युक्तिबाधितं, केचन पुनरार्द्रनैयायिकाः सन्दिग्धचेतसो जाताः शकटतृणावर्तयोर्भङ्गदर्शनात्, न तु तेषामपि कश्चन निर्धारः ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ—उन गोपों ने जो कुछ बालकों का कहना था उसको सत्यरूप से ग्रहण नहीं किया क्योंकि बालकों का कहना युक्ति से बाधित था, अर्थात् युक्ति से सिद्ध नहीं होता है कारण कि पेड़ इतने बड़े और बालक इतना छोटा, वह छोटा बालक इतने युगल[1] पेड़ को कैसे गिरा सकेगा ? अतः यह बालकों का कहना युक्तियुक्त न होने से मानने योग्य नहीं हैं। बड़े नैयायिकों[2] ने तो इस प्रकार निश्चय कर लिया किन्तु उनमें कुछ आर्द्र-नैयायिक[3] भी थे उनको बालकों के कहने से मन में संशय हुआ कि कदाचित् इस बालक ने इस प्रकार टेढ़े ऊखल को खेंचते हुए गिरा भी

१—जुड़े हुए। २—तर्क (बहस) के आधार पर निर्णय करनेवाले।
३—तर्क (बहस) पर ही पूरा विश्वास न करनेवाले।

दिया हो क्योंकि हमने देखा है कि इसने शकट तोड़ा था और तृणावर्त को मारा था, संशय होते हुए भी उन्होंने किसी प्रकार का निश्चित निर्णय नहीं किया ।। ५ ।।

आभास---नन्दस्तु सन्दिग्धोपि तं विचारं दूरीकृत्य मोचितवानित्यौहोलुखलमिति ।

आभासार्थ—नन्दरायजी संशयशील होते हुए भी इस विचार का परित्याग कर बालक को ऊखल से छुड़ाने लगे इसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोक---उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं स्वमात्मजम् ।
विलोक्य नन्दः प्रहसद्वदनो विमुमोच ह ।। ६ ।।

श्लोकार्थ----रस्सी से बन्धे हुए ऊखल को खेंचते हुए अपने पुत्र को देखकर हँसित मुख वाले नन्दजी ने उसकी रज्जु खोल दी (जिससे कृष्ण) बन्धन मुक्त हो गए।

सुबोधिनी—तदानीमपि विकर्षन्तमिति शीघ्रमोचने हेतुः, दाम्ना बद्धमिति मोचने निमित्तं, स्वमात्मजमिति स्वस्यैवावश्यकत्वं, स्वमिति व्याकुलतापरिज्ञानार्थं स्वपदप्रयोगात् भगवद्भावं प्राप्त इतियुक्तिरपि, तेषामज्ञानं न तेषां बुद्धिदोषेण किन्तु भगवतैव कार्यत इति, प्रहसद्वदन इति धौर्त्यस्मरणात्, तस्यापि ज्ञानाभावस्त्वनेनोक्तः, विशेषेण मोचनं सर्वासामेव रज्जूनां पृथक्करणं, हेत्याश्चर्यं, स्वबन्धनं तेन मोचितमिति भगवल्लक्षणो बन्धो भगवतैव मोचयितुं शक्यते नान्येनेत्यत इदमाश्चर्यमेव ।। ६ ।।

व्याख्यार्थ—नन्दरायजी ने रस्सी को खोलने की इतनी शीघ्रता क्यों की ? नन्दरायजी ने देखा कि अब भी कन्हैया ऊखल को खेंच रहा है इससे थक गया होगा इससे रस्सी खोलने की शीघ्रता की । रज्जु से बालकृष्ण बन्धा था यह छोड़ने का निमित्त कारण था । नन्दजी ने क्यों छोड़ा ? तो कहते हैं कि अपना पुत्र है इससे स्वयं छोड़ना आवश्यक था । केवल आत्मज (पुत्र) न कहकर 'स्व' शब्द से नन्दजी की व्याकुलता प्रकट की है अथवा 'स्व' पद देकर यह बताया है कि नन्दरायजी भगवद्भाव को प्राप्त हो गये हैं । गोपों को इस प्रकार का अज्ञान उनके बुद्धि दोष से नहीं हुआ था किन्तु भगवान् ने ही उनमें यह अज्ञान उत्पन्न किया था । यह भी नन्दजी ने भगवद्भाव को प्राप्त होने से जान लिया था । भगवान् की धौर्त्यलीला का स्मरण आते ही नन्दजी प्रसन्नवदन (हँसमुख) हो गए हैं । नन्दरायजी में भी ज्ञान का अभाव* था । इससे कहा है । श्लोक में 'मुमोच' के पूर्व 'वि' उपसर्ग दिया है जिसका अर्थ होता है विशेष रीति से छुड़ाना ।

---

* प्रकाशकार कहते हैं कि नन्दजी को भी यशोदा ने जो भगवान् का आराधन किया उसका और भगवान् के स्वरूप का ज्ञान नहीं था ।

वह विशेषता से छुड़ाना क्या है ? उसको समझाते हैं कि समग्र[1] रज्जू[2] जो जहां कहीं से लाकर गाँठ देकर इकट्ठी की थी उन प्रत्येक की गाँठ खोलकर पृथक् पृथक् करना विशेष छुड़ाना है। यह भी आश्चर्य है। भगवान् जो जीव को बन्धन में डालते हैं उसको भगवान् ही छुड़ा सकते हैं दूसरा कोई नहीं छुड़ा सकता है उन ही भगवान् के बन्धन को नन्दजी ने छुड़ा लिया यह भी आश्चर्य है ॥ ६ ॥

आभास----गोपीनां वशभावं प्राप्तस्य भगवतो लीलामाह गोपीभिरितित्रिभिः ।

आभासार्थ—गोपियों के आधीन भगवान् की लीला का तीन श्लोकों से वर्णन करते हैं ।

श्लोक----**गोपीभिः स्तोभितोनृत्यद् भगवान् बालकः क्वचित् ।**
उद्गायति क्वचिन्मुग्धस्तद्वशो दारुयन्त्रवत् ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ----गोपियों के बढावा[3] देने से भगवान् किसी समय बालक के समान नृत्य करते, कभी मुग्ध होकर गाते और कभो तो काठ की पुतली के समान उन (गोपियों) के आधीन हो जाते ।

कारिका----**विद्योपजीविनां सेवां येनैव च सुखं भवेत् ।**
राजसीं तामसीं लीलां सात्विकीं च चकार ह ॥ १ ॥

कारिकार्थ----जिस चरित्र से विद्या के द्वारा आजीविका करने वालों की सेवा, और सुख हों वैसी राजसी, तामसी और सात्विकी लीला भगवान ने की ।

सुबोधिनो—तत्र प्रथमं राजसीं लीलामाह, गोपिकाः प्रत्येकं स्वस्वगृहं नीत्वा 'नृत्यं कुरु भगवँल्लड्डुकानि दास्यामी'त्युक्तो नृत्यति, तत्रापि स्तोभितः, 'कृष्ण एव सम्यङ् नृत्यं जानाति कंतुं न राम'इत्युक्तः, स्तोभा शून्यप्रशंसा यथा स्तोभाक्षराणि भभभेति, तथा गोपीभिर्यथाकथञ्चित् स्तुतोनृत्यन् नृत्यं करोति, लडर्थे लङ्, तत्रापि नृत्ये न प्राकृतवन् नृत्यति किन्तु यथा तण्डुर्यथा वा पार्वती, ततोपि सहस्रगुणमत्यन्तं नृत्यति, तदनुचितं, किं पामराणां स्थाने तथानृत्येनेति ? तदाह भगवानिति, षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नो न ह्यन्यथा नृत्यं कर्तुमर्हति, तर्हि तासामप्यग्रे नार्हत्येवेति चेत् तत्राह **बालकः** क्वचिदिति क्वचिद् वा गोकुले स्वस्य बालभावं प्रदर्शितवानिति, बालवदितिपाठे क्वचिद् भगवान् शास्त्रानुसारेण नृत्यति क्वचिद् बालवत् केवलं देहपादचालनमात्रं करोति मुग्धभावख्यापनाय, ततोपि कयाचित् 'कृष्ण गाये' त्युक्त उद्गायति, उच्चैस्तूष्णीं गानं करोति यथा सर्वासां हास्यं भवति, अथवा क्वचिदूर्ध्वं गायति यथाशास्त्रं क्वचिन्मुग्धौशास्त्रमपि बालवत्, किञ्च नृत्यगानयोर'प्येवमुत्थायैव-

---

१—सब, सारी । २—रस्सी । ३—झूठी प्रशंसा, तारिफ ।

मुत्थायैवमुपविष्ट एव सुप्तो गानं कुर्वि' त्युक्तस्तथैव गायतीत्याह तद्वशो दारुयन्त्रवदिति, गोपिकावशो भूत्वा दारुपुत्रिकावन् नृत्यति गायति च ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ—प्रथम राजसी लीला का वर्णन करते हैं। गोपिकाएं भगवान् को अपने अपने घर में लेजा कर नचाने लगी उसका प्रकार बताते हैं कि घर में लेजा कर श्रीकृष्ण को कहती हैं कि हे कृष्ण ! आप नृत्य करो तो आपको लड्डू देंगी। गोपियों के वचन सुनकर भगवान् नृत्य करते हैं। जब भगवान् नाचते हैं तब विशेष नृत्य कराने के लिये झूंठी प्रशंसा करती हैं कि 'कृष्ण तो बहुत सुन्दर नृत्य करते हैं राम को तो नृत्य करना आता ही नहीं है'। यह झूंठी बड़ाई का निरर्थक शब्द 'स्तोभ' है जैसे सामवेद में 'भ भ भ' निरर्थक शब्द हैं। इस प्रकार गोपियों की झूठी प्रशंसा से भी नाचने लगे। किन्तु वह नृत्य प्राकृतों के समान प्राकृत नृत्य नहीं था किन्तु तण्डु* और पार्वती के नृत्य से भी सहस्त्रगुणा विशेष नृत्य था। ऐसा उत्तम और इतना नृत्य पामरों (मुर्खों-गौपियों) के सामने करना योग्य नहीं है। इस शंका का समाधान करते हैं कि नृत्य करने वाला बालक भगवान् था भगवान् षड़ेश्वर्य गुणवाले हैं। अतः साधारण प्राकृत नृत्य तो कर नहीं सकते। भगवान् हैं और जब उनको ऐसा उत्तम नृत्य ही करना है तो इन गँवार गोपियों के आगे तो नहीं करना चाहिये ? इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् होते हुए भी उन्होंने अब गोकुल में बाल-भाव धारण किया हैं इसलिये भगवान् कभी शास्त्र के अनुसार नृत्य करते हैं तो कभी बालक के समान केवल मुग्ध भाव प्रकट करने के लिये हाथ पैर ही चलाते हैं। यदि कोई गोपी कहती हैं कि हे कन्हैया ! गान करो तो इस प्रकार कभी धीरे-धीरे और कभी जोर से बालकृष्ण गाते हैं जिससे सबको हँसी आ जाती है। अथवा ककी शास्त्र के अनुसार जोर से गाते हैं तो कभी मुग्ध बालक के समान शास्त्र विरुद्ध वा मनमाने ढंग से गाने लगते है कभी गोपियां कृष्ण को कहती हैं कि खड़े रहकर गावो तो खड़े होकर गाते हैं कभी कहती कि बैठकर गाओ तो बैठकर गाते थे यदि कहती सोकर गान करो तो सोकर गान करते थे तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण गोपियों के ऐसे वश में हो गए थे कि जैसे गोपीयां कहती थी वैसे ही वैसे आप काठ की पुतली के समान सब कार्य गान नाच आदि करते थे ॥ ७ ॥

आभास—लीलान्तरमाह बिभर्तीनि,

आभासार्थ—दूसरो लीला का वर्णन श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**विभर्ति क्वचिदाज्ञप्तः पीठकोन्मानपादुकम्।**
बाहुक्षेपं च कुरुते स्वानां च प्रीतिमावहन् ॥ ८ ॥

---

* प्रकाशकार कहते हैं कि शङ्कर भगवान् के तांडवनृत्य प्रारम्भ कराने वाला 'तण्डु' है।

श्लोकार्थ--कभी गोपियों से शासन् प्राप्त, भगवान् चोकी, पायली[1] और खड़ाऊ पकड़ अपने सम्बन्धी (भक्त) जनों को प्रसन्न करने के लिये वा उनमें प्रेम उत्पन्न करने के लिये अपनी बांह ठोकते थे।

सुबोधिनी—सर्वत्र क्वचिदितिपदेन क्वचित् करोति क्वचिन्न करोतीति ज्ञातव्यं, अन्यथा तथास्वभाव आश्चर्यं न स्याद् बहुधा प्रार्थनं च, क्वचिदाज्ञप्तः 'पीठमानंयोन्मानं तण्डुलादिमानपात्रमानय पादुके दारुमये आनये'त्युक्तः केवलं बिभर्ति न तूत्थापयितुं शक्नोति, अशक्तिभावनां च करोति यथा प्राकृता बालाः कुर्वन्ति, एकवद्भावः स्थूले सूक्ष्मे प्रशस्ते निन्दिते तुल्यत्वज्ञापनार्थः किञ्च बाहुक्षेपं च कुरुते, 'मया सह मल्लयुद्धं कुर्वि'त्युक्तो बाहुविस्फोटनं करोति, चकारादुपर्यपि पतति, बलाविर्भावेन तं चालयतीव, ननु किमित्येवं करोति ? तत्राह स्वानामिति, येन कारणेन तेषु स्वत्वं सम्पादितं तेनैव प्रीतिमुद्वहन् यावतैव तेषां प्रीतिर्भवति, न त्वधिकं करोतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थ—'क्वचित्' पद बहुत स्थान पर आया है अतः उसका आशय है कि कभी भगवान् कार्य करते हैं और कभी नहीं भी करते हैं। यदि इस प्रकार न हो और भगवान् सदैव उनकी आज्ञा के अनुसार काम करते ही रहे तो लीला में आश्चर्य उत्पन्न न होवे। आश्चर्य उत्पन्न करना भगवान् का स्वभाव होने से अपनी इच्छा के अनुसार करते हैं। इस प्रकार आश्चर्य उत्पन्न न करें तो पुनः पुनः प्रार्थना भी नहीं हो। किसी समय गोपियाँ आज्ञा करती है कि 'चोकी ले आ, धान नापने की पायली उठाला और खड़ाऊ ले आ'। वह आज्ञा पाकर भगवान् उन वस्तुओं के पास जाकर उनको पकड़ लेते हैं किन्तु उनको जब उठा नहीं सकते हैं तब प्राकृत बालकों जैसा दृश्य करते हैं कि मैं बालक होने से उठा नहीं सकता हूँ। वह वस्तु छोटी, बड़ी, उत्तम और निन्दित हो सब में समान भाव दिखाया है। भगवान् बाहुओं को इस प्रकार ठोकते हैं जैसे कुशती लड़ने वाले ठोकते हैं। जिससे यह भाव प्रकट करते हैं कि मुझ से मलयुद्ध करो (कुश्ती-लड़ो) मूल में दिये हुए 'च' शब्द का भाव बताते हैं कि उनके ऊपर गिरते (बैठते) हैं। उन पर बैठकर अपने बल को आविर्भूत (प्रकट) कर मानो उनको चलाते हैं। श्लोक में दिये हुए 'स्वानां' का भाव स्पष्ट करते हैं कि जिस कारण से उनमें अपनेपन को स्थापित किया है इसी कारण से ही उनमें प्रीति उत्पन्न कराते हैं उतना ही करते हैं जितने से उनकी प्रीति उत्पन्न हो अधिक नहीं करते हैं ॥ ८ ॥

आभास--लीलाद्वयं विशेषतो निर्दिश्य सामान्यतः सर्वामेव लीलां संक्षेपेणाह दर्शयन्निति।

आभासार्थ—दो लीलाएं विशेष प्रकार से वर्णन कर अब साधारण प्रकार से सब लीलाएं संक्षेप से निम्न श्लोक में कहते हैं—

१—अनाज नापने का साधन या बर्तन।

श्लोक---दर्शयंस्तद्विदां लोक आत्मनो भृत्यवश्यताम् ।
व्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान् बालचेष्टितैः ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ---लोक में भगवान् के स्वरूप को जाननेवाले ज्ञानी-भक्तों को अपनी भक्तवश्यता दिखाते हुए भगवान् ने बाल चेष्टाओं (लीलाओं) से व्रज को आनन्दित किया ।

सुबोधिनी—बालचेष्टितैर्भगवान् व्रजं हर्षयामास, व्रजे यावद्विधा प्राणिनस्तेषामपि यथायथा हर्षो भवति, स च हर्षस्तेष्वेव तिष्ठति सोपि स्थितः पुष्टो भाररूपो भवति तदा तेषां वहनाशक्तौ तेषां हर्षं भगवानुवाह, तदपि न विषयत्वेन किन्तु करणत्वेनेत्याह बालचेष्टितै रिति, ननु बालचेष्टा फलपर्यवसायिन्यो न भवन्ति स्वरूपत एव परं मोहे सुखजनिकास्तत् कथं तादृशे हर्षे करणता ? तत्राह भगवानिति, यावतानुपपत्तिः परिहृता भवति तावान् धर्मो भगवच्छब्दाद् ग्राह्यः, ननु किमेवं प्राकृतानामत्र स्थितानां वैकुण्ठमनीत्वा स्वयमागत्य विपरीतभावेन तथाकरणे प्रयोजनमित्याशङ्क्याह तद्विदां भगवत्स्वरूपविदामात्मनो भृत्यवश्यतां दर्शयन्निति, यतस्ते भृत्या भरणीयाः स्वेनैव न केवलं प्रदर्शनमात्रपरत्वं, तथा सति कापट्येनापि स्यादित्याह वै निश्चयेनेति, आत्मन इत्यनेन वश्यतादोषः परिहृतः, ये त्वज्ञास्ते व्यामोहिता एव, ये जानन्ति तेषां ज्ञानस्य मत्कृपयोपयोगः, तत्तदनुसारिणोपि तत्त्वेनैव ग्राह्या इति न किञ्चिदनुपपन्नम् ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ—बाल चेष्टाओं (लीलाओं) से भगवान् ने व्रज को आनन्दित किया । व्रज* में जितने प्रकार के प्राणी थे उनको भी जिस जिस प्रकार से हर्ष हो उस प्रकार से उन सबको भगवान् ने हर्ष प्रदान किया । वह हर्ष उनमें ही स्थित होकर पुष्ट होगा जिससे वह पुष्ट हर्ष, भाररूप हो जाएगा जिसे वे अशक्त होने से धारण नहीं कर सकेंगे । इसलिये उनका हर्ष स्वयं भगवान् धारण करते हैं । वह (हर्षभार) विषय के ढंग पर नहीं किन्तु करणरूप[1] से भगवान् ने ग्रहण किया । यह आशय श्लोक में आए हुए 'बालचेष्टितैः' पद से समझा जाता है जिस पद का अर्थ है बालकों जैसी चेष्टाओं[2] से धारण किया । अर्थात् भगवान् स्वयं बाल चेष्टाओं से व्रजवासियों के साथ आलिंगनादि

---

* प्रत्येक व्रजवासी की यह इच्छा थी कि भगवान् हमारे साथ मिलकर आलिङ्गनादि से हमको आनन्द प्रदान करे, किन्तु भगवान् व्रज में, व्रज के राजा नन्दजी के पुत्र थे इसलिये उनसे सर्व साधारण अपने अपने भाव के अनुसार इस प्रकार का स्वयं व्यवहार नहीं कर सकते थे यह जानकर भगवान् ने उन सबकी भावना के अनुसार बालक्रीड़ाओं द्वारा आपने करण[1] बनकर उनको आनन्द दान दिया जिससे उनको प्राप्त हर्ष (आनन्द) भाररूप न हुआ यदि भगवान् करण (साधन) रूप होकर यों न करते तो व्रजवासियों में उत्पन्न उत्कट[3] भाव न जाने क्या कर देता । इसलिये भगवान् को करणरूप होना आवश्यक था ।

१—साधन । २—क्रियाओं । ३—उत्तम ।

कर उनकी अपने में आसक्ति कराते थे जिससे वे आनन्दित हो जाते थे। बालक होने से इस प्रकार कर रहे हैं यों समझ लोकनिन्दा भी नहीं कर सकते थे।

बालक की चेष्टाएं स्वरूप से फल नहीं देती है, किन्तु मोह करके सुख देतीहैं। तब मोह से उत्पन्न आनन्द में भगवान् करण कैसे बन सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते है। इसी शंका के निवारण के लिये 'भगवान्' शब्द दिया है जिसका आशय है कि भगवान् ने अपने करण-साधनरूप धर्म से इस अयोग्यता (चेष्टाओं से उत्पन्न मोहरूप अयोग्यता) को मिटा दिया था। जिससे बालक की चेष्टाएं भी स्वरूप से फलदायिनी है यह बताया है यहाँ स्थित प्राकृत जनों (जिनकी आध्यात्मिक अविद्या नाश नहीं हुई है उन) को वैकुण्ठ में न ले जाकर स्वयं वहाँ आकर अपना ईश्वर भाव छोड़कर इस प्रकार आनन्द के दान करने का क्या प्रयोजन था? इस शंका का परिहार[1] करने के लिये श्लोक में 'तद्विदां' पद दिया है। जिसका तात्पर्य है कि भगवान् ने यहाँ आकर इसलिये आनन्ददान दिया कि भगवान् को भगवत् स्वरूप को जाननेवालों को अपनी भृत्यवश्यता[2] दिखानी थी कि सेवक अपने स्वामी से ही भरण पोषण करने योग्य हैं। केवल यह दिखावा नहीं करना है क्योंकि दिखावा तो कापट्य से भी होता है। इसलिये श्लोक में 'वै' कहा है कि निश्चय से भरण योग्य हैं। जो भगवान् सर्व को वश और नियम में रखते हैं वे भगवान् वश में कैसे हुए? इस शंका के मिटाने के लिये श्लोक में भगवान् के लिये 'आत्मनः' शब्द दिया है जिसका आशय है कि भगवान् भक्तों के वश में होते हुए भी सबकी आत्मा होने से स्वतन्त्र हैं। जो इस तत्त्व को नहीं जानते हैं उन (असुरों) को भगवान् ने अपनी लीलाओं से मोह में डाल दिया है। जो इस तत्व 'भगवान् भक्तों के वश में हैं' को जानते हैं उनके ज्ञान का भक्ति में उपयोग होता है अर्थात् उनका प्रेम भगवान् में बढ़कर आसक्ति का रूप लेता है। पृथक् पृथक् मार्गानुयाइयों के अधिकार के अनुसार भगवान् उनको ग्रहण करते हैं और जो कोई ग्रहण योग्य नहीं है तो उनका त्याग करते हैं। इसलिये इसमें कुछ भी अयोग्य (युक्ति-रहित) नहीं है ॥ ६ ॥

आभास—एवं बृहद्वामुक्त्वा सर्वदेवाधिष्ठितवृन्दावने क्रीडां वक्तुं भगवत्प्रेरितानां तेषां निर्गमनार्थं मन्त्रमाह।

आभासार्थ—उपरोक्त श्लोकों में बृहद् बन में की हुई भगवान् की क्रीड़ा का वर्णन कर अब सर्व† देवताओं के स्थान वृन्दावन में जाकर क्रीड़ा करनी है इसलिये भगवान् की प्रेरणा से

† श्री प्रभुचरण टिप्पणी में आज्ञा करते हैं कि वृन्दावन में सर्व देवताओं ने आधिदैविकरूप से आकर भगवान् की लीलास्थलियों को तैयार किया। भगवान् के पधारने की राह देख रहे हैं कि कब पधारते हैं। इससे वहाँ स्थित हैं।

१—मिटाने। २—अपने सेवकों के वश में होना।

गोपगण वहाँ जाने के लिये मन्त्रणा[1] करने लगे उसका वर्णन निम्न श्लोकों में करते हैं।

कारिका----**उद्यमो मुख्यसम्पत्तिर्मन्त्रो हेतुस्त्रिभिस्ततः ।**
निर्धारितपरित्यागः स्थानान्तरगुणास्ततः ॥ १ ॥
कृष्णाज्ञयेति कालस्य नापेक्षातोनिवारणम् ।
पञ्चभिर्गमनं चैव रतिस्तत्र हरेः परा ॥ २ ॥
एवं कलाभिर्भगवान् पूर्णो वृन्दावने बभौ ॥ २½ ॥

कारिकार्थ—उद्यम, मुख्य सम्पत्ति की प्राप्ति, मन्त्रणा, इसके पीछे तीन श्लोकों से कारण, निर्धारित का त्याग, दूसरे स्थान के गुण कृष्ण की आज्ञा से गमन, काल की अपेक्षा नहीं होने से उसका निषेध, पांच श्लोकों से गमन, वहाँ का निवास भगवान् का उसमें विशेष प्रेम, इस प्रकार भगवान् वृन्दावन में कलाओं से पूर्ण सुशोभित हुए।

व्याख्या—इन कारिकाओं में ११वें अध्याय के श्लोक १०से श्लोक २५ तक जो लीलाएं भगवान् ने की हैं उनका क्रमशः सूक्ष्म वर्णन कर समझाया है कि १० श्लोक में वृन्दावन में जाने के लिये किए हुए उद्यम का वर्णन है। ११ श्लोक में यह बताया कि किसी भी मन्त्रणा के समय सब बोलने लगे यह सम्भव$ नहीं इसीलिये मुख्य वक्ता को प्राप्ति होने से वह बोलने लगे। १२वें श्लोक में उसने जो गोकुल छोड़ने की सम्मति दी उसका वर्णन है, १३वें श्लोक मे पूतना के उपद्रव १४वें श्लोक में तृणावर्त के विविध साधनों द्वारा उपद्रव और १५वें श्लोक में यमलार्जुन के मध्य में स्थिति भय, इन श्लोकों में गोकुल के उपद्रव और उनसे भगवान् ने रक्षा की यह वर्णन है। १६वें श्लोक में इन कारणों से गोकुल छोड़ने का निश्चय किया। १७वें श्लोक में जहाँ जाने का विचार है उस (वृन्दावन) के गुणों का वर्णन किया है। १८वें श्लोक में श्रीकृष्ण की इच्छापूर्वक आज्ञा से सर्व गोपों की जाने के लिये सम्मत्ति का वर्णन है। १९वें श्लोक में सब गोपों ने एक होकर जाने की तैयारी की काल (शुभ मुहूर्त) की चिन्ता नहीं की। २४वें श्लोक में वहाँ जाने का तथा निवास का एवं हरि का उससे विशेष प्रीति का वर्णन है इन सब का वर्णन १६ (१० से २५) श्लोकों में हुआ है जिसका भाव बताते हैं कि इससे वृन्दावन में भगवान् १६ कलाओं से पूर्ण शोभायमान दर्शन देने लगे।

$ यदि सब बोलने लगे तो मन्त्रणा हो नहीं सकती है अतः एक मुज्ञ बोलकर समझावे तो मन्त्रणा योग्य होती है।—अनुवादक

१—सलाह।

आभास--प्रथमं मन्त्रार्थमुद्यममाह गोपवृद्धा इति ।

आभासार्थ—प्रथम मंत्रणा करने के लिये उद्यम करते हैं इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक--**गोपवृद्धा महोत्पाताननुभूय बृहद्वने ।**
नन्दादयः समागम्य व्रजकार्यममन्त्रयन् ।। १० ।।

श्लोकार्थ--गोपों में से वृद्ध नन्दादिक गोप, व्रज में बड़े-बड़े उत्पात होते देखकर इकट्ठे हुए और विचार करने लगे कि अब व्रज का हित कार्य कैसे किया जाय ।

सुबोधिनी—गोपेषु ये वृद्धाः पूर्वापरानुसन्धानसहिताः, बृहद्वनमन्वर्थनाम, पूर्वं कदाचिदपि तत्रोत्पत्त्यभाव उत्पातानामिदानीं तु महोत्पाताः पूतनामरणादयः, नन्दोपि वृद्धप्रायः प्रधानव्यतिरेकेण विचारो न निर्वहतीति समागम्य सम्यगेकत्रोपविश्य, व्रजसम्बन्ध्यवश्यकर्तव्यममन्त्रयन् ।। १० ।।

व्याख्यार्थ—गोपों में वृद्ध जो (आगा पीछा विचार करने की बुद्धिवाले) थे वे व्रज से सम्बन्धित आवश्यक कर्त्तव्य की मंत्रणा करने लगे । हमारे इस वन का नाम वृहद्वन इसलिये पड़ा है कि इसमें कभी भी उत्पात नहीं हुए हैं । अब तो बड़े बड़े उत्पात होने लगे हैं जैसे पूतना मरण आदि उपद्रव हुए हैं । मन्त्रणा 'प्रधान' के बिना नहीं होती है इसलिये सब इकट्ठे हुए । नन्दजी भी वृद्धों के समान ही थे तो भी वहाँ प्रधान उपनन्द हुए ।। १० ।।

आभास—सर्वेषां वक्तृत्वं न सम्भवतीति प्रधानं व्यपदिशति तत्रेति ।

आभासार्थ—मन्त्रणा करने के समय सब बोलने लगे तो निर्णय पूरी मन्त्रणा (विचार) से नहीं हो सकता है इसलिये प्रधान (मुख्य वक्ता) का नाम निर्देश निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक--**तत्रोपनन्दनामाह गोपो ज्ञानवयोधिक ।**
देशकालार्थतत्त्वज्ञः प्रियकृद् रामकृष्णयोः ।। ११ ।।

श्लोकार्थ--वहाँ (इकट्ठी हुई गोप सभा में) उपनन्द नाम वाला गोप, जो कि देश और काल के तत्व को जानने वाला, ज्ञान में और अवस्था में बड़ा और बलराम तथा श्रीकृष्णचन्द्र का प्रिय करने वाला था वह कहने लगा ।

सुबोधिनी—उपनन्दनामा नन्दसम्बन्धी गोपा इति धर्मैप्रधानः, ज्ञानवयोभ्यां च परिणतः, देशकालार्थतत्त्वज्ञः, तादृशोप्यभक्तश्चेत् सर्वं व्यर्थं स्यादिति रामनामपि कस्मिन् देशे कस्मिन् काले कोर्थः कर्तव्य इति-

कृष्णयोः प्रियकृदाहेतिसम्बन्धः नाम्ना नन्दस्य स एव मन्त्रद इति ज्ञापितं, गोप इति तन्मध्यपाती तुल्येष्टानिष्टा, तादृश एव मन्त्रार्हः, ज्ञानं तु वयसा प्रतिष्ठितं भवतीत्युभयाधिक्यं, इदं मन्त्रे मुख्यमङ्गं, लोकानभिज्ञो न शास्त्रार्थज्ञानमात्रान् मन्त्री भवतीति देशादिज्ञानमुक्तं, इदं गमनं स्वार्थं चेन् निरोधेन विरुध्यत इति भगवत्प्रीतिरुक्ता प्राधान्यप्रतिपत्त्यर्थं, द्वयोर्निर्देशः साधारणनिरोधत्वात्, असाधारणनिरोधो भगवतैव क्रियते साधारणस्तूभाभ्यामिति ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थ--'उपनन्द' नाम के गोप नन्दजी के सम्बन्धी थे, इससे उनमें 'धर्म' प्रधान था। और वे ज्ञान और आयु में वृद्ध होने से अनुभवी थे। जिस अनुभव के कारण वे इस तत्व को जानते थे कि किस देश में वा किस काल में क्या करना चाहिये जिससे अर्थ सिद्ध हो किसी प्रकार की हानि न हो। ऐसा अनुभवी भी हो किन्तु यदि वह भगवान् का भक्त नहीं है तो उनका ज्ञान, वृद्धत्व और अनुभव सब व्यर्थ है अर्थात् किसी काम के नहीं है। उपनन्द भगवान् का भक्त भी था यह बताने के लिये श्लोक में 'प्रियकृद्' 'रामकृष्णयोः' पद दिये हैं जिनका अर्थ है राम और कृष्ण का प्रिय करने वाला था। इससे बताया कि वह भक्त भी था। 'उपनन्द' नाम से यह बताया है कि वह नन्दजी को मंत्रणा देने वाला था इससे वह नन्दजी का मन्त्री था। गोप होने से उनका समावेश गोप जाति में था इसलिये गोपों का हित व अहित वह अपना ही समझता था। वैसा ही व्यक्ति मन्त्री होने के योग्य है। ज्ञान (अनुभव से होनेवाली समझ) आयु से प्राप्त होता है। यह तो आयु और ज्ञान दोनों से बड़े थे। मन्त्रणा का यह भी मुख्य अंग है केवल शास्त्रों के अर्थ को जानने वाला जिसको लौकिक ज्ञान (अनुभव) नहीं है वह मन्त्री होने के योग्य नहीं हो सकता है। इसलिए श्लोक में 'देशकालार्थ तत्वज्ञः' पद दिया है। जिसका तात्पर्य है देश और काल का जिसको अनुभव हो। यह अनुभव उपनन्द को था। वृन्दावन में जाना चाहिये यह उपन्दन का कहना यदि अपने स्वार्थ के लिए होता तो इसमें (वहां जाने से) निरोध की सिद्धि नहीं होती क्यों कि स्वार्थ निरोध का विरोधी है जहां स्वार्थ नहीं है वहां निरोध सिद्ध होता है। वृन्दावन में जाने की सम्मति उपनन्द ने अपने स्वार्थ के लिए नहीं दी थी किन्तु भगवान् राम और कृष्ण के प्रिय करने के लिये दी थी। राम और कृष्ण दो नाम कहे उसका भाव यह है कि यहां साधारण निरोध करना है। असाधारण निरोध तो श्रीकृष्ण ही करते हैं साधारण निरोध दोनों करते हैं ॥ ११ ॥

आभास--मन्त्रमाहोत्थातव्यमिति।

आभासार्थ--क्या सम्मति दी वह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक--**उत्थातव्यमितोस्माभिर्गोकुलस्य हितैषिभिः।**
आयान्त्यत्र महोत्पाता प्रजानां नाशहेतवः ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ--गोकुल के हित की चाहना करने वाले हमको यहाँ से दूसरे स्थान पर

चलना चाहिये क्योंकि यहां प्रजा को नाश करनेवाले बड़े-बड़े उत्पात एक के पीछे दूसरे आ रहे हैं।

सुबोधिनी—इदं स्थानं परित्यक्तव्यं, परितो यद्यपि व्रजाः सन्ति ते तिष्ठन्तु मा वा, अस्माभिस्तूत्थातव्यं, ननु कर्माधीनत्वाज् जगतः सर्वत्रैव यद् भाव्यं तद् भविष्यतीति किं गमनेनेति चेत् तत्राह **गोकुलस्य हितैषिभिरिति, गोकुलस्य** ये हितं वाञ्छन्ति काल-कर्मपक्षौ परित्यज्य लौकिकन्यायेन ये हितचिन्तकास्तैर-वश्यमेतत् कर्तव्यं, यत् साधनानि भगवता दत्तानि ज्ञानकरणादीनि तान्यन्यथा व्यर्थानि स्युः, अतो विरोध एव तयोर्भिन्नं प्रामाण्यं, यावन्न विरोधस्तावत् करणानामेव मुख्यं प्रामाण्यं, उत्थाने हेतुमाहायान्त्यत्र महोत्पाता इति।

व्याख्यार्थ—इस स्थान के चारों तरफ यद्यपि गोष्ठ (गौओं के ठहरने के अनेक स्थान) हैं वे रहें या न रहें तो भी यह स्थान (वृहद्वन-गोकुल) छोड़ना चाहिये। उपद्रवों के कारण हम इसे छोड़कर दूसरे स्थान पर चलें तो कोई विशेष लाभ नहीं है। कारण कि सब कुछ (सुख दुःख उत्पात आदि का आना) कर्मों के आधीन है सर्वत्र जो होनहार है वह होगी ही, उसको कोई टाल नहीं सकता है। इसका उत्तर देते हैं कि जो गोकुल का हित चाहते हैं वे काल और कर्म के पक्षों को (सब कुछ काल और कर्म करता है इस मन्तव्य को) छोड़ कर और जो लौकिक न्याय से गोकुल के हित का चिन्तन करनेवाले हैं उनको तो अवश्य चलना चाहिये। भगवान् ने विचार कर कार्य करने के लिये जो ज्ञान और करण (साधन) दिये हैं उनसे विचार कर हम कार्य नहीं करेंगे तो वे (ज्ञान और करण) व्यर्थ हो जाएंगे अतः जहां दो× पक्षों में विरोध हो वे वहां दूसरे प्रमाण को मानने की आवश्यकता हैं। जहां विरोध न हो तो करणों को ही मुख्य प्रमाण मानकर उसके अनुसार कर्त्तव्य करने चाहिये। यहां से दूसरे स्थान पर चलने के कारण कहते हैं कि यहां महान् उत्पात् (उपद्रव) आ रहे हैं (हो रहे हैं)।

कारिका—**अलौकिकोनिष्टहेतुरुत्पातः सर्वनाशकः।**
महोत्पातो बुधैर्ज्ञेयो यत्र तत्त्यागमर्हति ॥ १ ॥

कारिकार्थ—उत्पात अलौकिक अनिष्ट का कारणरूप, सर्वनाशकर्त्ता है ज्ञानी जहाँ (जिस स्थान पर) महोत्पात देखें उस स्थान का तो त्याग करना ही योग्य है।

सुबोधिनी—महोत्पाताः पूतनादयः, तेषां सोढ़व्यतां निराकरोति **प्रजानां नाशहेतव** इति, हेतौ कार्यमावश्यकं, महतां देवाद्युपासकानामनिष्टाभावेपि प्रजोपद्रवोपि वारणीयस्तैः, "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य" तिन्यायेन प्रतीकारापेक्षया त्यागः श्रेष्ठः ॥ १२ ॥

× १—पक्ष, 'जो होना होगा वह होगा ही। २—पक्ष, वैसे उपाय किये जांय, जिनसे अनिष्ट नहीं होवे (टल जावे)।

व्याख्या—कौनसे महोत्पात हैं ? उनको बताते हैं कि पूतनादिकों का आना मरना आदि। इससे क्या ? ये प्रजाओं के नाश का कारण हैं। इन उपद्रवों का देवादिकों की उपासना से प्रतीकार करना चाहिये। इसके उत्तर में कहते हैं कि 'प्रक्षालनाद्धिपङ्कस्य दूरादस्पर्शनःवरम्' कीचड़ में पैर डालकर फिर धोने से कीचड़ में पैर नहीं डालना अच्छा है। इस न्यायानुसार प्रतीकार[1] करने से उस स्थान का त्याग ही श्रेष्ठ उपाय है ॥ १२ ॥

आभास—उत्पातानेव गणयन्ति तामसराजससात्त्विकान्।

आभासार्थ—निम्न श्लोक में राजस, तामस और सात्त्विक उत्पातों की गणना करते हैं।

श्लोक—**मुक्तः कथञ्चिद् राक्षस्या बालघ्न्या बालको ह्यसौ।**
हरेरनुग्रहान्नूनमनश्नोपरि नापतत् ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ—बालकों को मारने वाली राक्षसी ने यह बालक किसी प्रकार से छोड़ा है। ईश्वर के अनुग्रह से शकट ऊपर नहीं गिरा।

सुबोधिनी—उत्पाताः प्रतीकारसहिता उच्यन्ते, अन्यथा तन्निवृत्तिरेव न स्यादुत्पातत्वं वा, अत एव राक्षस्या पूतनयासावेव बालको मुक्तः, दृष्टहेतुपरिज्ञानाभावत् कथञ्चिदित्यदृष्टं साधनं कल्पितं, कार्यस्य कारणावश्यकत्वात्, राक्षस्या बालघ्न्येति जातिक्रियादोषौ, मुक्तत्वं निःसन्दिग्धमित्यसाविति प्रदर्शितः, अलौकिकमुपायमाह हरेरनुग्रहादिति, एतदेव हेतुद्वयं शकटभङ्गेप्याकर्षत्यनश्नोपरि नापतदिति चकारेण, नूनमिति स्वदर्शनात् ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थ—उपाय सहित उत्पातों का वर्णन करते हैं। यदि उपाय सहित वर्णन न हो, वा न करें तो उत्पातों का नाश ही न हो अथवा उत्पात ही न हो इस कारण से ही राक्षसी पूतना ने इस ही बालक को छोड़ दिया। छोड़ देने का कोई कारण देखने में वा समझने में नहीं आया। अतः छोड़ने का कारण अदृष्ट[2] है ऐसी कल्पना की गई। क्योंकि कार्य का कारण होना आवश्यक है। राक्षसी और बालघ्नी[3] इन दो पदों से उनकी जाति और क्रिया के दोष कहे। श्लोक के 'असौ' शब्द से यह प्रत्यक्ष (भगवान् है) मुक्तपना निश्चित है यह सिद्ध किया है। शकट का भङ्ग और उसका ऊपर न पड़ना ये दोनों ही कार्य भगवान् के अनुग्रहसे हुए हैं। श्लोक में 'नूनम्' पद से यह बताया है कि निश्चय से इसी प्रकार हुआ है क्योंकि मैंने प्रत्यक्ष देखा था ॥१३॥

आभास—तृणावर्ते लौकिकानि बहूनि साधनान्याह चक्र वातेनेति।

१—उपाय। २—प्रारब्ध या भाग्य। ३—बच्चों को मारने वाली।

आभासार्थ—तृणावर्त के पास लौकिक साधन बहुत थे इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते है ।

श्लोक—**चक्रवातेन नीतोयं दैत्येन विपदं वियत् ।**
शिलायां पतितस्तत्र परित्रातः सुरेश्वरैः ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ—चक्रवात् नाम वाला दैत्य इस (कृष्ण) को बहुत ऊपर आकाश म ले गया वहाँ से शिला पर गिराया वहां सुरेश्वरों ने सर्व प्रकार से रक्षा की ।

सुबोधिनी—चक्रवातेनेति, चक्रवातः प्रसिद्धस्तृणावर्तः कंसभृत्य इति, अतो दैत्य इत्युक्तं, वियदाकाशं नीतः, तदपि नाल्पदूरं किन्तु विपदं, यावद्दूरे श्येनादयः परिभ्रमन्ति, वयः पक्षिणस्तेषां पदमिति, यद् वियत् नीतवांस्तद् विपदमेव नीतवानिति वा, सरस्वती तु तस्यायमेव विपद्रूपः, विपद् व्ययं प्राप्नुवद् यथा भवति तथा प्रतिक्षणं क्षीयमाणेन नीतः, तत्रोभयोर्मध्य एकः शिलायां पतितस्तत्रैव प्रदेशे पर उपर्येव सुरेश्वरैः परित्रातः, न देवमात्रकृत्यं तादृशं, रुद्रास्तु घातुकाः, तदुपमर्दस्तु सुरेश्वरैरेव कर्तुं शक्यः, रुद्राधिपति पुनस्तेषामनुकूल इति बहवोत्र पुनस्तादृशा रक्षका उक्ता "बहूनामनुग्रहो न्याय्य" इति, परितस्त्राणं न केनाप्यंशेन बाधाभावार्थम ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थ—'चक्रवात' प्रसिद्ध तृणावर्त कंस का नौकर था इससे उसको दैत्य कहा है । वह कृष्ण को बहुत ऊपर जहाँ श्येनादि पक्षी भ्रमण करते हैं वहां आकाश में ले गया । आचार्यश्री 'विपद' शब्द के दो अर्थ करते हैं एक अर्थ 'वि' पक्षी उनका पद स्थान अर्थात जहां तक आकाश में श्येनादि पक्षी उड़ते हैं वह स्थान । दूसरा अर्थ 'विपद' आपदा अर्थ कर समझाते हैं कि तृणावर्त कृष्ण को नहीं ले गया किन्तु अपने नाश के लिये 'आपदा' को ले गया यहसरस्वती आशय प्रकट करती है क्यों कि सरस्वती जानती है कि भगवान् को तो तृणावर्त आपदा में डाल नहीं सकता हैं । विपत् शब्द का यौगिक अक्षरार्थ करते हैं कि प्रतिक्षण 'व्ययं प्राप्नुवद' क्षीणता को प्राप्त होने वाला तृणावर्त (कृष्ण को लेजा रहा था) । इस प्रकार दोनों आकाश में जा रहे थे उनमें से एक (तृणावर्त) शिला के ऊपर आके पड़ा । वहाँ उसके ऊपर स्थित दूसरे (श्रीकृष्ण) की सुरों के ईश्वरों ने रक्षा की । यह रक्षा का कार्य केवल देव नहीं कर सकते थे । रुद्र तो घातक है उन घातकों का मर्दन तो उनके ईश्वर ही कर सकते हैं । रुद्रों का अधिपति सुरेश्वरों के अनुकूल[1] था । यहाँ वैसे बहुत रक्षक है 'बहूनां अनुग्रहो न्याय्यः' बहुतों का अनुग्रह न्याय हैं (उचित है) इससे किसी भी प्रकार से रक्षा करने में बाधा[2] न हुई ॥ १४ ॥

आभास—प्रस्तुतमाह यत्रेति ।

१—पक्ष में । २—रुकावट ।

आभासार्थ--जिस (यमलार्जुन) का प्रसंग चल रहा है उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक--**यत्र म्रियेत द्रुमयोरन्तरं प्राप्य बालकः ।**
असावन्यतमो वापि तच्चाप्यच्युतरक्षणम् ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ--वृक्षों के बीच में आने पर भी यह (कृष्ण) अथवा दूसरा कोई बालक न मरा, यह भी अच्युत भगवान् ने रक्षा की ।

सुबोधिनी—अनयोर्द्रुमयोरन्तरं प्राप्य बहवो बाला अत्र स्थिताः कोपि नोपद्रुतः, असौ भगवानन्यतमः अन्यो वा कश्चिद् भगवान् देवैः सर्वदा रक्षित इत्यन्यस्य नामग्रहणं, तमप्प्रत्ययेन हीनोपि कश्चिन्नोपद्रुत इत्यमङ्गलशब्दोच्चारणं स्नेहात्, प्राकृतानां सहजं प्राकृतत्वमन्यथा न परिज्ञायेत, येषां वाङ्मनसोरव्यवस्था तेत्यन्तं प्राकृता येषां मनसोपि नाव्यवस्था तेत्यन्तं सन्तः, अत्राच्युतो भगवानेव रक्षकः, स हि सर्वत्र च्युतिरहितोन्तर्यामी ततो बालकानुत्पातस्थानादन्यत्र नीतवान् ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थ—इन गिरे हुए वृक्षों के बीच में बहुत बालक आ गये थे किन्तु किसी को भी कोई चोट न आई । उन बालकों में यह भगवान् भी एक था । अथवा भगवान् के तो सर्वदा सर्व देव रक्षक (शरीर रक्षक) हैं ही इसलिये किसी साधारण के लिये 'अन्यतम' शब्द श्लोक में दिया होगा । साधारण, नीच वा निर्बल, को भी कोई चोट नहीं आई । अमंगल शब्द का (चोट आना) उच्चारण स्नेह प्रदर्शन के लिये किया गया है । प्राकृत[1] पुरुषों के प्राकृतपने का ज्ञान दूसरे प्रकार से नहीं हो सकता है जिनकी वाणी और मनकी कोई स्थिरता नहीं है वे अत्यन्त प्राकृत हैं । जिनकी केवल वाणी ही नहीं, किन्तु मन भी स्थिर है, वे अत्यन्त सत्पुरुष हैं । इस समय (पेड़ों के बीच में आ जाने के समय) रक्षा करने वाला सर्व प्रकार से च्युतिरहित अन्तर्यामी अच्युत भगवान् ही रक्षक हुवा है । इसका आशय यह है कि उस समय बालकों को उत्पातवाले स्थान से दूसरे स्थान पर ले गए ॥ १५ ॥

आभास----अतो भगवतो वारत्रयं देवानां च रक्षणं जातमित्यतः परं य उत्पातः समायास्यति तस्य न प्रतीकार इति ततः पूर्वमेव गमनमुचितमित्याह यावदिति।

आभासार्थ—भगवान् ने तीन वार और देवताओं ने तीनवार आपदा से रक्षण किए अब यदि कोई उत्पात हुआ तो उसका प्रतीकार[2] न हो सकेगा अतः उत्पात होने से पहले ही यहाँ से रवाना होना योग्य है । यह निम्न श्लोक में कहते हैं ।

१—मूढ, मूर्ख । २—उपाय ।

श्लोक—**तावद् बालानुपादाय यास्यामोन्यत्र सानुगाः ॥ १६ ॥**

श्लोकार्थ---जब तक उत्पात से उत्पन्न अशुभ फिर व्रज का अभिभव[1] न करे तब तक (उससे पहले ही) बालक और नौकरों सहित यहां से दूसरे स्थान पर हम चलकर पहुँच जाय ।

सुबोधिनी—उत्पातेन जातोरिष्टो मरणादिरूप इति **यावद व्रजं नाभिभवेत् तावदितो बालानादाय सानुगाः** सपरिकरा **अन्यत्रैव यास्यामः**, निर्धारितमेतद् वचनं, **बालानां** कर्मता, उत्पातास्तत्सम्बन्धिन एव दृष्टा इति, स्थलान्तरमन्विष्यास्य परित्याग इति ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ--उत्पात से उत्पन्न अरिष्ट[2] से व्रज का अभिभव न हो उससे पहले ही अपने यहां से बालक, नौकर और समस्त परिवार को साथ लेकर दूसरे स्थान पर चले चलेंगे । यह कहना निर्धारित[3] किया हुआ है । यहाँ जो उत्पात हुए हैं वे सब बालकों के सम्बन्ध वाले हैं अर्थात् बालकों को ही कष्ट हुआ है इसलिये यहाँ श्लोक में बालक शब्द दूसरी विभक्ति में दिया है ॥१६॥

आभास--स्थलान्तरं सगुणं निर्दिशति वनं वृन्दावनमिति ।

आभासार्थ—दूसरे रहने योग्य स्थल को ढूंढ कर पीछे इस स्थान को छोड़ना योग्य है । इसलिये उस योग्य स्थल के गुणों का वर्णन निम्न श्लोक में करते है ।

श्लोक--**वनं वृदावनं नाम पशव्यं नवकाननम् ।**
गोपगोपीगवां सेव्यं पुण्याद्रितृणवीरुधम् ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ--वृन्दावन नाम वाला वन, पशुओं के अनुकूल और नया वन है गोप गोपियां और धेनुओं के सेवन करने योग्य है । इसमें पवित्र, पर्वत, तृण और लताएँ सब अच्छे हैं ।

सुबोधिनी—**वृन्दा** मधोः पुत्री, तन्नाम्ना नूतनं वनं **वृन्दावनं**, स्त्रीप्राधान्यात् तत्र न दैत्यसम्बन्धः, भगवता पुनर्जालन्धरवधार्थं सा परिगृहीता, अतो देवताधिष्ठानाद् देवदैत्यानामनुरोध्यं तत् स्थानं, अतस्तत्रोत्पातशङ्काभावः, तदाह **वृन्दावनं, नामेति** प्रसिद्धं तथा तत् **नवकाननमिति**, न शीर्णवृक्षास्तत्र सन्ति नापि शृगालसर्पादीनां तत्र स्थितिः, अतः सर्वे गुणाः सर्वेदोषाभावश्चोक्ताः, किञ्चालौकिकोपि तत्रत्यो गुणः समीचीन इति ज्ञायते

१—हानि २—मरणादि अशुभ । ३—निर्णय ।

यत् पशव्यो भवति पशूनां हितः, ते ह्यरण्योपजीविनोरण्यपात्रास्तेषां यद्धितमलौकिकप्रकारेणापि समीचीनमिति, किञ्च तस्मिन् वने त्रिविधा भूमिरस्ति, अतिगुप्तातिप्रकटा तृणादिगह्वरा च, तदाह **गोपीनां गोपानां गवां च सेव्यमिति**, अन्येषामापि नन्दपुरोहितप्रामाणिकानां तत् सेव्यमित्याह **पुण्याद्रितृणवीरुधमिति, पुण्योद्रिर्गोवर्धनः, तृणानि बर्हिः, वीरुधः सोमः करीराणि वा**, अतस्तामसानां राजसानां सात्त्विकानां च हितकारि तत् स्थानमित्युक्तम् ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने जालन्धर के वध के लिये जिस मधु की पुत्री वृन्दा को स्वीकार किया था, उसके नाम से यह नूतन[1] वन वृन्दावन कहलाता है इस वन में स्त्री का प्राधान्य है इसलिये इस वन में दैत्य प्रवेश नहीं करते है क्यों कि दैत्य स्त्रियों के स्थान में नहीं आते हैं कारण कि दैत्य, स्त्रियों की रक्षा मुख्य कर्म समझते हैं। वह देवताओं के रहने का (भगवान् ने वृन्दा को स्वीकार किया इसलिये) स्थान हो गया है। अतः देव और दैत्य दोनों को यह स्थान बहुत प्रिय है। इससे उस में उत्पात होने की शङ्का करने का भी अभाव हैं। यह वृन्दावन नवीन वन है और (गुणों के कारण) प्रसिद्ध भी हैं। वहाँ कोई शुष्क[2] वृक्ष नहीं है तथा शृंगाल[3] और सर्प आदि भी नही रहते हैं। इससे इस वन में सर्व गुण हैं दोष कुछ भी नहीं है। लौकिक गुण तो हैं ही किन्तु अलौकिक गुण भी सुन्दर है वे बताते हैं १–पशु जाति, अरण्यों[4] पर ही जीती है तो यह अरण्य पशुओं के योग्य पात्र है इसमें सर्व प्रकार से पशुओं का हित है। इस वन में तीन प्रकार की भूमि है १–अतिगुप्त, २–अतिप्रकट ३–तृणादि[5] से भरपूर। इसलिये गोप, गोपियों और धेनुओं[6] के सेवन[7] योग्य है। इनके अतिरिक्त अन्य नन्द, पुरोहित और प्रामाणिक पुरुष के लिए भी सेवन योग्य हैं, क्योंकि पवित्र पर्वत गोवर्द्धन पर घास, मयूर-बर्हि सोमलता करीर आदि पदार्थ पुष्कल[8] हैं। अतः यह स्थान, तामस, राजस और सात्विक तीनों के रहने योग्य है ॥ १७ ॥

आभास––एवं स्थान प्रशंसायां सर्वे गोपाला आहुस्तत्तत्राद्यैव यास्याम इति।

आभासार्थ––इस प्रकार स्थान की प्रशंसा सुनते ही सब गोपाल कहने लगे उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक––**तत् तत्राद्यैव यास्यामः शकटान् युंक्त माचिरम्।**
गोधनान्यग्रतो यान्तु भवतां यदि रोचते ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ—इससे वहाँ आज ही चले चलें, इसलिये तुम सब की रुचि हो तो

१—नया। २—सुखा हुआ। ३—गीदड़। ४—जगलों। ५—घास आदि
६—गायों। ७—रहने ८—भरपूर ९—विचार

गाड़े जोड़ो, देरी मत करो, गोधन को प्रथम से आगे चलने दो ।

सुबोधिनी—तस्मात् कारणाद् यदि वृन्दावनं तादृशं ततोद्यैव तत्र यास्यामः, एवं सर्वेषां सङ्कल्पे प्रधानभूता उपनन्दादय आहुः शकटाञ् युंक्त मा चिरमिति, शकटानां बलीवर्दैः सह योजनं साधनं, विलम्बनिषेध उत्पातभयशङ्कया ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ—आपके कहे हुए कारणों से यदि वृन्दावन ऐसा है तो आज ही हम वहाँ चलेंगे । इसी प्रकार सब का सङ्कल्प[1] देखकर मुख्य उपनन्दादिक कहने लगे कि गाड़े जोतो देरी मत करो । जाने का साधन बतातें है कि गाड़ों के साथ बैलों को जोड़ो । देरी नहीं करने का कारण कहते हैं कि फिर कहीं कोई उत्पात न आ जाय ॥ १८ ॥

आभास----एवं भयसाधनयोर्निर्देशे यत् कृतवन्त स्तदाह श्रुतवेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार उपनन्दादि ने ठहरने में शङ्का और जाने के साधन कहे, तब गोपों ने जो कुछ किया उसका वर्णन नीचे के श्लोक में वर्णन करते है ।

श्लोक—**तच्छ्रुत्वैकधियो गोपाः साधुसाध्वितिवादिनः ।**
व्रजान् स्वान् स्वान् समायुज्य ययू रूढपरिच्छदाः ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ—यह सुनकर सब गोप एक मत होकर वाह ! वाह ! बहुत अच्छा कहके अपने अपने गाड़े जोड़ उन पर सब सामान लाद के रवाने हुए ।

सुबोधिनी—मध्ये तेषां न वैमत्यं यतो गोपास्तुल्याः, तादृशोर्थः स्वस्यात्यन्तमभीष्ट इति मन्त्रवाक्यप्रशंसा, गच्छन्त एव वदन्तीतिवादिनः, ते सर्वेवान्तरभिन्नभिन्नव्रजाधिपतयः स्वस्य यत्र यत्र भिन्नतया गावः स्थितास्तान् समुदायेनैव वत्सगोविभागमकृत्वा सम्यग्युज्य योजयित्वाग्रे प्रस्थाय शकटेष्वारोपितोपकरणाः सर्व एव ततो ययुः ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थ—उनमें किसी की भी सम्मति भिन्न नहीं थी सब एक मत वाले थे क्योंकि गोप सब एक जैसे थे । वैसा उपनन्दजी का कहना उनको बहुत प्रिय था । जाते हुए 'साधु' 'साधु' कहते थे जिससे उस उपनन्द के मन्त्रणा और वचनों की प्रशंसा हुई । वे सब गोप पृथक् पृथक् व्रज (गोवाड़े) के अधिपति थे सबकी गौ अलग-अलग थीं तो भी इस समयवत्स और गौओं का विभाग न कर साथ में ही मिलाकर और आगे रवाना कर अपना सब सामान गाड़ों में धर कर सब गोप वहाँ से रवाने हुए ॥ १९ ॥

१—विचार

आभास---गताश्चतुर्विधा इति ज्ञापयितुं तमोरजः सत्त्वनिर्गुणरूपान् पृथक् पृथक् चतुर्भिः श्लोकै राह, तत्र प्रथमाह वृद्धान् बालान् स्त्रिय इति ।

आभासार्थ—जो वहाँ से रवाने हुए वे तामस, राजस, सात्त्विक और निर्गुण होने से चार प्रकार के थे । उनका क्रमवार एक एक श्लोक में वर्णन करेंगे इस श्लोक में तमोगुणियों का वर्णन करते हैं ।

श्लोक---**वृद्धान् बालान् स्त्रियो राजन् सर्वोपकरणानि च ।**
अनस्स्वारोप्य गोपाला यत्ता आत्तशरासनाः ॥ २० ॥

श्लोकार्थ---हे राजन् ! वृद्ध, बालक और स्त्रियों को गाड़ों में बिठाकर तथा सब सामान को गाड़ों में भर कर गोपालों ने कवच बान्ध एवं धनुष धारण किए ।

सुबोधिनी—अत्यन्तं प्राकृता वृद्धा बालाः स्त्रियश्च, **राजन्नि**तिसम्बोधनं कदाचित् तीर्थयात्राद्यर्थं सकुटुम्बस्य प्रस्थाने त्वदीयानामपि तथाप्रस्थितिस्तवानुभवसिद्धे-तिज्ञापनाय, देशान्तरनिवासार्थमाज्ञप्तानां त्वदीयानां यथा तथेति वा, **सर्वोपकरणानि च** शकटेष्वारोप्य **गोपाः** सर्वे पदातय **आयत्ता** बद्धकवचा **आत्तशरासना** गृहीतधनुषस्तामसत्वाद् राजसेष्वेव सम्बन्धः ॥ २० ॥

व्याख्यार्थ—वृद्ध, बालक और स्त्रियाँ अत्यन्त प्राकृत हैं । आपको भी कभी सकुटुम्ब तीर्थ यात्रा पर जाने के समय आपके सम्बन्धियों की भी इस प्रकार रवानगी हुई होगी । अथवा आपने अपने आश्रितों वा सम्बन्धियों को देशान्तर जाने की आज्ञा दी होगी तो उनकी भी इस प्रकार की रवानगी हुई होंगी । इनका आपको अनुभव है ही । इसको बताने के लिये श्लोक में 'हे राजन्' यह सम्बोधन दिया है । सब सारा सामान गाड़ों में लाद कर सब गोप पैदल कवच बाँध हाथों में धनुष लेकर (रवाने हुए) तामस होने से राजस से (धनुष) सम्बन्ध हुआ* ॥ २० ॥

आभास----गोधनानीति ।

---

* श्रीप्रभुचरण टिप्पणीजी में कहते है कि २० वें श्लोक में अपने सरसामान की रक्षा करनेवाले तामस गोपों का वर्णन है । २१ वें श्लोक में अपने अपने गोष्ठ के अधिपति होने से और साथ में कर्मठ ब्राह्मणों के साथ होने से राजस गोपों का वर्णन है । २२ वें श्लोक में सात्विक गोपियों का वर्णन हैं ।

इस प्रमाण प्रकरण में यशोदा और नन्द के निरोध का मुख्य वर्णन होने से यह तारतम्य बताकर गोपियों का सात्विक होना सिद्ध किया है ।

योजनाकार लालूभट्टजी कहते हैं कि जिस प्रकार सर्गलीला में ब्रह्मा समय समय पर भिन्न भिन्न गुणों को धारण करते हैं वैसे ही यहाँ भी चार प्रकार के गुणों का धारण करनां काल भेद से कहा है ।

आभासार्थ—इस श्लोक में राजसों का वर्णन करते हैं।

श्लोक---**गोधनानि पुरस्कृत्य शृङ्गाण्यापूर्य सर्वतः ।**
तूर्यघोषेण महता ययुः सह पुरोहिता ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ---गोधन को आगे कर चारों और सींग बजाते और तुतारी का बड़ा शब्द करते पुरोहितों को साथ ले (वृन्दावन) गये।

सुबोधिनी—गोधनानि गावः पुरस्कृत्याग्रे नीत्वा निर्भया शृङ्गाण्यापूर्य, ते तु शृङ्गवादित्रा एव, महान् घोषः, प्रभूणां निर्गमनमाह तूर्यघोषेणेति, पुरोहिता ब्राह्मणा वैश्ययाजकाः। । २१ ॥

व्याख्यार्थ—गौओं को आगे कर निर्भय हो, सींग बजाने वालों ने सींग बजाकर चारों तरफ महान् शब्द किया, वैश्यों के कर्म कराने वाले ब्राह्मण और गोष्ठों के प्रभू (राजा) तुरी के घोष करते हुए निकले ॥ २१ ॥

आभास---गोपिकास्तु भगवद् भोग्याः सात्त्विक्यो भिन्नतयैव निर्गता गोप्य इति।

आभासार्थ—गोपियां सात्विक और भगवद् भोग्य (भगवान् को रस देने वाली) थीं इसलिये वे गोपों के साथ न होकर भिन्न* प्रकार से निकलीं।

श्लोक---**गोप्यो रूढरथा नूत्नकुचकुङ्कुमकान्तयः ।**
कृष्णलीलां जगुः प्रीता निष्ककण्ठयः सुवाससः ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ---स्तनों पर चर्चित नवीन केसरसे सुशोभित्, सुन्दर वस्त्र पहने, गले में सोने की कण्ठिओं को पहने रथ में बैठी हुई सब गोपियाँ प्रसन्न चित्त हो कृष्ण की लीला गाने लगीं।

सुबोधिनी—रथास्तूत्तमा अश्वयोजिता वृषभयोजिता वा, नूतनाः कुचकुंकुमकान्तयो यासां, वयःसाधनशोभाभोग्या उक्ता भगवत एवेती ज्ञापयितुं तद्गुणानेव गायन्त्या निर्गता इत्याह कृष्णलीलामिति, एकवचनेन स्वोपयोगिन्येव लीला निरूपिता, कृष्णपदेन च न केवलं निरोधपरा किन्त्वानन्दमयीति, प्रीता इति मनस्तोषः, निष्ककण्ठ्य इति साभरणा, सुवाससश्चेति देहपरिष्कार उक्तः, गुणगानादेव वाक्परिष्कारोपि, एतासामेव रथो भगवांस्तु तास्वेव प्रतिष्ठितो गच्छति ॥ २२ ॥

---

* योजनाकार श्रीलालूभट्टजी कहते है कि गोप तो जैसे वस्त्रादि धारण किये हुए थे उन वस्त्रों से ही छकड़ों में बैठकर निकले, किन्तु गोपीजन आभूषण वस्त्र आदि से सुसज्जित होकर रथों पर बैठकर निकलीं इसलिये आभास में कहा है कि 'भिन्नतया एव' भिन्न प्रकार से गोपों से अलग होकर ही निकलीं।

व्याख्यार्थ—गोपियां जिन रथों में बैठकर रवाना हुई वे रथ उत्तम थे रथों में घोड़े अथवा बैल जोड़े थे। गोपियां स्तनों पर लगाई हुई नवीन केसर की कान्ति से सुशोभित हो रही थीं। स्तन शब्द देकर यह बताया है कि गोपियां वय[1] से, भगवान् को रस देने योग्य हैं 'नवीन केसर' शब्द से यह बताया है कि गोपियों के पास भगवान् को रस देने के साधन भी हैं; 'कांति' शब्द से गोपियां अपनी शोभा से यह बताती हैं कि हम भगवान् के भोग योग्य हैं। गोपियां भगवान् के ही भोग योग्य हैं। गोपियों की यह उत्कट अभिलाषा है कि भगवान् हमारा भोग करें इसलिये वे उन (श्रीकृष्ण) के ही गुणों को ही गाती हुई निकली। श्लोक में 'कृष्णलीला' यह पद एकवचन क्यों दिया? श्रीकृष्ण की लीलाएं तो बहुत ही हैं। एकवचन का आशय कहते हैं कि गोपियों ने वह लीला गाई जो लीला गोपियों के उपयोग की थी। 'कृष्ण' नाम देने का तात्पर्य समझाते हैं कि वह लीला (जो लीला गा रही थी) केवल निरोध करने वाली नहीं थी किन्तु आनन्दमयी* भी (आनन्द से भरपूर आनन्दरूप) थीं गोपियां उस समय प्रसन्नचित्त थीं। गोपियों ने गले में सोने की कण्ठी आभूषणों से और सुन्दर वस्त्रों से देहों को परिष्कृत[2] किया था, तथा भगवद्गुण गान से वाणी को परिष्कृत किया था रथ† तो गोपियों के ही थे अतः भगवान् उनके (गोपियों के) हृदय में विराजमान थे उनके साथ रथ में बैठ जाते थे ॥ २२ ॥

आभास—यशोदारोहिण्योर्भगवत्सम्बन्धाद् गुणातीतयोः पृथग्गमनमाह तथेति ।

आभासार्थ—यशोदा और रोहिणी भगवान् से सम्बन्ध होने के कारण गुणातीत[3] हो गई थी इसलिये उनका जाना पृथक हुआ। उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—तथा यशोदारोहिण्यावेकं शकटमास्थिते ।
रेजतुः कृष्णरामाभ्यां तत्कथाश्रवणोत्सुके ॥ २३ ॥

श्लोकार्थ—वैसे ही कृष्ण की कथा सुनने की इच्छा वाली यशोदा तथा रोहिणी एक छकड़े में श्रीकृष्ण तथा बलरामजी को साथ में लेकर बैठी हुई शोभित हो रही थी।

---

* **योजनाकार**—इसका भाव समझाते हुए कहते है कि 'कृष्ण' नाम से यह बताया है कि 'स्त्रीभावो गूढ़: पुष्टिमार्गे तत्वंइतिकृष्ण पदार्थ' गूढ़ स्त्री भाव पुष्टिमार्ग में तत्त्व है स्त्री भाव से युक्त भगवान् को 'कृष्ण' कहा जाता है वह स्वरूप विशेष रसवाला (दाता) होने से आनन्दमय कहे जाते है अतः उनकी लीला भी आनन्दमयी है।

† **लेखकार**—'तो' अक्षर का भाव बताते हैं कि भगवान् गोपियों के हृदय में स्थिर स्थित रहते हैं—यशोदा की गोदी में सदैव स्थिर नहीं रहते हैं—थोड़ी देर बैठकर फिर चले जाते हैं पुनः आ जाते हैं।

१—अवस्था। २—सजाया था, सुशोभित किया था। ३—निर्गुण।

सुबोधिनी—शकटो मध्यस्थितः, अनो निकृष्टं रथस्तूत्तमः, तथेतिसौन्दर्यं गुणगानं च, निर्दिष्टं स्थानं यशोदायाः, भगवांश्च प्रधानभूत इति सार्धद्वयवार्षिको भगवान्, अतो यशोदाक्रोडे स्थितस्तथा रामोपि, कृष्णरामाभ्यां सहिते ताभ्यां कृत्वा वा रेजतुः गोपिकानां निकटे तयोर्गमनमाह तत्कथाश्रवणोत्सुके इति नामलीलानुरक्तिस्तयोः सूचिता ॥ २३ ॥

व्याख्यार्थ—तीन प्रकार की सवारी की गाड़ी होती है। उनमें 'शकट' (छकड़ा) मध्यम अतः छोटी गाड़ी निकृष्ट[1] है और 'रथ' उत्तम है। श्लोक में 'तथा' शब्द से बताया है कि सौन्दर्य और भगवान् का गुणगान यहां भी है। जहां यश देने वाली यशोदा हो वहां सौन्दर्य और यश दोनों ही रहते हैं इसी प्रकार जहां भगवान् विराजते हैं वहां भी सौन्दर्य और यश होते ही हैं। इस रथ में स्थित यशोदा एवं गोदी में विराजमान भगवान् के कारण दोनों (सौन्दर्य और गुणयश) यहां भी हैं कारण कि यशोदा शकट में बैठी थी और भगवान् मुख्य थे उसकी गोदी में विराजमान थे क्योंकि उस समय भगवान् अढ़ाई वर्ष के थे। वैसे राम भी थे। राम और श्रीकृष्ण दोनों के साथ होने से वे (यशोदा-रोहिणी) सुशोभित हो रही थी। वे गोपियों के पास गईं, कारण कि उन दोनों (यशोदा-रोहिणी) को भगवद्गुण श्रवण करने की उत्सुकता थी। इससे यह बताया कि उनकी भगवान् की नाम लीला में विशेष प्रीति थी ॥ २३ ॥

आभास—न केवलं तत्र गताः किन्तु तत्र प्रतिष्ठिता इत्याह वृन्दावनमिति।

आभासार्थ—निम्न श्लोक में कहते हैं कि वे केवल वृन्दावन में गये हीं नहीं किन्तु उन्होंने वृन्दावन को अपना वासस्थान बना लिया।

श्लोक—**वृन्दावनं सम्प्रविश्य सर्वकालसुखावहम्।**
तत्र चक्रुर्व्रजावासं शकटैरर्धचन्द्रवत् ॥ २४ ॥

श्लोकार्थ—सब समय में सुख देने वाले वृन्दावन में प्रवेश कर, वहाँ शकटों से अर्धचन्द्र के समान व्रज[2] का आवास[3] बना दिये।

सुबोधिनी—वृन्दावनभूमिस्तस्मिन् कल्पे यमुनोत्तरभागे गोवर्धनश्चाक्रूरस्थाने तदुत्तरणमल्पप्रवाहा च यमुना ह्रदाः परं तत्रागाधा नन्दस्थानं च तत्रैव, अस्मिन् कल्पे तु प्रदेशास्तत्तदधिष्ठातृदेवताधिष्ठिता विशकलिततया पतिता इति न काप्यनुपपत्तिः, उत्तरणपक्षेप्यल्पप्रवाहेति नोत्तरणं निरूपितं, वर्षाकाल एव यमुनाया महत्त्वमिति, एते बृहद्वनं परित्यज्य वृन्दावनं सम्यक् प्रविश्य शकटैरर्धचन्द्रवद् व्रजावासं चक्रुः,

---

१—अधम, साधारण। २—गोधन गोष्ट। ३—निवास स्थान।

वेष्टनस्थानीया गृहाः, मध्ये गवां स्थानं, प्रथममेवैतत्, पश्चाद् यथासुखमेव स्थितिः, अर्धचन्द्राकारे बहिर्द्वारं सर्वग्राह्यं भवति, गृहाणां निर्माणं तत्र नापेक्ष्यते, यतो वनमेव सर्वकालं सुखमावहति, शकटैरिति, रथानां क्रीडार्थं स्थापनं, अनांसि काष्ठाद्यानयनार्थानि, महादेवो हि पशुपतिस्तच्चिह्नमर्धचन्द्रः, अतः प्रतिष्ठितो भवतीति ।। २४ ।।

व्याख्यार्थ—भगवत में जिस कल्प की, श्रीकृष्ण की लीला कही गई है उस कल्प में वृन्दावन तथा गोवर्द्धन यमुनाजी के उत्तर भाग में थे। अक्रर के स्थान पर जाने के लिये जहाँ यमुनाजी पार करनी पड़ती थी वहां यमुना का प्रवाह स्वल्प[1] था परन्तु हृद[2] अगाध[3] थे। नन्दजी का स्थान भी वहाँ ही था। इस कल्प में तो अधिष्ठातृ देव अपने अपने अधिष्ठान[4] भिन्न २ बना कर रहते हैं अतः प्रदेश भी अलग अलग हो गए हैं। इसलिये इस प्रकार के वर्णन में किसी प्रकार अयोग्यता की शङ्का नहीं है। गोप यमुनाजी को पार करके वृन्दावन पहुँचे थे उसका वर्णन क्यों नहीं किया ? इस शङ्का का निवारण यह है कि यदि उस कल्प में भी गोकुल से वृन्दावन जाते हुए बीच में यमुनाजी थी ऐसा मान लिया जाय और उसको पार कर गोप वृन्दावन में गए थे तो भी वहाँ यमुना का प्रवाह स्वल्प था जिसको मनुष्य पैदल ही पार कर सकते थे इसलिये उत्तरण[5] का वर्णन नहीं किया है कारण कि यमुना का प्रवाह* केवल बर्षाकाल में ही बढता है। उस समय पार नहीं जा सकते, गोपादि गोकुल वासियों ने गोकुल छोड़कर वृन्दावन में समीचीन[6] प्रकार से प्रवेश कर उस (वृन्दावन) को शकटों से अर्धचन्द्र के समान व्रज का आवास बना दिया। किस प्रकार बनाया उसको समझाते हैं कि, बीच में गौओं के रहने के स्थान बनाए, उनके चारों तरफ वाड़ की जगह शकटों को रक्खा जिनको अपने घर किए। इनमें मुख्य तो धेनुओं के रहने के स्थान थे ! इस प्रकार सब सजाने के पश्चात् सुख पूर्वक निवास करने लगे। वास स्थान को अर्द्धचन्द्राकार इसलिये बनाया गया था कि बाहिर के दरवाजे से अपने स्थान पर आने में किसी को रुकावट न हो वहां शकटों से पृथक् अन्य घरों के बनाने की आवश्यकता नहीं थी कारण कि वृन्दावन सर्व समय में सुख देने वाला था। वासस्थान शकटों[7] से अर्धचन्द्र के समान बनाया था। छकड़ों से इसलिये बनाया था, कि रथ क्रीड़ा के काम में आएँगे और गाड़े काष्ट[8] आदि को लाने के काम में आयंगे। महादेव पशुपति है उनका चिह्न अर्द्धचन्द्र है उसमें आप (महादेव) विराजते हैं अतः यह वास स्थान अर्द्धचन्द्राकार होने से महादेव के विराजने का स्थान होने से वे यहां बिराजेंगे जिससे पशुओं के सुख समृद्धि[9] की वृद्धि[10] होगी ।। २४ ।।

---

* प्रकाशकार पद्मपुराण का प्रमाण देकर कहते हैं कि गोप गोकुल से वृन्दावन मार्ग शीर्ष शुक्ल ५ को गए हैं। उस समय वर्षा नहीं थी।

१—कम, थोड़ा। २—गढ्ढे या खड्डे। ३—बहुत गहरे। ४—स्थान।
५—पार करने। ६—अच्छे उत्तम। ७—छकड़े। ८—लकड़ियाँ।
९—सम्पत्ति। १०—बढ़ोतरी।

आभास--तत्र भगवतश्चरित्रमाह सामान्यतो वृन्दावनमिति ।

आभासार्थ—वहां (वृन्दावन में) भगवान् ने जो सामान्य चरित्र किए उनका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं कि--

श्लोक--**वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च ।**
वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृप ॥ २५ ॥

श्लोकार्थ---हे राजन् ! वृन्दावन, गोवर्द्धन और श्री यमुनाजी के तटदेखकर, राम और कृष्ण को उत्कट[1] आनन्द हुआ ।

सुबोधिनी—वृन्दावनं राजसं गोवर्धनः सात्त्विको यमुनापुलिनानि च दृष्ट्वोत्तमा प्रीतिरासीत्, अतः प्रीतः पूर्वोक्तप्रकारेण लीलां कृतवानित्युक्तं भवति, नृपति-सम्बोधनं दर्शनेन प्रीती राजलीलेति ज्ञापयितुम् ॥२५॥

व्याख्यार्थ—राजस वृन्दावन, सात्त्विक गोवर्द्धन और यमुनाजी के तट देखकर (राम और श्रीकृष्ण को) बहुत हर्ष हुआ । अतः हर्ष युक्त होकर पूर्व में कहे हुए प्रकार से लीला करने लगे । हे नृप ! यह सम्बोधन परीक्षित को बताने के लिये दिया है कि देखने से हर्ष होना यह भगवान् की राजलीला है ॥ २५ ॥

आभास--एवं सामान्यलीलामुक्त्वा स्त्रीनैरपेक्ष्येण विशेषतो बाललीलां वक्तुं वत्सचारणलीलामुपक्रमत एवमिति ।

आभासार्थ—सामन्य लीला के पीछे जिस लीला में स्त्रियों की आवश्यकता नहीं है ऐसी बाललीला का वर्णन इस श्लोक से लेकर अध्याय समाप्ति पर्यन्त करते हैं । उसमें पहले वत्स[2] चारणलीला से प्रारम्भ करते हैं।

श्लोक---**एवं व्रजौकसां प्रीतिं यच्छन्तौ बालचेष्टितौ ।**
कलवाक्यौ स्वकालेन वत्सपालौ बभूवतुः ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ----बालकों के समान चेष्टा वाले, मधुर और अव्यक्त[3] शब्द बोलने वाले वे दोनों (राम-कृष्ण) व्रजवासियों को हर्षित करते थे । जब वत्स चराने की आयु वाले हुए तब वत्सपाल हुवे । (बछड़े चराने लगे) ।

१—अधिक । २—बछड़े चराने । ३—तोतले जो पूरे समझ में न आवे ।

सुबोधिनी—यावदध्यायसमाप्ति, पूर्वप्रकारेण व्रजौकसां व्रजमध्यस्थितानां प्रीतिं यच्छन्तावेव स्वकालेनाधिदैविकेन सेवार्थमागतेन कृत्वा वत्सपालयोग्यौ वर्षत्रयाधिकौ जातौ, देशकालाद्युपद्रवाभावाय बालचेष्टितौ कलवाक्यावितिं पदद्वयं, मनसा तु प्रीतिं भावयत्येव कायेन वाचा च भावयतीति बालयोरिव चेष्टितानि ययोः, कलमव्यक्तमधुरं वाक्यं ययोः, व्रजौकसां प्रीतेरनुवृत्तिः पूर्वकृतनिरोधनिवृत्त्यभावाय भगवति योग्यताफलयोः पृथङ् निरूपणाभावाद् वत्सपालकावेव सञ्जातावित्युक्तम् ॥२६॥

व्याख्यार्थ—व्रजवासियों को पूर्वोक्त[1] प्रकार से हर्ष देते हुए ही आधिदैविक काल सेवा के लिये आ गया। जिससे आप वत्सपाल (बछड़ों को पालने वाले गोप) होने के योग्य आयु वाले (तीन वर्ष से बड़े) हो गए। उस समय वहाँ (वृन्दावन में) देश अथवा कालादि के उपद्रवों का अभाव था कारण कि दोनों ने अपने बालचेष्टाओं[2] से और मधुर तथा धीमी वाणी से उपद्रवों का अभाव कर दिया था। भगवान् मन से तो गोपों को हर्ष देते ही थे किन्तु बाल क्रीड़ाओं द्वारा काया से और मधुर तथा अव्यक्त शब्दों द्वारा वाणी से भी गोपादिकों में हर्ष उत्पन्न करते थे। व्रजवासियों में जो हर्ष (निरोध) उत्पन्न किया था वह चालू रहे इसलिये ये (बाल चेष्टाएँ और कलरव की) लीलाएँ करने लगे। भगवान् में योग्यता और फल का पृथक निरूपण न कर 'वत्स पालकौ' पद से दोनों (योग्यता और फल) बता दिये जैसे कि भगवान् में बछड़ों को चराने की योग्यता है और उनके पालना करने की सामर्थ्य भी है॥ २६ ॥

आभास----तयोर्वत्सपालने क्रीडामाह त्रिभिरविदूर इति।

आभासार्थ—दोनों ने जो वत्सों को पालते हुए क्रीड़ाएँ की हैं उनका वर्णन २७ वें श्लोक से २९ वें श्लोक तक करते हैं।

श्लोक----**अविदूरे व्रजभुवः सह गोपालदारकैः।**
चारयामासतुर्वत्सान् नानाक्रीडापरिच्छदौ॥ २७ ॥

श्लोकार्थ---क्रीड़ा के अनेक साधन वाले दोनों भाई ग्वालबालों के साथ व्रजभूमी के सान्निध्य[3] में बछड़े चराने लगे।

सुबोधिनी—अत्रापि क्रीडा त्रिरूपा, तत्र प्रथमं व्रजभुवोविदूरे यत्र स्थितैर्व्रजो दृश्यते व्रजस्थाश्च पश्यन्ति, व्रजभूम्यपेक्षया सा तृणयुक्ता विलक्षणेति ज्ञापयितुं व्रजभुव इत्युक्तं, गोपालानां दारकाः समानवयसस्तान् कृतार्थीकर्तुं बहुभिः सह क्रीडोत्तमा भवतीति क्रीडासाधनसहितावेव वत्सांश्चारयामासतुः, भ्रमरचक्रसूक्ष्मदण्डकाष्ठखण्डकृत्रिमरथवादित्राकर्षणादीनि क्रीडापरिच्छदानि, तानि गृहीत्वैवायान्ति गच्छन्ति च, अनेन सामान्यतः क्रीडा निरूपिता, वत्सपालनं तु मुख्यं सूक्ष्मगोपालानां सहभावश्च ॥२७॥

१—पहले कहे हुए। २—बच्चों की क्रियाओं। ३—निकट, पास में।

व्याख्यार्थ—यहाँ भी क्रीड़ा तीन§ प्रकार से की है। उन तीन प्रकार की लीलाओं में से प्रथम प्रकार की लीला का वर्णन करते हैं कि १—साधारण लीला व्रज-भूमि के समीप की है सामीप्य[1] भी ऐसा की जहाँ खड़े हुए व्रज को देख सकते थे और व्रज में स्थित उन क्रीडाओं को और उनको भी देख सकते थे। जहां सामीप्य में खेलते थे वह भूमि व्रजभूमि से विशेष घास वाली होने से विलक्षण थी। गोपबालक समानवय वाले थे उनको कृतार्थ करने के लिये और बहुतों के साथ क्रीड़ा उत्तम (रसवाली) हो इसलिये साधन भी साथ ले गए थे। ऐसे सरस क्रीड़ा करते वे दोनों बछड़े चराते थे। क्रीड़ा[2] के साधन जो ले गए थे वे बताते हैं। फिराने के लिये चक्र, छोटा दण्ड, काष्ट का टुकड़ा, बनावटी रथ, बाजे, आकर्षण (वृक्षों से फल गिराने के लिये लम्बे बांस के साथ बांधा हुआ लोहे का काँटा) आदि साधन थे उनको लेकर ही आते और जाते थे। इस श्लोक में इस प्रकार सामान्य[3] क्रीड़ा का वर्णन किया है इस क्रीड़ा में वत्सों का पालन और छोटे गोपों से मित्रता मुख्य है ॥ २७ ॥

आभास—उभयोरत्र निरोधो वक्तव्यः, नन्दसहचरितानां निरोधनिरूपणाय साधनैश्च क्रीडां प्रथमत आह।

आभासार्थ—यहाँ दोनों (वत्स और गोपों) के निरोध का वर्णन करना है। नन्द के साथ हिलमिल रहने वालों का निरोध करने के लिये, यहाँ दोनों (वत्स और गोपों) के निरोध का वर्णन करना है। अतः साधनों से होनेवाली क्रीड़ा का वर्णन पहले करते हैं।

श्लोक—**क्वचिद् वादयतो वेणून् क्षेपणैः क्षिपतः क्वचित्।**
क्वचित् पादैः किङ्किणीभिः क्वचित् कृत्रिमगोवृषैः ॥ २८ ॥

श्लोकार्थ—कभी मुरली बजाते, कभी गोफन चलाते, कभी घुँघरूवाले चरणों से नृत्य करते और कभी बनावटी मृत्तिका के दोनों तरफ पहिये वाले खिलोने से क्रीड़ा करते थे।

सुबोधिनी—प्रथमं क्वचिद वेणून् वादयतोवेंणुर्बहुच्छिद्रवंशस्तेषामवान्तरभेदा बहव इति बहुवचनं, शिरोव्यापारा अनेनोपलक्षिताः, क्षेपणा रज्ज्वादिनिर्मिता मध्ये लोष्टादि स्थापयित्वा भ्रामयित्वा लोष्टादिकं दूरे

---

§ 'प्रकाश' में गो० पुरुषोत्तमजी कहते हैं कि—१. साधारण क्रीड़ा, २. असाधारण क्रीड़ा और ३. निरोध में विघ्न करनेवाले दैत्यों का नाश। इस प्रकार की तीन लीलाएं कीं।

१—निकटता। २—खेल। ३—साधारण।

क्षिपन्ति तज्जातीया अपि बहुविधाः, एवमुभावपि क्षिपतो लोष्टादीनि दूरे प्रक्षिपतो मत्प्रक्षिप्तमेतावद्दूरे गच्छतीति ज्ञापनार्थं, क्वचिदिति यत्रान्योपद्रवशङ्का न भवति, हस्तयोः क्रीडा निरूपिता, क्वचित् पादैः किङ्किणीभिः सहितैर्नृत्यतः क्षिपतो वा लोष्टादीनि, कदाचिन् मृदादिनिर्मिता ये गोवृषा उभयतश्चक्रयुक्ता तानारुह्य व्रजतः, गोपाला वा कृत्रिमवृषाभवन्ति, तैः सह युद्धादिकं वा कुरुतः, तैर्वान्यान् क्षिपन्ति तमारोपयित्वा क्वचित् पातयन्ति ॥२८॥

व्याख्यार्थ—(१) प्रथम दोनों कभी बंसरियों को बजाते थे बंसरियाँ बहुवचन में इसलिये कही गई हैं कि बंसरी के अवान्तर भेद बहुत हैं बहु छिद्रवाले वंश (बाँस) को बंसरी कहते हैं। अनेक प्रकार की बंसुरी बजाने से मस्तक की क्रिया बताई हैं। (२) हस्त की क्रिया बताने के लिए दोनों भाई गोफनों को (रस्सी आदि से बने हुए होते हैं जिनमें बीच में लोहे वा पाषाण के ढ़ेले रखकर दूर दूर फेंकें जाते हैं उनको गोफन कहते हैं वे भी अनेक प्रकार के होते हैं) घुमाते घुमाते लोष्ठादि[1] ढेलों को दूर दूर फेंकते थे। फेंक कर राम कहते थे कि देखो मेरा ढेला कितना दूर गया है फिर श्रीकृष्णजी फेंक कर कहते थे कि दाऊ! देखो तो सही मेरा ढेला आपसे भी कितना दूर गया है यह क्रीड़ा सावधानी से कभी इस प्रकार करते जैसे किसी को किसी प्रकार की चोट लगने की शङ्का न हो। कभी पैरों में किङ्किणी[2] बान्ध कर नाच करते थे अथवा लोष्ठादि के ढेलों को उन पैरों से दूर फेंकते थे कभी मृत्तिका[3] से बनाये हुए गो वृषों[4] पर बैठकर घूमते थे अथवा गोप गो वृष बन जाते थे उन पर सवारो कर घूमते थे। अथवा उनसे युद्ध करते थे। अथवा परस्पर[5] एक दूसरे पर गिरा देते थे। कभी उन पर चढ़कर गिरा देते थे ॥ २८ ॥

आभास----एवं शिरोबाहुपादयुद्धस्थानैश्चतुर्विधा लीला निरूपिता, सम्पूर्णेन लीलामाह वृषायमाणाविति ।

आभासार्थ—ऊपर के श्लोक में शिर, बाहु, पाद और युद्ध के साधनों से चार प्रकार की लीला का वर्णन कर अब इस श्लोक में श्रीकृष्ण ने जो लीला की उसका वर्णन करते हैं।

श्लोक—**वृषायमाणौ नर्दन्तौ युयुधाते परस्परम् ।**
अनुकृत्य रुतैर्जन्तूंश्चेरतुः प्राकृतौ यथा ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ—आप (श्रीकृष्ण) स्वयं वृष बनकर नाद[6] करते तो अन्य भी वैसे ही करते और परस्पर लड़ते थे। कभी मयूर[7] आदिकों की वाणी का अनुकरण करते प्राकृत बालकों के समान फिरते थे।

१—पत्थर इत्यादि। २—घुंघरू। ३—मिट्टी। ४—बैलों। ५—आपस में।
६—गरजते। ७—मोर।

सुबोधिनी—स्वयमेव वृषरूपौ भवतः कृत्रिमप्रकारेण तथैव च नर्दन्तौ शब्दं कुरुतः, परस्परमन्योन्यं च युयुधाते, कायवाङ्मनोलीला प्रदर्शिताः, युद्धं कायिकमपि मनोधर्मप्रधान्यान् मानसं, एवं स्वतोलीलां निरूप्यानुकारेणापि स्वतोलीलामाहानुकृत्येति, जन्तून् मण्डूकादीन् मयूरादींश्चानुकृत्य तत्सरूपौ भूत्वा तैस्तैः सहानुकारेण तेषामपि भ्रममुत्पाद्य सर्वा एव लीलाः कृतवन्तौ, तत्र स्वैश्वर्यभावनया तथा कृतवन्ताविति शङ्कां वारयति प्राकृतौयथेति, यथा प्राकृतौ लौकिकसाधनैरेव तत्तदनुकरणं कुरुतस्तथा भगवान् सर्वविधबालकानां मनोरञ्जनार्थं तेषां दोषदूरीकरणार्थं निरोधार्थं च तथालीलां कृतवान्, जीवास्तु द्विविधा इत्युभयोस्तथाकरणम् ॥ २९ ॥

व्याख्यार्थ—स्वयं ही बनावटी वृषरूप बनते थे और उनके समान शब्द भी करते थे। परस्पर लड़ते भी थे। इससे काया[1], वाणी तथा मनकी लीला बताई है। युद्धकाया की और वाणी से बिजारे[2] जैसी ध्वनि इस प्रकार करने में मनोधर्म प्रबल होता है जिससे मन से भी लीला हुई। पूर्वार्द्ध में स्वतः की हुई तीन प्रकार की लीलाएँ कहकर उत्तरार्द्ध में अनुकरण से जो आपने लीलाएँ की उनका वर्णन करते हैं। मण्डूक[3] तथा मयूर आदि जन्तुओं के रूप बनकर उनके साथ मिलके वैसी ही बोली बोल कर उनको भी भ्रम में डालते थे वे भी समझ नहीं सकते थे कि ये बनावटी मेंढ़क वा मयूरादि हैं। इस प्रकार की बहुत लीलाएँ करते थे। ये लीलाएँ अपना ऐश्वर्य प्रकट करने के लिए की थी ऐसी शङ्का हो तो उसको मिटाने के लिये श्लोक में "प्राकृतौ" शब्द दिया है जिसका भाव यह है कि ये लीलाएँ प्राकृतो[4] के समान प्राकृत साधनों से ही करके उनका अनुकरण[5] किया था। भगवान् ने ये लीलाएँ सब प्रकार के बालकों के दोष* दूर करने, मनोरञ्जन करने तथा निरोध करने के लिए की हैं। जीव दो $ प्रकार के थे इसलिये दोनों † ने ऐसी लीलाएँ की ॥ २९ ॥

आभास—एवं भगवतो लीलामुक्त्वा पाल्यानां वत्सानां दोषरूपं वत्सासुरं मारितवानित्युपाख्यानमारभते कदाचिदितिषड्भिः।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् ने जो लीलाएँ की उनका वर्णन कर अब बछड़ों के दोष रूप वत्सासुर के वध का चरित्र छ श्लोकों से वर्णन करते हैं।

---

* टिप्पणी में श्रीप्रभुचरण कहते हैं कि—गोपों में यह दोष था कि वे भगवान् को अलौकिक समझते थे लीला के समय यों समझना दोष है इस दोष को निवृत्त करने के लिए ही परमात्मा (भगवान्) ने प्राकृत की तरह प्राकृत साधनों से लीलाकर गोपों का यह दोष मिटा दिया।

$ लेखकार कहते हैं कि एक प्रकार के जीव जो श्रीकृष्ण और बलरामजी दोनों को समान समझते थे वे प्रमाण में निष्ठावाले साधारण जीव हैं। दूसरे प्रकार के जीव जो केवल श्रीकृष्ण में ही निष्ठावाले थे, वे असाधारण जीव है।

† प्रकाश में श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि 'दोनों ने' बलराम और भगवान् 'श्रीकृष्ण ने' इस प्रकार से सब लीलाएँ की।

१—शरीर। २—सांड, बैल। ३—मेंडक। ४—साधारण, स्वाभाविक। ५—नकल।

श्लोक—**कदाचिद् यमुनातीरे वत्सांश्चारयतोः स्वकैः ।**
वयस्यैः कृष्णबलयोर्जिघांसुर्दैत्य आगमत् ॥ ३० ॥

श्लोकार्थ—किसी समय यमुनाजी के तटपर अपने समानवय वाले साथियों के साथ बछड़े चराने वाले राम और कृष्ण को मारने की इच्छा वाला एक दैत्य अचानक आ गया ।

सुबोधिनी—यदा वत्सानां निरीधो भगवता विचारितः स एव कालः, **यमुनातीरे वत्सांश्चारयतोस्तयोः** सतोर्दैत्य आगमदितिसम्बन्धः, प्राकृता एव हि सदोषांश्चारयन्ति निरोधार्थं प्रवृत्तस्तु निर्दोषानेव पालयतीतिज्ञापनार्थं तेषां वत्सानां मिलितानां योयमासुरो भावः स एकीभूतो वत्सासुर इति तद्वधो निरूप्यते, **यमुनातीर** इति, तेषां शुद्धत्वे जलं हेतुः, दैत्यागमने तु यमभगिनीत्वं हेतुरिति, **स्वकैर्वयस्यैः** सहेति, येन्तःस्थिता बालास्ते निष्कासिता अत एव भगवद्भावमापन्नास्ते हि सर्वथा समानवयसो भवन्ति, ततो भक्तकालक्रोडीकृताः सख्ययोग्या भवन्तीति **कृष्णबलयोश्चारयतोः** सतोरितिपूर्वमिव सम्बन्धः, **जिघांसुर्घातक** क्रूरो **दैत्यः** पाल्यमानदोषरूपत्वादनामा, **आगमत्** क्रीडास्थाने समागतः ॥ ३० ॥

व्याख्यार्थ—वह दैत्य उस वक्त आया जिस समय भगवान् ने बछड़ों के निरोध करने का विचार किया था । जब यमुनाजी के तट पर दोनों भ्राता बछड़ों को चरा रहे थे उस समय वह दैत्य आया इस प्रकार अन्वय है । प्राकृत पुरुष ही दोषवाले बछड़ों को चराते हैं जो भगवान् निरोध करने के लिए प्रकट हुए हैं वे सदोष[1] बछड़ों को कैसे चराएँगे ? इस शङ्का को मिटाने के लिए ही कहते हैं कि सब बछड़ों का सम्मिलित जो आसुर भाव था वह वत्सासुर के रूप में वहाँ आया था इसलिए भगवान् ने उसका वधकर बछड़ों को प्रथम निर्दोष बनाने कि लीला की है। बछड़े तो यमुनाजल पान करने के कारण शुद्ध थे । दैत्य वहाँ क्यों आया ? उसका कारण यमुनाजी यमकी बहिन है* । भगवान् जिन समानवय वालों के साथ क्रीड़ा करते थे वे कौन थे ? आचार्यश्री उसका स्पष्टीकरण करते हैं कि समान वय वाले वयस्य वे थे जिनको बालक भगवान् ने पहले (पूतना का स्तन पान करते समय) अपने अन्दर स्थापित किए थे उनको बाहिर प्रकट कर खेलते थे अन्तः स्थित होने से वे भगवद्भाव को प्राप्त हुए थे । जिससे भगवान् के समवयस्क होने से मैत्री के योग्य भी थे । इसलिए श्लोक में केवल 'वयस्या' (मित्र) न कहकर 'स्वकैः' (अपने) कहा । क्योंकि 'अन्तःस्थ' (हृदय में रहने वाले) ही अपने कहे जाते हैं । 'जिघांसु' कहने से बताया है कि वह दैत्य, घातक और क्रूर था । उसका नाम इसलिए नहीं दिया है कि वह पालने योग्य बछड़ों के दोषों का रूप था । आया अर्थात् खेल के स्थान पर आएगा ॥ ३० ॥

---

* यमुनाजी के तीर पर क्रीड़ा हो रही थी वहाँ दैत्य आया यमुनाजी यम की बहिन हैं उसका आश्रय जो करता है उसको यमयातना भोगनी नहीं पड़ती है उसके सर्वदोष दूर हो जाते हैं मुकुन्द भगवान् में रति होती है । यहाँ आने से इसकी भी ऐसी गति होनी है । इसलिए यहां आया ।—अनुवादक

१—दोष वाले ।

आभास—तस्य ग्रहणमाह तं वत्सरूपिणमिति ।

आभासार्थ—उस (वत्सासुर) को भगवान् ने पहचान कर पकड़ लिया उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**तं वत्सरूपिणं वीक्ष्य वत्सयूथगतं हरिः ।**
दर्शयन् बलदेवाय शनैर्मुग्ध इवासदत् ॥ ३१ ॥

श्लोकार्थ—बछड़े के रूपवाले उसको बछड़े के टोले में मिले हुए देख, बलरामजी को उसे दिखाकर भगवान् ने अनजान के समान बन धीरे धीरे वहाँ जाकर उसको पकड़ लिया ।

सुबोधिनी—स प्रसिद्धो दोषात्मा वत्सस्येव रूपमस्यास्तीति **वत्सरूपी** तादृशोपि यदि पृथक् तिष्ठेत् तदा केनचिज् ज्ञायेतापि परं **वत्सयूथगते** वत्ससमूहे वत्समानाकृतिरूपो भूत्वा प्रविष्टः, मारणं तु तेषामुद्धारार्थं यतोयं सर्वदुःखहर्ता, **बलभद्रादेरप्यन्यधर्मसम्बन्धाद् वाच्यतानिराकरणाय बलदेवाय** प्रदर्शितवानयमसुरो वत्स इति प्रदर्शितत्वादेव दैत्यस्वरूपमाविश्चकार, नो चेद्वाच्यतां वा सम्पादयेत्, तथाभावे **बलभद्रेणाङ्गीकृते** शनैर्यथा भगवत्कृत्या दैत्यत्वोद्बोधो न भवति तथा **मुग्ध इवाजानन्निव** वत्सान्तरं गृह्णन् क्रीडार्थमयमपि गृहीतः, तदाह **मुग्ध इवासददिति**, अवसादं प्रापितवानित्यर्थः, ग्रहणमात्रेणैव निष्पीडित एवावसन्नो जातो विशीर्णो वा गतिसाम्याद् धृतो वा, सम्यग्ग्रहणपर्यन्तमज्ञानाय मुग्धभावः ॥ ३१ ॥

व्याख्यार्थ—प्रसिद्ध दोष* रूप वह असुर बछड़े का रूप धारण कर बछड़ों के यूथ (टोले) में मिल गया था । यदि वह पृथक[1] खड़ा होता तो उसको कोई भी पहचान सकता था किन्तु बछड़ों के समूह में वत्स रूप होकर मिल जाने से पहचानना अशक्य[2] था । भगवान् को तो उसके उद्धार के लिए उसको मारना था क्योंकि यह भगवान् सर्व के दुःखों का हरण करने वाले हैं । भगवान् ने बलदेवजी को दिखा दिया कि यह बछड़ा असुर‡ है । यदि इस प्रकार कहकर न दिखाते तो निन्दा होती कि कृष्ण भी इसको पहचान न सके और बछड़े को मार दिया इस निन्दा के निवारण के लिए बलराम जी को पहचान करा दी क्या बलदेवजी उसको न पहचान सके ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि उस समय बलदेवजी को अन्य धर्म† से सम्बन्ध था अतः उन्होंने

---

* 'कृष्णोपनिषद' में लिखा है कि लोभादिदोष असुर बन के आए हैं ? अतः यह असुर दोष रूप है । —'योजना' ।

‡ बलदेवजी वेद रूप है इसलिए उसकी सम्मति लेने के लिए उनको दिखाया । —'योजना' ।

† 'अन्यधर्म' अर्थात् 'प्राकृत धर्म' । —'प्रकाश'

१—अकेला । २—कठिन

पहचाना नहीं। जिस समय भगवान् ने बलरामजी को कहा कि यह वत्स असुर है उस समय भगवान् के सत्व भाव उदय से असुर ने अपना असुरत्व प्रकट कर दिखाया। यदि भगवान् बलदेव को यों न दिखाते तो वह अदृश्य हो जाता। भगवान् के दिखाने से बलदेवजी ने उसके असुरत्व को जान लिया। भगवान् उसको पकड़ने के लिए धीरे धीरे इसलिये गए कि वह न जान सके कि मेरे पकड़ने के लिए आ रहे हैं यदि जान जाएगा तो वह अपना असुरपना बाहिर भी प्रकट कर देगा। अतः धीरे धीरे तथा मुग्ध भाव से जा रहे थे जिससे वह समझ जाय कि किसी दूसरे को पकड़ने को जा रहे हैं। भगवान् ने अपना मुग्धभाव प्रकट करते हुए पहले किसी दूसरे वत्स को क्रीड़ा के लिए पकड़ते हुए इसको भी पकड़ लिया। पकड़ते ही वह शक्ति हीन वा क्षीण हो गया। भगवान् ने जिस गति से दौड़कर दूसरे को पकड़ा था उसी प्रकार दौड़कर इसको भी पकड़ लिया पूर्ण रीति से पकड़ लेने तक इस (वत्सासुर) को अज्ञान में रखने के लिए भगवान् ने मुग्ध भाव प्रकट किया था ॥३१॥

आभास---ततो गृहीत्वा मारितवानित्याह गृहीत्वेति।

आभासार्थ—पकड़ने के अनन्तर भगवान् ने उसको मार डाला यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक---**गृहीत्वापरपादाभ्यां सह लाङ्गूलमच्युतः।**
भ्रामयित्वा कपित्थाग्रे प्राहिणोद् गतजीवितम् ॥ ३२ ॥

श्लोकार्थ---भगवान् ने पूँछ के साथ पीछे के पादों को पकड़ कर इस प्रकार घुमाया जिससे उसके प्राण वहाँ ही निकल गए अनन्तर कैथ वृक्ष के पास फेंक दिया।

सुबोधिनी--महाबलत्वेन पुच्छभ्रामणादिनापराधकरणाभावाय **लाङ्गूलेन सहापरपादाभ्यामपरपादौ** गृहीत्वा, स्वस्य मारणादिशंका तु नास्त्येव, यतोमच्युतः, **कपित्थाग्रे भ्रामयित्वा** कपित्थफलपातनार्थं **प्राहिणोत्**, एका क्रिया भगवतोनेककृियां सम्पादयतीति कपित्थपातनार्थं वृक्षोपरि पातनमुक्त्यर्थं च न प्राणापगमो भगवद्धस्तसम्बन्धे नापि भूमौ नापि वृक्षेन्तरिक्ष एव प्राणापगमः, अत एव **गतजीवितमन्तरिक्ष एव गतप्राणं प्राहिणोत्** ॥ ३२ ॥

व्याख्यार्थ--वह असुर महा बलवान् था भगवान् केवल पूंछ पकड़ कर फिराते थे तो कदाचित् पैरों से भगवान् का अपराध करता। यह अपराध इससे न हो, इसलिये भगवान् ने पूँछ सहित इसके पीछे के पाँव भी पकड़ लिये। भगवान् के मन में यह तो शंका थी ही नहीं कि यह असुर मुझे मारेगा क्योंकि भगवान् 'अच्युत[1]' हैं। धुमाकर कैथ वृक्ष पर इसलिये फेंका कि पेड से फल

१—अमर

गिरे। भगवान् की एक क्रिया अनेक कार्यों को सिद्ध करती है। कैथ के फल गिराने और उसकी मुक्ति न हो तदर्थ उस पेड़ पर इसको फेंका था भगवान् के हाथ का सम्बन्ध होने से उसके प्राण पृथ्वी पर न गिरने पर न गए और न वृक्ष पर गिरने के समय गए किन्तु अन्तरिक्ष में ही प्राण चले गये थे। इसलिये श्लोक में 'गतजीवितम्‡ प्राहिणोत्' कहा है जिसका आशय है प्राण अन्तरिक्ष[1] में जाने के अनन्तर उसको फेंक दिया ॥ ३२ ॥

आभास—बालकैस्तु भ्रामणे प्रहरणे च तच्छरीरं न दृष्टमेव, पश्चात् सफलं दृष्टमित्याह सकपित्थैरिति।

आभासार्थ—भगवान् ने वत्सासुर को जिस समय घुमाया और कैथ के पेड़ पर फेंका उस समय बालकों ने उसको देखा ही नहीं जब वह कैथ के फलों के साथ गिरा तब उसको देखा। इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक- **--स कपित्थैर्महाकायः पात्यमानैः पपात ह ।**
तं वीक्ष्य विस्मिता बालाः शशंसुः साधुसाध्विति ॥ ३३ ॥

श्लोकार्थ--गिरते हुए कैथों के साथ वह महाकाय दैत्य भी गिरा उसको देख कर आश्चर्य में पड़े हुए बालक 'वाह वाह' कह कर प्रशंसा करने लगे।

सुबोधिनी--**कपित्थैः** फलैः सह तेनैव **पात्यमानैः** स **महाकायः पपात ह** बालैर्ज्ञातं स्थूलं कपित्थफलं शाखा वा पततीति तस्य पातः स्थूलता चात्याश्चर्यमिति हेत्याह, पतितं **तं वीक्ष्य बालाश्च विस्मिता** जाताः कुतोयं दैत्यः; कथं पतित इति, भगवत्पातितं ज्ञात्वा **साधुसाध्विति शशंसुः**, ज्ञानं धारणं प्रक्षेपो मारणं चेति प्रत्येकं **प्रशंसेति** ज्ञापयितुं वीप्साश्चर्यभावज्ञापकं वा, अनेन लोकेवाच्यता परिहृता ॥ ३३ ॥

व्याख्यार्थ—कैथ के फलों को गिराता हुवा वह महाकाय (वत्सासुर) भी उनके (फलों के) साथ पृथ्वी पर गिरा। श्लोक में आए हुए 'ह' कहने का भावार्थ बताते हैं कि बालकों ने समझा कि स्थूल कैथ के फल वा बड़ी शाखा गिरती है किन्तु उनके साथ वत्सासुर का गिरना एवं उसकी स्थूलता देखकर अचम्भे में पड़ गये और कहने लगे कि अत्यन्त आश्चर्य है यह इतना बड़ा दैत्य कहां से आया और कैसे गिरा ? विचारान्तर जाने गए कि भगवान् ने गिराया है तब प्रशंसा करते हुए बहुत अच्छा, बहुत अच्छा शब्द की ध्वनि करने लगे। भगवान् ने इसको पहचाना, पकड़ा,

---

‡ 'गतजीवितम्' यह क्रिया का विशेषण है। इसलिये इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है।—**'प्रकाश'**

१—बीच में।

फेंका और मारा प्रत्येक क्रिया की प्रशंसा करने लगे इसलिये 'बहुत अच्छा बहुत अच्छा' दो बार कहें अथवा बालकों को अपने आश्चर्य प्रकट करने की इच्छा हुई इसलिये 'बहुत अच्छा' दो बार कहें। इससे यह भी बता दिया कि वत्सासुर हनन[1] से लोक में निन्दा नहीं हुई है। किन्तु यश ही हुआ है ॥ ३३ ॥

आभास--लोकान्तरेप्यवाच्यपरिहाराय देवानामभिनन्दनमाह देवाश्चेति ।

आभासार्थ—पर इस लोक में भी निन्दा न होकर यश हुआ है जिसकी साक्षी देते हैं कि देवताओं ने भी प्रसन्न होकर अभिनन्दन[2] प्रकट किया। उसका वर्णन नीचे के ३४वें श्लोक में करते हैं।

श्लोक--**देवाश्च परिसन्तुष्टा बभूवुः पुष्पवर्षिणः ।**
वत्सासुरं हतं श्रुत्वा व्रजे गोप्यश्च विस्मिताः ॥ ३४ ॥

श्लोकार्थ--देव भी प्रसन्न हो कर फूल बरसाने लगे और व्रज में वत्सासुर का मरना सुनकर गोपियाँ विस्मित हो गईं।

सुबोधिनी—देवाश्च साधुसाध्विति शशंसुःपरिसन्तुष्टाःपरितः सन्तुष्टाश्च जाताः दैत्यवधाद, वत्सेषु देवानां दैत्यानां च भोगः, इदानीं देवानामेवेति परितस्तोषः, पुष्पवर्षिणश्च बभूवुः, तेषां वाङ्मनःकायव्यापारा निरूपिताः, अर्धमत्र पतितं, वत्सासुरं हतं श्रुत्वा व्रजे गोप्यश्च विस्मिता इत्येवमर्थम् ॥ ३४ ॥

व्याख्यार्थ—दैत्यवध से देवगण भी 'बहुत अच्छा बहुत अच्छा' कहकर प्रशंसा करने लगे और सर्व प्रकार से संतुष्ट[3] हुए क्योंकि वत्सों में देव और दैत्यों को भोग करने का अधिकार है अर्थात् दोनों उनका भोग कर सकते हैं। अब दैत्य के मर जाने से केवल देवगण ही वत्सों का भोग[4] ले सकेंगे अतः देव सब प्रकार से प्रसन्न होकर पुष्प वर्षा करने लगे इस प्रकार की क्रिया (कार्य करने) से देवों ने वाणी से प्रशंसा की मन से संतोष प्रकट किया और काया से पुष्प वर्षा की है* ॥ ३४ ॥

आभास----एवं वत्सासुरे हते पुनर्वत्सान्तरशङ्क्या वत्सचारणं बाला भगवान् वा न कृतवन्त इत्याशंकापरिहारार्थमाह वत्सपालकौ भूत्वेति ।

---

* इस ३४वें श्लोक के पूर्वार्द्ध पर आचार्यश्री ने टीका की है और उत्तरार्द्ध के लिये लिखा है कि यह आधा श्लोक मूल भागवत् में नहीं है। अतः केवल उसका शब्दार्थ दिया है वत्सासुर मारा गया यह सुनकर व्रज में गोपीजन आश्चर्य में पड़ गईं।—अनुवादक

१—मारने से। २—हर्ष, आनन्द। ३—प्रसन्न। ४—सुख।

आभासार्थ—यह वत्सासुर तो मरा किन्तु पुनः अचानक दूसरा कोई असुर आ जाएगा तो हम वत्स चराने के लिये कैसे जावें ? इसी प्रकार का भय गोपों को अथवा भगवान् को न हुवा इसलिये वे बछड़े चराने गये उसका वर्णन नीचे के श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तौ वत्सपालकौ भूत्वा सर्वलोकैकपालकौ ।
सप्रातराशौ गोवत्सांश्चारयन्तौ विचेरतुः ॥ ३५ ॥

श्लोकार्थ—सकल लोकों के, अकेले मुख्यपालक, वे दोनों भ्राता, वत्स पालक बनकर प्रातः काल में (जिस समय बछड़े माता के दूध को पीते थे उस समय) भोजन करके, बछड़ों को चराते फिरते थे ।

सुबोधिनी— सर्वलोकैकपालकावपि वत्सपालकौ भूत्वा विचेरतुरितिसम्बन्धः, कदाचिन्न वत्सचारणं किन्तु तद्वृत्तिमानिव निरन्तरं चालयति, अतो वत्सपालका इत्येव लोके प्रसिद्धिः, सर्वलोकैकपालकाविति च, एकपदमप्राधान्यपालकव्यावृत्त्यर्थं, भूत्वेतिमध्ये निवेश उभयप्रसिद्धिख्यापकः, वेदाल्लोकप्रसिद्धिर्दुर्बलेति, वत्सपालकत्वं नोक्तं भविष्यतीत्याशङ्क्य प्रथमं निर्दिष्टं, सन्ध्यापर्यन्तं वत्सचारणं कर्तव्यं, अतो वत्सानां स्तनपानसमय एव प्रातरशनं कृत्वा सप्रातराशौ गवां वत्सान् धर्मोपयोगिनश्चारयन्तौ स्वयमपि विचेरतुः ॥ ३५ ॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि वे दोनों भ्राता सकल लोकों के अकले ही पालक हैं तो भी अब वत्सपाल बनकर फिरने लगे । कभी कभी बछड़े नहीं चराते थे किन्तु जैसे ग्वाले जो गौओं से वृत्ति[1] करने वाले हैं उनके समान सतत्त गौओं को चराने लगे । जिससे आप अब 'वत्सपाल' (गोप व ग्वाल) नाम से प्रसिद्ध हुए, सर्व लोकों के अकेले पालक की तो पूर्व से प्रसिद्धि थी । एक शब्द से यह बताया है कि आप प्रधान (मुख्य) पालक हैं। श्लोक में 'भूत्वा' पद 'वत्सपालकौ' और 'सर्वलोकैकपालकौ' दोनों पदों के बीच में देने से यह बताया है आप 'वत्सपाल' और 'लोकपाल' दोनों नामों से प्रसिद्ध ही हैं । वेद से लोक की प्रसिद्धि दुर्बल है । श्लोक में 'वत्सपाल' पद इसलिये पहले दिया है कि कदाचित् 'वत्सपाल' यह नाम प्रसिद्ध न हो तो पहले देकर इस नाम की प्रसिद्धि की जाय । प्रातः काल बछड़ों के साथ (जिस समय वे गाय के थन से दूध पीते थे उस समय) भोजन इसलिये कर आते थे कि सन्ध्या तक बछड़ों के साथ उनको चराते हुए फिरना हैं । कारण कि गौओं के बछड़े धर्म के उपयोग में आते हैं । अतः बछड़ो कों चराते हुए आप भी सन्ध्या तक फिरते रहते थे ॥ ३५ ॥

आभास—एवं वत्सानां दोषं परिहृत्य पालानामपि दोषं परिहर्तुं दम्भात्मकं बकं मारितवानित्युपाख्यानमारभते स्वं स्वमितिनवभिः ।

१—आजीविका ।

आभासार्थ—इस प्रकार बछड़ों का दोष निकालकर, अब गोपों के दोषों का परिहार[1] करने के लिये दम्भरूप बक को भगवान् ने मारा। इसका वर्णन निम्न श्लोक से नौ श्लोकों में करते हैं।

श्लोक—**स्वं स्वं वत्सकुलं सर्वे पाययिष्यन्त एकदा।**
गत्वा जलाशयाभ्यासं पाययित्वा पपुर्जलम् ॥ ३६ ॥

श्लोकार्थ—एक दिन सब गोप बालक अपने अपने बछड़ों के समूह को इकट्ठा कर, पानी पिलाने के लिए, जलाशय के पास ले गए बछड़ों को जल पिलाके आपने भी पीया।

सुबोधिनी—प्रथमं बकदर्शनार्थं यमुनायां चारितान् वत्साञ् जलं **पाययित्वा** स्वयमपि जलं पीतवन्त इत्याह **स्वं स्वमिति, वत्सकुलं** वत्ससमूहं सर्वेषामेव बहवो वत्सा इति सर्वेषां गमनं, अन्यथा सर्वेषां दर्शनं न स्यात् तुल्योयं बकः सर्वेषामिति सर्वेषां समानक्रिया, **एकदेति** यदा बालका दोषान् मोचनीया इति भगवदिच्छा तदा, **जलसमीपं गत्वा वत्सकुलं जलं पाययित्वा स्वयं जलं पपुः ॥ ३६ ॥**

कारिका—**यमुनाजलपानेन दोषः सर्वो विनिर्गतः।**
एकीभूतो बकः प्रोक्तो जलपानात् स दृश्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ— यमुना के जल पान से सम्पूर्ण दोष बाहिर निकल वह दोष बकरूप में इकट्ठा हो गया। जल के पान से वह देखने में आया।

कारिका—**अतः पानं दर्शनं च तेनोपद्रव एव च।**
ततः सर्वापराधश्च तद्वधोपाय एव च ॥ २ ॥
तद्वधश्च स्तुतिर्देवैर्गोपानां तोष एव च।
तथैव गोकुलस्थानां नव प्राणा हि शोधिताः ॥ ३ ॥

कारिकार्थ—इससे पीना, दर्शन, उसका किया हुआ उपद्रव, सर्व का अपराध, उसके मारने का उपाय, उसका वध, स्तुति, संतोष, गोकुलवासियों का संतोष, इस प्रकार की लीला से नौ प्राण शुद्ध किये हैं।

व्याख्या—प्रथम कारिका में गोपों ने बछड़ों को जल पिलाकर अनन्तर स्वयं ने भी यमुनाजी

१—त्याग।

का जल पीया उस यमुना जलपान से गोपों में जो दोष* थे वे बाहिर निकल गए और वे निर्दोष बन गए। उन दोषों ने मिलकर बक का रूप धारण कर लिया। उसको गोपों ने देखा और पहचान लिया कि यह बक हमारे दोषों का रूप है। यमुना जल के पान करने से ही उनको पहचान सके थे ॥ १ ॥

द्वितीय-तृतीय कारिका में ३६ श्लोक से ४४ वे श्लोक तक के प्रत्येक श्लोक में वर्णन की हुई लीला को कहा है जैसे की ३६ वे श्लोक में यमुना जल पान, ३७ वें श्लोक में, अपने दोषों का रूप यह बक है इसका देखना (समझना) ३८ वें श्लोक में बक का किया हुआ उपद्रव, ३९ वें श्लोक में सब का बक ने जो अपराध किए, ४० वें श्लोक में बक के वध का उपाय, ४१ वें श्लोक में उसका वध, ४२ वें श्लोक में, देवताओं ने भगवान् की जो स्तुति की हैं, ४३ वें श्लोक में गोपों का सन्तोष, ४४ वें श्लोक में गोकुलवासियों का सन्तोष। इन नौ लीलाओं से गोकुल वासी गोपों के नौ प्राणों की शुद्धि की हुई है ॥ २-३ ॥

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में कहा हैं कि गोपों को बक देखने में आवे, इसलिये प्रथम, यमुना के पास चरते हुए बछड़ों को यमुना जल पिलाकर आपने भी पीया। 'वत्सकुलं' पद का भावार्थ कहते हैं कि प्रत्येक गोप के पास बहुत वत्स थे इसलिये सब गोप जल पिलाने के लिये गए। यदि सब न जाते तो सबों को बक देखने में न आता केवल जाने वालों को ही देखने में आता। यह बक सबों के लिए समान था, इसलिये सबकी क्रिया समान होनी चाहिये अतः सब ने जलपान किया। किसी समय अर्थात् जब भगवान् की इच्छा हुई कि बालकों के दोष निवृत्त करने चाहिये तब जल के पास जाकर बछड़ों के समूहों को जल पिलाकर आप सबने भी जल पीया ॥ ३६ ॥

आभास---ततो दोषात्मकं बकं दृष्टवन्त इत्याह ते तत्रेति ।

आभासार्थ—बछड़ों को जल पिलाया, आपने भी पीया तदन्तर दोषरूप बक को देखा। उसका वर्णन नीचे के श्लोक में करते हैं।

श्लोक----**ते तत्र ददृशुर्बाला महासत्त्वमवस्थितम् ।**
तत्रसुर्वज्रनिर्भिन्नं गिरेः शृङ्गमिव च्युतम् ॥ ३७ ॥

श्लोकार्थ—वहाँ उन बालकों ने व्रज से टूट कर गिरे हुए पर्वत के शिखर के समान बैठा हुआ एक बड़ा जीव देखा और घबराए।

---

* दम्भरूप दोष बाहिर निकला इससे वे गोप निर्दोष हो गए। ये गोप जो बाहर स्थित थे वे पहले सदोष थे अब निर्दोष हुए। शेष बालक जो भगवान् ने अपने में से बाहर निकाले थे वे पहले ही निर्दोष थे।

सुबोधिनी—ते सर्व एव तत्र जलनिकटे बाला भीरवो महासत्त्वं भयानकमवस्थितं निकटे मारकत्वेन स्थितं प्रथमतो ददृशुः पश्चात् तत्रसुः, तथापि भगवत्कृपया ते तं हतमेव ज्ञातवन्तः, अन्यथा महाभयेन प्राणवियोगो भवेत्, तदाह वज्रेण निर्भिन्नस्य गिरेःशृङ्गं च्युतमिव तं ददृशुः, कंसो हि जगदुपद्रवकर्ता भगवता वज्रेण हत एव, तस्यायं शृङ्गस्थानीयः सोप्यत्र च्युतः, नास्य व्याधुत्यागमनशङ्क्येत्यतः क्रीडार्थमेव विनियोगो न तु पीडार्थं, केवलं बालानां दर्शनमात्रेणैव भयमिति ॥ ३७ ॥

व्याख्यार्थ—उन सब गोपों ने जल के निकट एक भयानक प्राणी को देखा जो मारने के लिये निकट खड़ा था, उसको देखने के अनन्तर डर गये। क्योंकि वे (गोप) बालक थे। डरे, किन्तु भगवान् की कृपा से उन्होंने उसको मरा हुआ समझा। यदि मरा हुआ न समझते तो इस महाभय से उनके प्राण-पक्षी उड़ जाते। इसलिये श्लोक में कहा हैं कि उन्होंने व्रज से टूट कर गिरे हुए पर्वत के शिखर के समान इसको देखा जिसका आशय बताया कि गोपों ने इसको मरा हुआ समझा। जगत् को पीड़ा करने वाले कंस को भगवान् ने व्रज से मारा‡ ही है। उस (कंस) का यह (असुर) शृङ्गरूप है वह भी यहाँ आ पड़ा है। शृङ्ग शब्द का भाव प्रकट करते हैं कि वह यहाँ से भागकर जाएगा। ऐसी शंका ही नहीं करनी चाहिये अर्थात् वह जाएगा नहीं, कारण कि इसका यहाँ पड़ना, क्रीड़ा के लिये ही है, न कि पीड़ा देने के लिये हुआ है। गोप, बालक होने से उसको देख कर केवल भय को प्राप्त हुए हैं ॥ ३७ ॥

आभास---ते सर्वे बाला भगवता निष्प्र पञ्चीकृता इति तेषां दोषोयं भगवन्तमपकृतवानित्याह स वै बक इति।

आभासार्थ—उन सब बालकों का भगवान् ने प्रपञ्च छुड़ा दिया था अर्थात् उन को निर्दोष बना दिया था। उन (बालकों) का यह दोष बक बनकर भगवान् का अपकार[1] करने लगा। इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**स वै बको नाम महानसुरो बकरूपधृत्।**
आगत्य तरसा कृष्णं तीक्ष्णतुण्डोग्रसद् बली ॥ ३८ ॥

श्लोकार्थ—वह बक रूप धारण करने वाला, महान् असुर, नाम से 'बकासुर' दैत्य था। तीखी चोंचवाला यह बलवान् असुर शीघ्र आकर श्रीकृष्ण को निगल गया।

---

‡ व्रज से कंस को मारा ही है का स्पष्टीकरण करते हैं कि भगवान् ने कंस को आकाशवाणी रूप व्रज से पहले ही मार दिया है। —'प्रकाश'

१—अनिष्ट 'हानि'।

सुबोधिनी – नामप्रसिद्ध्यैव तस्य दोषः स्पष्टः, **महानसुर** इति वत्सापेक्षयापि महान्, भगवदीयानां दोषत्वात्, **बकरूपमेव** च बिभर्ति तस्योपास्या देवता सैवेति स्वरूपतः प्रसिद्धा च, देवानुग्रहाच्च महान्, अत एव **तरसा** शीघ्रमागत्य **कृष्णं** सदानन्दं लोभानृतरूपौ **तुण्डौ** यस्य तादृशो **बली** क्रियाशक्तिप्रधानो ग्रासं कृतवान्, आनन्दो हि लोभेन सच् चानृतेन ग्रस्यत एव, 'तं यथायथोपासत' इतिश्रुतेः, भगवतैव भगवान् वशीकृतः गोपानां भगवत्प्रेमज्ञापनार्थमेव तथा कृत इति ॥ ३८ ॥

व्याख्यार्थ––'बक' नामकी प्रसिद्धि से ही उसका दोष (रूप) स्पष्ट समझने में आ जाता है। यह असुर महान् है महान् शब्द का आशय है कि यह वत्सासुर से भी बड़ा दैत्य है। क्योंकि वत्सासुर तो बछड़ों का दोषरूप था यह भगवदीय गोपों का दोषरूप है इस कारण से ही इसने बकरूप को ग्रहण किया है। इन (बकासुरों) की उपास्य देवता भी बकरूपा मायादेवी भगवान् का रूप प्रसिद्ध ही हैं। उस अपने देव (बकरूपिणी मायादेवी) के अनुग्रह से यह महान् है। इस कारण से ही लोभ और अनृत[1] रूप चोंचवाले और मुख्य क्रिया शक्तिवाले उस (दोषरूप महान् दैत्य बक ने शीघ्र आकर सदानन्द (श्रीकृष्ण) को निगल लिया। लोभ से* आनन्द और अनृत से सत्य निगला जाता है। 'तं यथा यथोपासते' इस श्रुति के अनुसार उस (भगवान्) की जिस भाव से जीव उपासना करता है उस भाव के अनुसार भगवान् भी उस (भगवान्) के वश में होते हैं। तात्पर्य यह है कि भगवान् लीलार्थ—अपने ही स्वरूप के वश होते हैं भगवान् ने गोपों को प्रेम के स्वरूप का ज्ञान कराने के लिये यह लीला की है ॥ ३८ ॥

आभास---ततस्तेषां प्रेमाणमाह कृष्णमिति ।

आभासार्थ––इसके अनन्तर नीचे के श्लोक में गोपों का भगवान् में जो प्रेम है उसका वर्णन करते हैं।

श्लोक––**कृष्णं महाबकग्रस्तं दृष्ट्वा रामादयोर्भकाः ।**
बभूवुरिन्द्रियाणीव विना प्राणैर्विचेतसः ॥ ३९ ॥

श्लोकार्थ---बलराम आदि सब बालक श्रीकृष्ण के बकासुर से निगले जाने को देख कर प्राणरहित इन्द्रियों के समान अचेत हो गए।

सुबोधिनी—**महाबक** उपास्यस्तेन कवलीकृतं दृष्ट्वा **रामादयोपि विचेतसो** जाताः, तत्प्राणत्वात्, तेषां क्रियायां ज्ञाने वा सर्वदा सामर्थ्यं गतमितिज्ञापनार्थं दृष्टान्तमाह **विनाप्राणैरिन्द्रियाणीवेति**, एकस्तु न लोके दृष्टान्त इति ज्ञापयितुं **प्राणैरिति**बहुवचनम् ॥३९ ॥

---

* लेखकार गो० श्रीवल्लभलालजी कहते हैं कि जहाँ लोभ होता है वहाँ दुःख उत्पन्न होता है दुःख होते ही सुख तिरोहित हो जाता है।

१—झूठ।

व्याख्यार्थ--बकासुर के उपास्य महाबक से श्रीकृष्ण को निगलते देखकर राम आदि सब अचेत हो गये। क्योंकि श्रीकृष्ण ही इनके प्राण थे। उस (प्राणरूप श्रीकृष्ण) के जाने से इनकी क्रिया और ज्ञान की शक्ति चली गई। कैसे चली गई वह दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे प्राणों के जाने से इन्द्रियों की क्रिया और ज्ञान नष्ट हो जाता है। लोक में एक प्राण दृष्टान्त में नहीं कहा जाता है अतः प्राण शब्द बहुवचन में दिया है ॥ ३९ ॥

आभास--लोभानृताभ्यामेव सदानन्दतिरोभाव इति तुण्डदेशादधोगतः सरस्वती-स्थाने वेदानां प्रामाण्यार्थं तालुमूलं ज्वालितवान्, तीक्ष्णद्रव्याणामपि मरिचादिनां दाहकत्वमस्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमग्निज् ज्वालनमुक्तं, तथा दहन्तं त्यक्तवानित्याह तमिति।

आभासार्थ—निगले जाने पर भगवान् उसके कण्ठ (सरस्वती के स्थान) में स्थित हो गए चोंचों के बीच में नहीं ठहरे, कारण कि उसकी चोंच लोभरूप हैं और दूसरी अनृतरूप है इससे भगवान् ने यह बताया कि जहाँ लोभ और अनृत हैं वहाँ से मैं तिरोहित हो जाता हूँ अर्थात् वहाँ नहीं ठहरता हूँ मैं तो वहाँ ठहरता हूँ जहाँ वेद प्रमाण का स्थान है अर्थात् वेदानुकूल आचरण हैं। इसलिये आपने सरस्वती के स्थान कण्ठ में स्थिति की है। उसको जलाने लगे जिसका तात्पर्य था कि बक आपको भीतर न निगल सके और बाहिर उगलदे। मिरच आदि से जलन होती है किन्तु वह जलन सहने जैसी होती है यह जलन असह्य थी इसलिये अग्नि जैसी कहा हैं ऐसी असह्य जलन के कारण बक ने भगवान् को उगल कर बाहिर निकाल दिया। इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक---**तं तालुमूलं प्रदहन्तमग्निवद् गोपालसूनुं पितरं जगद्गुरोः।**
चच्छर्द सद्योतिरुषाक्षतं बकस्तुण्डेन हन्तुं पुनरभ्यपद्यत ॥ ४० ॥

श्लोकार्थ--अग्नि के समान तालु के मूल को जलाने वाले गोपाल (श्रीनन्दरायजी) के पुत्र और ब्रह्मा के पिता को बक ने उगल दिया। उसको बिना घात हुवे (देख) बहुत गुस्से में आकर चोंच से मारने के लिये एकदम पुनः उसके पास आया।

सुबोधिनी—**तालुमूलं** कण्ठस्थानं प्रकर्षो गिलना-सामर्थ्यसम्पादकः नन्वपहतपाप्मा कथं तालूमूलसम्बद्धो जात इत्याह गोपालसूनुमिति, तथाभावं सम्पादयन्नेतदपि कृतवानित्यर्थः, ननूभयमपि किमिति प्रदर्शितवानित्या-शङ्क्याह **पितरं जगद्गुरोरिति**, ब्रह्मणोपि पिता, स हि सर्वानुपदिशति 'तत्त्वमसी'ति तत्रासम्भावनया न कोपि तथात्वं मन्यते तस्यैतन्निदर्शनार्थं भगवता कृतं, अनेनैव महत्त्वमपि सूचितं, कथं मारयिष्यतीतिशङ्का च परिहृता, किञ्च साधारणोपि ब्राह्मणो गरुडेन भक्ष्यमाणो गरु-डस्यापि तालुं ददाह किं पुनर्ब्रह्मणोपि पिता परब्रह्म ? अतश्चच्छर्द बहिर्निष्कासितवान् अन्यथा ज्वलित एव स्यात्, तदि तावदेव कृत्वा गच्छेत् तदा जीवेद् वा, **पुनरिति** रुषा केनाप्यंशेनाक्षतं भगवन्तं **तुण्डेन** सम्पुटितेन **पीडयितुमभ्यपद्यत**, अतिरोषाद् देवता तिरोहिता ॥४०॥

व्याख्यार्थ--तालु का मूल अर्थात् कण्ठ-स्थान। श्लोक में 'दहन्तं' के साथ 'प्र' शब्द दिया है उस 'प्र' के देने का आशय यह है कि इस प्रकार जलाने लगे जिससे वह उस (कृष्ण) को निगल न सका भगवान् (कृष्ण) पापरहित हैं उनका तालु मूल से सम्बन्ध नहीं होना चाहिये वह कैसे हुआ ? इस शङ्का के निवारण के लिये 'गोपाल सूनु' नाम देकर बताया है कि नन्दजी के पुत्र का भाव प्रकट करने के लिए उससे (तालु मूल से) सम्बन्ध भी किया है।

पापरहितपना और तालुमूल से सम्बन्ध ये दोनों एक समय में कैसे दिखाए ? इस शंका के मिटाने के लिये श्लोक में आप (कृष्ण) के लिए 'पितरं जगद्गुरोः' कहा है गोपाल (श्रीनन्दरायजी) का पुत्र साथ में उसी समय ब्रह्मा का पिता भी है वह सबको उपदेश देते हैं कि 'तत्त्वमसि' तूं वह (अक्षर ब्रह्म) है किन्तु यह कहना बन नहीं सकता है इसलिये असम्भावना* समझ कोई इस बात को मानता नहीं है। उसको यह सिखाने के लिये भगवान् ने ये दो ही कार्य साथ में कर दिखाए हैं इससे भगवान् का महत्व भी सूचित होता है और ऐसे महान् असुर को कैसे मार सकेंगे यह शंका भी इससे मिटा दी है और साधारण ब्राह्मण को गरुड़ ने खाया तो उसने भी गरुड़ के तालु को जला दिया तो ब्रह्मा के पिता परब्रह्म ने बक का कंठ जलाया तो इसमें क्या आश्चर्य है ? अतः जलने से बक ने भगवान् को बाहिर निकाल दिया। यदि न निकालता तो जल ही जाता था। बाहिर निकाल कर स्वयं रवाना हो जाता तो बच भी जाता किन्तु क्रोध में आ गया क्योंकि देखा कि कृष्ण को कुछ भी घाव नहीं हुआ है इसलिये बिना घाववाले भगवान् को सम्मिलित (दोनों चोंचो को इकट्ठी कर) चोंच से पीड़ा देने के लिये फिर उन (भगवान्) के पास आ गया। विशेष क्रोध के कारण बक में से बक का देवता निकल के चला गया शेष अकेला बक रह गया ॥४०॥

आभास--स्वसामर्थ्येन चेन् मारयितुं प्रवृत्तस्तदा दूरादेव भगवान् मारितवानित्याह तमापतन्तमिति।

आभासार्थ—देवता के चले जाने पर अकेला स्वयं बक अपनी सामर्थ्य से भगवान् को मारने के लिये आया तब भगवान् ने दूर से ही उसको मार दिया। इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक--तमापतन्तं स निगृह्य तुण्डयोर्दोर्भ्यां बकं कंससखं सतां गतिः।
पश्यत्सु बालेषु ददार लीलया मुदावहो वीरणवद दिवौकसाम् ॥ ४१ ॥

---

* 'तत्त्वमसि' वाक्य में जीव और भगवान् का अभेद बताया है सर्वज्ञ भगवान् के साथ अल्पज्ञ जीव का अभेद में असम्भावना दोष प्रतीत होता है इसलिये इस उपदेश को लोक नहीं मानते हैं इस दोष को मिटाने के लिये भगवान् ने अपने में नन्दपुत्रत्व और ब्रह्मा का पितृत्व दोनों विरुद्ध धर्म दिखाकर जैसे मैं दोनों हूँ उसी प्रकार जीव भी जीव होते हुए ब्रह्म भी है।—'योजना'

प्रभुचरण टिप्पणी में कहते हैं कि जैसे नन्दजी का पुत्र ब्रह्मा के पिता के कारण परब्रह्म ही है वैसे ही प्राकृत संघात होते हुए भी जीव अक्षररूप है, इसको सिखाने के लिये यों किया है।

श्लोकार्थ—सत्पुरुषों के आश्रय और देवों को आनन्द देनेवाले उस (भगवान् श्रीकृष्ण) ने इस आते हुए कंस के मित्र बकासुर की चंचुओं को दोनों हाथों से पकड़ कर बालकों के देखते देखते तूली के समान उसको चीर डाला।

सुबोधिनी—तं बकमासमन्तात् पतन्तं स कृष्णो दुःखदूरीकर्ता निगृह्य धृत्वा निग्रहं कृत्वा तुण्डद्वयं पृथग् धृत्वा ददार विपाटितवान् ननु मारणे को हेतुः ? तत्राह कंससखमिति, अन्यथा कंसो न मारितः स्यादिति, कंसोपि किमिति मारणीय इति चेत् तत्राह सतां गतिरिति, सतां स एव रक्षकः, अन्यथा सद्रक्षा न स्यादिति बालानामेव दोष इति पश्यत्सु बालेषु ददार, केचित् पुनर्बकहन्ता बकादनिर्गतो न भवतीति महादेवादिवरसत्यकरणार्थं तुण्डं प्रविष्ट इत्याहुः, तत् सत्यं चेत् कल्पान्तराभिप्रायं, तस्य विदारणे हस्तयोः प्रयासमाशङ्क्याह लीलयेति, ननूपासकवध उपास्यदेवानां दुःखं स्यादित्याशङ्क्याह दिवौकसां मुदावह इति देवानां तेन सन्तोष एवात एव समागतानां दिवौकसां स्वर्गेत्युक्तमे स्थितियुक्तानां तच्छ-कलद्वयमधोमुखतया स्थापितमतिकोमलमासनमिव जात-मित्याह वीरणवदिति, वीरणं तृणविशेषस्तेनासनं निर्मीयते, अतस्तद्वधे देवानां हितमेव लोभानृताभ्यां सह दम्भे गते भूमौ देवा हविर्भाजो भवन्तीति ॥ ४१ ॥

व्याख्यार्थ—चारों ओर से सरकते हुए आनेवाले उस बक को सबके दुःखों को दूर करने वाले भगवान् कृष्ण ने पकड़ लिया अनन्तर उसकी मिली हुई दोनों चंचुओं को पृथक् पृथक् पकड़ कर चीर डाला। उसको मारने का कारण क्या था ? इस शंका के निवारण के लिये श्लोक में 'कंससखं' बक का विशेषण दिया है। जिसका आशय यह है कि वह (बक) कंस का मित्र था इसको मारे बिना कंस भी नहीं मर सकता था इसलिये इसको मारा। यदि कहो कि कंस को मारने की क्या आवश्यकता थी ? अथवा कौनसा प्रयोजन था ? इस शंका को मिटाने के लिये इस श्लोक में भगवान् कृष्ण का 'संता गतिः' विशेषण दिया है। जिसका तात्पर्य है कि वह भगवान् कृष्ण ही सत्पुरुषों का रक्षक हैं। यदि श्रीकृष्ण कंस को नहीं मारे तो सत्पुरुषों की रक्षा ही न होवे। यह बकासुर बालकों के दोषों का रूप है। इसलिये बालकों के देखते हुए उस (बक को) चीर डाला।

कितने ही कहते हैं कि बक को महादेवजी ने वरदान दिया था कि तुझे वह मार सकेगा, जो तेरे में से बाहिर निकलेगा। इसलिये भगवान् ने इसके भीतर (मुख में) प्रवेश किया मुख में प्रवेश कर बाहिर न निकलते और यों ही मार देते तो महादेवजी का दिया हुआ वर असत्य हो जाता। इस पर आचार्यश्री अपनी सम्मति देते हैं कि यदि यह कथा सत्य भी हो तो भी किसी कल्पान्तर† की होगी।

भगवान् ने हाथों से चोंचों को पकड़ कर उसको चीरा था, इसमें भगवान् को श्रम हुवा होगा ? इस शंका को मिटाने के लिये कहा है कि 'लीलया' भगवान् ने खेल करते हुए चीर डाला,

† भागवत में जिस कल्प की कथा है, उस कल्प की यह कथा नहीं है। क्योंकि भगवान् ने केवल कंठ तक ही प्रवेश किया है। यदि महादेवजी के वर को सत्य करने के लिये प्रवेश किया होता तो उदर तक प्रवेश करते अतः कथा दूसरे किसी कल्प को होगी।—'लेख'

अतः भगवान् को कोई श्रम नहीं हुआ । उपासना करनेवालों की मृत्यु से उसके उपास्य देवों को दुःख हुआ होगा ? इस शंका को मिटाने के लिये श्लोक में 'दिवौकसां मुदावहः' कहा है जिसका आशय है कि बक के मरने से उसके उपास्य देव अप्रसन्न नहीं हुए किन्तु प्रसन्न हुए कारण कि बक के जो दो टुकड़े किए थे उनको नीचे मुख करके स्थापित कर दिया था जिससे उत्तम स्वर्ग में स्थित देवों का यहाँ (भगवान् के पास) आने पर सुन्दर कोमल आसन जैसा बन गया इसलिये श्लोक में 'वीरणवत्' पद देकर बताया कि जैसे 'वीरण' नामक घास से आसन बनते हैं वैसे ही यह भी देवों के लिये आसन जैसा बन गया था । इसकी मृत्यु से देवों का हित ही हुआ हैं क्योंकि लोभ, अनृत[1] के साथ दम्भ[2] के नाश हो जाने से देवगण पृथ्वी पर पधार कर प्रेम से यज्ञ की हवि को ग्रहण कर सकेंगे ॥ ४१ ॥

आभास--एवं तदधिष्ठातृदेवानां सन्तोषमुक्त्वा स्वर्गवासिनां सर्वेषामेव तद्वधे सन्तोषमाह तदेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार उस (बक) के अधिष्ठाता देवों के सन्तोष का वर्णन कर अब इस नीचे के श्लोक में सर्व स्वर्गवासी देवों को भी इससे सन्तोष हुआ, उसका वर्णन करते हैं ।

श्लोक---**तदा बकारिं सुरलोकवासिनः समाकिरन् नन्दनमल्लिकादिभिः ।**
समीडिरे चानकशङ्खसंस्तवैस्तद् वीक्ष्य गोपालसुता विसिस्मिरे ॥ ४२ ॥

श्लोकार्थ--उस समय स्वर्ग में रहने वाले देवों ने बक के शत्रु पर नन्दनवन के मल्लिका आदि पुष्पों की वृष्टि की और दुंदुभि (नगारे) तथा शंख नाद के साथ स्तोत्रों से स्तुति की । जिसको देख ग्वालबाल विस्मित[3] हुए ।

सुबोधिनी—**बकारिं** बकहन्तारं सर्ववेदब्राह्मणपक्षपातिनं **सुरलोकवासिनः** सर्व एव नन्दनवनोद्भवमल्लिकादि पुष्पैः **समाकिरन्** पुष्पवृष्टिं कृतवन्तः, गोपानां महत्त्वज्ञापनार्थमेतद् वर्ण्यते, केवलपुष्पवृष्टिर्बालानां ज्ञापिका न भवतीति स्तोत्रवादित्राणि चाह **समीडिर** इति, **आनकशङ्खाभ्यां** सहितैः **संस्तवैः सम्यगीडिरे** सम्यक् स्तुतवन्तः, वाद्यद्वयं राजसतामसयोरपि स्तोत्राशक्तयोः संग्रहार्थं, एतत् सर्वं दृष्ट्वा **गोपालसुता** अतिमुग्धाः कृष्णं स्वसमानं ज्ञातयन्तो **विसिस्मिरे** परमं विस्मयं प्राप्तवन्तः ॥४२॥

व्याख्यार्थ--सकल वेद और ब्राह्मणों के पक्षपाती बक के अरि[4] (श्रीकृष्ण) के ऊपर सब स्वर्गवासी देवतागण नन्दनवन में उत्पन्न मल्लिका आदि पुष्प बरसाने लगे । इसका वर्णन इसीलिये

१—झूठ । २—पाखण्ड । ३—आश्चर्य में पड़ गए । ४—शत्रु ।

किया है कि गोपों को भगवान् के महत्व का ज्ञान हो जाए। गोप, भगवान् के महत्त्व को केवल पुष्पों की वर्षा से नहीं समझ सकेंगे अतः स्तुति की और साथ में बाजे बजाए। कौन से बाजे बजाए और किस प्रकार स्तुति की इसको बताने के लिए कहते हैं कि नगारे और शंखों के नाद-सहित स्तोत्रों से सम्यक्[1] प्रकार से स्तुति की। स्तुति करने में अशक्त राजस और तामस भी साथ में थे इसे बताने के लिये दो वाद्यक* हैं। यह सब देखकर अति मूढ़[2] गोप बालक श्रीकृष्ण को अपने समान ग्वाला समझते थे वे अत्यन्त विस्मय को प्राप्त हुए ॥ ४२ ॥

आभास—पूर्वं महत्वमात्रं ज्ञातमधुना त्वाश्चर्यं जातं ततो भगवता सह व्रजमागत्य तन्माहात्म्यमुक्तवन्त इत्याह मुक्तमिति।

आभासार्थ—प्रथम तो केवल कृष्ण के माहात्म्य को जाना था अब तो देवताओंकी की हुई पुष्पवृष्टि देखकर आश्चर्ययुक्त भी हुए। तदनतन्र व्रज में आकर उसका माहात्म्य वर्णन करने लगे वह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक--**मुक्तं बकास्यादुपलभ्य बालका रामादयः प्राणमिवेन्द्रियो गणः।**
प्रत्यागतं तं परिरभ्य निर्वृताः प्रणीय वत्सान् व्रजमेत्य तज् जगु ॥४३॥

श्लोकार्थ--जैसे इन्द्रियाँ प्राणों को पाकर सुखी होती हैं वैसे ही बकासुर के मुख से मुक्त होकर आए हुए भगवान् से मिलकर बलराम आदि सब बालक प्रसन्न हुए अनन्तर बछड़ों को इकट्ठा कर व्रज में आए वहाँ वे समग्रलीला की कथा सबको सुनाने लगे।

सुबोधिनी—वचनं हि हृदये प्ररूढं भवति भगवत्प्राप्तिरत्यभीप्सितेति ज्ञापयितुं दुर्निमित्तापगमे तथा भवतीति **बकास्यान्मुक्तमुपलभ्येत्युक्तं**, स्नेह एव तेषां स्फुरितो न तु माहात्म्याद् भयमिति ज्ञापयितुमाह **बालका** इति, रामस्यापि तदा गौणभावाद् बालकतुल्यतेत्याह **रामादय** इति, भगवदागमनात् पूर्वं न ते रामादयः किन्तु नामान्तरमेव प्राप्ताः, **यथा प्राणं विनेन्द्रियो गणो** गोलकमात्रपर्यवसितः, **प्रत्यागतं** पुनरागतं **तं** भगवन्तं **परिरभ्य निवृताः** सुखिनो जाताः, **बकमारणानन्तरमपि** न बालका भगवत्समीपं गता मूर्छिता इवातिखेदेन पतिताः पुनरुद्वताः, भगवानेव परं **प्रत्यागतः** से चेत् सदानन्द आलिङ्गितः सर्वतःसम्बन्धोभून तदा **निर्वृताः**, तदा **वत्सान् प्रणीयै**तस्ततो गतान् समानीय **व्रजमेत्य तद्** बकवधादिकं **जगुरुक्तवन्तः** ॥ ४३ ॥

व्याख्यार्थ—जो वचन कहने होते हैं वे हृदय में ऊपर आकर स्थित हो जाते हैं जिससे उन वचनों को रोका नहीं जा सकता है। गोपों को भगवान् की प्राप्ति की अत्यन्त इच्छा थी, इसको

---

* सात्विकों ने तो स्तोत्र द्वारा स्तुति करके अपना हर्ष प्रकट किया किन्तु जो स्तोत्र करने में राजस व तामस असमर्थ थे उन्होंने नगारे और शंखों की ध्वनि से स्तुति कर हर्ष प्रकट किया।—अनुवादक

१—उत्तम। २—भोलेभाले, अनजान।

जताने के लिये वह चरित्र कहे कि जब भगवान् की प्राप्ति में प्रतिबन्धक[1] वाले दुष्ट निमित्त नष्ट होते हैं तब भगवान् की प्राप्ति होती हैं। भगवान् स्वयं विघ्नों को दूर कर हमको प्राप्त हुए हैं यह 'बक के मुख से निकले हुए भगवान् को प्राप्त कर' 'शब्दों' का भाव प्रकट कर बताने लगे। जिसका आशय यह है कि भगवान् जीवकृत साधनों से प्राप्त नहीं होते हैं किन्तु आप कृपा कर विघ्नों को हटा कर मिलना चाहते हैं तब मिलते हैं। इन चरित्रों से गोपों में भगवान् के प्रति प्रेम ही जागृत हुआ, न कि माहात्म्य ज्ञान से भय उत्पन्न हुआ। क्योंकि गोप बालक थे। बलराम तो बालक नहीं थे ? कहते हैं कि वह भी इस समय बालक थे इसलिये श्लोक में 'रामादय.' राम से लेकर सब गोप बालक कहे गए हैं कारण कि राम में भी उस समय गौण-भाव होने से उसकी बालकों से समानता थीं। भगवान् का बक के मुख में प्रवेश होते ही वे बालक अचेत से हो गए थे अतः कहा है कि भगवान् बक के मुख से मुक्त होकर नहीं पधारे तब तक रामादि बालक नहीं थे। जैसे प्राण के बिना इन्द्रियाँ केवल अपने गोलक में रहती है किञ्चित् भी प्रकट क्रिया नहीं कर सकती है इसी प्रकार की दशा गोप बालकों की उस समय हो गई थी। किन्तु अचेत अवस्था में होते हुए भी भगवान् की लीला द्वारा इनका निरोध करना था इसलिए इनमें इतनी चेतनता भगवान् ने प्रकट कर रक्खी थी कि जिससे लीला देख उनको विस्मय हो सका। भगवान् ने बक को मार डाला, उसके अनन्तर भी भगवान् के पास न जा सके कारण कि मूर्छावस्था में अति खेद से वहाँ ही पड़े थे खड़े नहीं हुए। भगवान् ही उनके पास जब लौटकर आ गए तब उन्होंने सदानन्द का आलिंगन कर सर्व प्रकार से उनसे सम्बन्ध किया जिससे आनन्द को प्राप्त हुए। तब जहाँ तहाँ बिखरे हुए बछड़ों को इकट्ठा कर व्रज में आये। आकर बकवध आदि लीलाएँ सुनायीं ॥ ४३ ॥

आभास—ततो यज् जातं तदाह श्रुत्वेति।

आभासार्थ—इसके पश्चात् जो कुछ हुआ वह नीचे के श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**श्रुत्वा तद विस्मिता गोपा गोप्यश्चातिप्रियादृताः।**
प्रेत्यागतमिवौत्सुक्यादैक्षन्त तृषितेक्षणाः ॥ ४४ ॥

श्लोकार्थ—यह चरित्र सुनकर गोप और गोपियाँ विस्मित हुए और गोपियों ने अतिप्रिय (भगवान्)से आदर पाया। परलोक से लौटकर आए हो, वैसे (समझ) अत्यन्त प्रेम के कारण वे अतृप्त नेत्रों से दर्शन करने लगी।

सुबोधिनी—तद्बकवधं श्रुत्वा गोपा गोप्यश्च विस्मिताः, गोपीनां विशेषमाहातिप्रियादृता इति। अतिप्रियेण भगवतादृताः प्राप्तादराश्च जाताः, ततः परमानन्देन दृष्टवत्य इत्याहौत्सुक्यात् प्रेमाधिक्यादवितृप्ते-

---

१—रुकावट डालने वाले।

क्षणा अतृप्तनयना ऐक्षन्तेति पामराणां बुद्धिमनुसृत्या श्लीलमप्याह शुकः, सा हि प्रीतौ परमा काष्ठा, औत्सुक्यं प्रेमातिभरतयामर्यादं भवति, तेन सर्वपरित्यागेन भर्त्रादिशङ्कामपि परित्यज्य द्रष्टव्यः, इयं बुद्धिस्तेषां नारोपिता किन्तु सहजेति ज्ञापयितुं नेत्रयोरतृप्तिमाह ॥ ४४ ॥

व्याख्यार्थ—वह बक के वध की लीला सुनकर गोप और गोपियाँ अचम्भे में पड़ गए। गोपों से गोपियों के लिये विशेष कहते हैं कि, भगवान् ने गोपियों का आदर सत्कार किया। इससे गोपियाँ भगवान् का परम प्रेमपूर्वक दर्शन करने लगीं गोपियाँ किस प्रकार अपने अतिप्यारे को देखने लगी ? इसको बताने के लिये श्लोक में "औत्सुक्यात" शब्द दिया है जिसका अर्थ उत्कण्ठा (प्रिय के मिलने के लिये अन्तःकरण में बेचैन रहे ऐसी चाहना) से देखने लगी जिससे नेत्र अतृप्त ही रहे। यह प्रेम की पराकाष्टा[1] है जिसमें किसी प्रकार की मर्यादा उस समय नहीं रहती है। इस प्रकार का कहना अश्लील[2] होते हुए भी शुकदेवजी ने पामरों[3] की बुद्धि इस प्रकार की होती है इसको बताने के लिये कहा है। उस समय गोपियों के प्रेम की पराकाष्ठा हो गई थी, जिससे उन्होंने सबका त्याग कर दिया था अतः पति आदि क्या कहेंगे इस प्रकार की शंका को मन में न लाकर देखती गईं। यह उनकी देखने की वृद्धि किसी कारण से नहीं हुई थी किन्तु स्वाभाविकी थी, इसलिये कहा है कि नेत्रों की तृप्ति नहीं हुई ॥ ४४ ॥

आभास—तच् छ्रुत्वा विमर्शकाणां नन्दादीनां यज् जातं तदग्ने वक्तुं तेषां विचारमाह त्रिभिरहो इति।

आभासार्थ—यह सुनकर विचार करनेवाले नन्दादिकों के जो विचार हुए उनका निम्न तीन श्लोकों में वर्णन करते हैं :

श्लोक—**अहो बतास्य बालस्य बहवो मृत्यवोभवन्।**
अप्यासीद् विप्रियं तेषां कृतपूर्वं यतो भयम् ॥ ४५ ॥

श्लोकार्थ—अहो ! अरे ! खेद है कि इस बालक के ऊपर बड़ी बड़ी बहुत घातें आई। परन्तु जो जो घात करने आए उनका ही अनिष्ट[4] हुआ क्योंकि पहले उन्होंने दूसरों को भय उत्पन्न किया।

सुबोधिनी—तामसा आहुरहो इति, **अहो इत्याश्चर्ये**, एकस्यैव बहव उपद्रवा इति बतेतिखेदे, स्वस्य तादृशं दुरदृष्टमिति, **अस्यैव बालस्य**, किमपि तत्र हेतुं कल्पयन्ति **कृतपूर्वं यतो भयमिति** 'यो हन्ति स हन्यत' इतिन्यायाद भयं तु कृतपूर्वं भवति, स्वयं चेदन्यस्मै करोति तदा प्राप्नोति भगवांस्तु न करोति ते तु कुर्वन्तीति तेषामेव भयमुचितम् ॥ ४५ ॥

१—सब से ऊँची सीमा या हद्द। २—असभ्य, नीच। ३—अधम। ४—हानि, बुरा।

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में तामसों के विचार कहे हैं। तामस कहते हैं कि आश्चर्य है कि एक ही बालक को इतने उपद्रव प्राप्त हुए हैं। यह दुःख की बात है। अपने पूर्वकृत कर्मों से बनी अदृष्ट ही इन दुःखों का कारण है। इस प्रकार पुनः पुनः दुःख होने के कारण की कल्पना करते हैं कि जिन पूतनादि दैत्यों ने इस बालक के अनिष्ट की पहले इच्छा की उनका ही अनिष्ट हुआ इस बालक का तो कुछ अनिष्ट नहीं हुआ ! 'यो हन्तिसहन्यते' जो पहले किसी को मारना चाहता है वही मारा जाता है ! इस न्यायानुसार, भय (बुराई) तो पूतनादिकों ने प्रथम किया इससे उस बुराई (भय) ने उनको ही नाश किया। स्वयं जो दूसरों के लिये करता है तो वह स्वयं ही भोगता है भगवान् तो किसी के लिए भय (बुराई) नहीं करता है वे जो करते हैं तो उनको ही भय (बुराई) होना योग्य है ॥ ४५ ॥

आभास—राजसास्तु तेषामपकारो न तत्कर्मणा केवलेन किन्तु भगवन्माहात्म्यादित्याहु अथापीति ।

आभासार्थ—राजस अपनी सम्मति देने लगे, उनका अपकार[1] केवल उनके कर्मों से नहीं होता है किन्तु भगवान् के माहात्म्य से होता है। इसका वर्णन नीचे श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**अथाप्यभिभवन्त्येनं नैव ते घोरदर्शनाः ।**
जिघांसयैनमासाद्य नश्यन्त्यग्नौ पतङ्गवत् ॥ ४६ ॥

श्लोकार्थ—यद्यपि वे (दैत्य) घोर दर्शन (जिनके दर्शनमात्र से भय होता है) थे तो भी इस बालक को हरा नहीं सके। मारने की इच्छा से इसके पास आए किन्तु जैसे पतङ्ग दीपक को बुझाने आते हैं ?' किन्तु स्वयं हो नष्ट हो जाते हैं वैसी दशा इन दैत्यों की भी हुई अर्थात् स्वयं नष्ट हो गए।

सुबोधिनी—यद्यपि कृतपूर्वं भयं भवति, तथाप्ययुक्ते कृते प्रयत्ना नश्यन्ति अन्यथा पूर्वमेव ते कथं न नष्टा भवेयुः ? तस्मादप्येनं भगवन्तं नैवाभिभवन्ति, अभिभवार्थमप्यागता नाभिभवं कर्तुं शक्नुवन्ति, न चाप्रयोजकाः, यतस्ते पूतनादयः प्रसिद्धाः, अस्तु तेषां बलं दूरे, घोरमेव दर्शनं येषां, दृष्टा एव भयजनका भवन्तीत्यर्थः, तत्र दृष्टान्तमाह जिघांसयैनमासाद्य स्वयमेव नश्यन्ति, अभिप्रायप्रयत्नविरुद्धं फलं प्राप्नुवन्ति, तदसम्भावितं मत्वा दृष्टान्त उच्यते पतङ्गवदिति, ते हि पक्षवन्तः सूक्ष्माः कीटा आत्मानं महान्तं मन्यमाना नरा मूढा अग्निं तेजस्विनं मत्वा किमित्युपासते वयं त्वग्निं दूरीकरिष्याम इति महतोवमननां कृत्वा निर्वाणार्थं प्रवृत्ताः स्वयमेव नश्यन्ति, दग्धाभवन्ति, न त्वग्नेः काचित् क्षतिः एवमयं भगवानतितेजस्वी तान् मारयतीति युक्तम् ॥ ४६ ॥

१—हानि, बुरा ।

व्याख्यार्थ—यद्यपि प्रथम जो भय करते हैं उनको ही भय होता है। यों है तो भी यदि वह प्रयत्न अयोग्यों (जिसका हम नाश नहीं कर सकते हैं ऐसे तेजस्वीओं) के लिये किया जाता है तो उनका नाश न कर वे स्वयं नष्ट हो जाते हैं। जो ऐसा न हो तो भगवान् के पास आने से पहले वे नाश क्यों न हो जाते ? इससे भी देखने में आता है कि भगवान् का पराभव[1] करने के लिये आए हुए वे उस (भगवान्) का पराभव नहीं कर सकते हैं वे कम शक्तिमान थे यों भी नहीं था, क्योंकि वे भायार्थ आये हुए पूतनादि प्रसिद्ध बलवान् थे। उनका बल तो दूर रहा किन्तु उनकी आकृति ऐसी घोर थी जिसके देखने से ही भय उत्पन्न हो जाता था यहाँ दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे पतंग[2] अपने को बड़ा बलशाली समझ कर कहते हैं कि मनुष्य मूर्ख है अग्नि को तेजवाला समझ उसकी क्यों पूजा करते हैं हम तो इसके प्रकाश का नाश कर देंगे इस प्रकार बड़े का तिरस्कार करते हुए उसको बुझाने के लिए उसके पास जाते हैं तो वे (पतंग) स्वयं नष्ट हो जाते हैं जल जाते हैं अग्नि का कुछ बिगाड़ नहीं कर सकते हैं वैसे ही ये दैत्य भगवान् को मारने की इच्छा से उसके पास आकर स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं इस प्रकार अति तेजस्वी यह भगवान् उनको मारते हैं यह योग्य हैं ॥ ४६ ॥

आभास---अन्ये पुनर्नन्दादय प्रमाणबलसिद्धमिममर्थं मन्यमाना नात्यद्भुतमिति प्रमाणमेव स्तुतवन्त इत्याहाहो इति ।

आभासार्थ—अन्य नन्दादिक, जो यों समझते थे कि यह बात तो प्रमाण सिद्ध है इसमें कोई अति आश्चर्य की बात नहीं हैं वे प्रमाण की ही स्तुति करने लगे उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक---अहो ब्रह्मविदां वाचो नासत्याः सन्ति कर्हिचित् ।
गर्गो यदाह भगवानन्वभावि तथैव तत् ॥ ४७ ॥

श्लोकार्थ---अहो ! ब्रह्मवेत्ताओं की वाणी कभी भी असत्य नहीं होती है। भगवान् गर्गजी ने जो कहा था वैसा अनुभव में आ रहा है।

सुबोधिनी—**अहो** इत्याश्चर्ये, कथं वा **ब्रह्मविदो**ग्रिमवृत्तान्तं जानन्तीति, तत्रोपपत्तिर्ब्रह्मविद्यामिति, 'यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितं भवती'ति, अत एव तेषां वाचः कदाचिदप्यसत्या न भवन्ति, तादृशी वाङ् नोत्पद्यत एवेति वक्तुं सन्तीत्युक्तं, ननु का ब्रह्मविदां वाच इत्याकांक्षायामाह **गर्गो यदाहेति**, तत्र हेतुर्भगवानिति, ब्रह्मविदो हि ब्रह्मैव भवन्तीत्यतस्तेषां वाक्यप्रामाण्यात् **तथैव तदन्वभावि**, वेदवादिनो हि शब्दस्य नानुवादकत्वं मन्यन्ते किन्तु विधायकत्वमत ईश्वरो वेद एव तद्वाक्यादेव फलसिद्धिर्न तु फलसाधकत्वेनेश्वरापेक्षेति, 'अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथे' ति 'नारायणसमो गुणै'रिति, अतस्तद्वाक्यादस्य बालस्य तादृग्गुणा जायन्त इतिभावः ॥४७॥

१—हराने को। २—पंखवाले छोटे कीड़े।

व्याख्यार्थ—'अहो' आश्चर्य वाचक यह शब्द इसलिये कहा गया है कि ब्रह्मवेत्ता भविष्य में होनेवाली बात को पहले ही जान लेते हैं। यह आश्चर्य है वे पहले ही कैसे जान लेते हैं उसको समझाते हैं कि श्रुति कहती है कि जिस (ब्रह्म) को जानने से यह सब जाना जाता है अर्थात् समग्र जगत् के भूत भविष्य का ज्ञान हो जाता है ब्रह्मवेता ब्रह्म को जानने से ब्रह्मरूप हो जाते हैं उनको सब प्रकार का ज्ञान पूर्व ही हो जाता है जिससे उनके वचन असत्य नहीं होते हैं। श्लोक में आए हुए 'सन्ति' पद का भावार्थ है कि उनके मुख से सत्य वचन ही निकलते हैं। झूठे कभी भी नहीं निकलते हैं ब्रह्म-वेत्ताओं के कौनसे वचन हैं? इसके उत्तर में कहते हैं कि गर्गजी ने जो कुछ कहे उसमें कारण देते हैं कि गर्ग साधारण नहीं थे किन्तु 'भगवान्' थे। क्योंकि शास्त्र में कहा है कि 'ब्रह्मविदो ब्रह्म एवं भवन्ति' ब्रह्म को जानने वाले ब्रह्म ही होते हैं ब्रह्म को जानने से गर्गजी ब्रह्म थे अतः श्लोक में गर्ग का विशेषण 'भगवान्' दिया है उनके वाक्य प्रमाणरूप होने के कारण जैसा उन्होंने कहा वैसा ही अनुभव हो रहा है।

वेद-वादिओं[1] का कहना है कि जो होनेवाला है उसका वेद नहीं कहता है किन्तु वेद आज्ञा करने वाला है। अतः वेद ही ईश्वर है। उसकी आज्ञानुसार ही फल होता है इस (वेद) के अतिरिक्त फलदाता कोई ईश्वर नहीं है। इस सिद्धान्त को ही नन्दजी प्रमाणमार्गी होने से प्रमाण मान कर कहते हैं कि गर्गजी ने कहा है कि यह बालक गुणों से 'नारायण' के समान है; इसके द्वारा ही आप सर्व अड़चनों को पार कर सकेंगे। अतः उनके बचन से ही इस बालक में ये गुण आए हैं। इस श्लोक का यह भाव है॥ ४७॥

आभास----एवं नन्दादीनां त्रिविधं ज्ञानं निरूप्य फलितं वदन् भगवत्कृतं नन्दनिरोधमनूद्योपसंहरतीतीति।

आभासार्थ—इस प्रकार नन्दादिकों के तीन प्रकार के ज्ञान का तीन श्लोक में निरूपण किया। इस श्लोक में उसके फल का वर्णन करते हुए भगवान् के किए हुए निरोध को पुनः कहकर इस प्रकरण का उपसंहार[2] करते हैं।

श्लोक----**इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा।**
कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदनाम्॥ ४८॥

श्लोकार्थ---इस प्रकार हर्ष पूर्वक श्रीकृष्ण और बलरामजी की कथा करते हुए

१—मीमांसकों। २—समाप्त।

अर्थात् लीला का वर्णन करते हुए रमण का आनन्द लेते हुए नन्दादिक गोप संसार की वेदना को भूल गए।

सुबोधिनी—इतिभावेन **नन्दादयो गोपाः कृष्ण-रामकथां** स्वतन्त्रतया फलत्वेन **कुर्वन्तस्तयैव** कथया जातया परमनिर्वृत्या **रममाणाः**, चकाराद् विस्मृतदेहा जातब्रह्मात्मानुभवा वा **भववेदनां** संसारतापं **नाविन्दन्** न ज्ञातवन्तः, प्रपञ्चविस्मृतिः सर्वा तदासक्तिश्च निरोध इति भगवत्कृतं कार्यं नन्दादिषु फलितम् ॥ ४८ ॥

व्याख्यार्थ—नन्द आदि गोप, भाव से श्रीकृष्ण और राम की कथा फल समझ कर स्वतन्त्रता से करते थे। उस कथा से जो अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता था उस आनन्द में ही रमण (आनन्दानुभव) करते थे। श्लोक में आए हुए 'च' (और) पद का भावार्थ बताते हैं कि उस आनन्द में रमण के कारण देह का भान भी उनको न रहता था। अथवा आत्मा और अक्षर ब्रह्म के स्वरूप की एकता का अनुभव करते थे जिससे सर्व प्रपञ्च भूलकर भगवान् में आसक्त हो गए यही उनका फलात्मक निरोध हुआ। 'सर्व प्रकार से प्रपञ्च भूल जाना और इसके साथ भगवान् में आसक्ति हो जावे' इसको निरोध कहते हैं। इससे भगवान् ने जो कार्य (लीला) किए उसका फल नन्दादिकों को मिला ॥ ४८ ॥

आभास—एवं बाल्यभावेन कृते नन्दनिरोधे प्रतिष्ठिते सति येन भक्तेन कालेन क्रोडीकृतास्ते निरुद्धास्तं कालमपि सिद्धे प्रयोजने त्यक्तवानित्याहैवंविहारैरिति।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् ने बाल्य-भाव से जो निरोध किया वह नन्दराय में स्थित हुआ अर्थात् नन्दरायजी का निरोध सिद्ध हो गया। जिस अवस्था में आधिदैविक काल प्रकट होकर यह कुमार लीला सिद्धि कराता था, उस काल में, जो थे, उनका भी निरोध सिद्ध हो गया। भगवान् ने विचारा कि आधिदैविक काल का जो प्रयोजन[1] था वह पूर्ण हो गया है अतः अब इस काल (कुमार अवस्था) की आवश्यकता नहीं है। इसलिये इसको छोड़ देना चाहिये यों विचार कर उस काल का (कुमार अवस्था का) त्याग किया जिसका वर्णन निम्न श्लोक में है।

श्लोक—**एवंविहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे।**
निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभिः ॥ ४९ ॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार छिप जाना, पुल बाँधना बानर की तरह कूदना इत्यादि कुमार अवस्था के खेलों से इन दोनों भ्राताओं ने उस कुमार अवस्था को व्रज में

१—काम, मतलब।

बिता (छोड़) दिया* है।

सुबोधिनी—एवं पूर्वोक्तप्रकारैर्वैः कालस्य हारैर्लीलारूपैः करणैः सह वा कौमारं जहतुः, ननु विजातीयानां कथं कौमारनिवर्तकत्वं ? तत्राह कौमारैरिति, कुमारावस्थोद्भवैररणेरुत्पन्नैर्नैव वह्निनाऽरणिः शाम्यतीति, तानि चरितानि त्रिविधानीति गणयति निलायनैरिति, सर्वैरेव विहारैर्व्रज एव कौमारं जहतुः, अतो व्रज एव कुमारो जातः कुमारी च, अतोग्रे वक्तव्याः 'कुमार्यः कृष्णचेतस' इति करिष्यन्ति च लीलां लतागृहादिषु लीना भगवद्वशीकरणप्रयत्ना गृहस्वमर्यादोल्लङ्घनकर्त्र्यश्च, भगवान् कुमारावस्थायां निलायनक्रीडां करोति, स हि परमानन्दो भूत्वा स्वाज्ञानार्थं मायया ज्ञानशक्तिं रुणद्धि, तथात्रापि गोपादीनां चक्षूंषि पिधत्ते पश्चान्निलीय तिष्ठति तथान्ये गोपालाः, किञ्च जले प्रवहति सेतुबन्धान् कुर्वन्ति, रामावतारे ह्येक एव बन्धः कृतः, एकैव सीतेति, अत्र यमुनादिषु बहूनेव बन्धान् करोति यतः पुलिनादिषु गत्वा रमणं सिध्यति, किञ्च मर्कटोत्प्लवनादिकमपि करोति, वृक्षाद् वृक्षान्तरे गच्छति सर्वशाखाफलभोगार्थं, एकस्यामप्यारूढः सर्वफलं भुंक्ते न तु तस्य भिन्नः प्रक्रमोपेक्ष्यते, आदिशब्देन मण्डूकप्लुत्यादिकमपि, ब्राह्मणोपि भवति क्षत्रियोपि भवति सर्वमेव रसमेकत्र स्थित एव गृह्णाति, न तु तस्य मर्यादा प्रतिबन्धिकेति, एवं यावद्भिर्भावैर्यावन्तो गोकुलवासिनो ग्रहीतुं शक्यास्तान् सर्वानेव विहारान् कृतवान्, मूलरूपलीला जगद्रूपलीला वेदरूपलीलेति लीलात्रयं परिचायकत्वेनोक्तं, अतः परं कौमारकार्यं नास्तीति ताभिर्लीलाभिः सह कौमारावस्थां जहतुः ॥ ४६ ॥

व्याख्यार्थ—इसके पूर्वोक्त प्रकार से (पहले कहे हुए ढंग से) दोनों भ्राताओं ने काल लीलारूप साधनों से कुमार अवस्था का त्याग† किया। विजातीयलीला (दूसरे प्रकार की पौगण्ड लीला) से कुमारावस्था की निवृति कैसे हुई ? इस शंका का निवारण दृष्टान्त देकर करते हैं कि कुमार अवस्था की निवृति विजातीय (पौगण्ड) लीलाओं ने नहीं की हैं किन्तु जैसे अरणि से उत्पन्न अग्नि से अरणि शान्त हो जाती है वैसे ही कुमारावस्था से उत्पन्न लीलाओं से ही कुमारावस्था शान्त हो गई (छूट गई) इसलिये श्लोक में 'विहारैः' का विशेषण 'कौमारैः' दिया है जिसका सीधा अर्थ होता है कुमार अवस्था में उत्पन्न काल की क्रीडाओं से कुमार अवस्था का त्याग किया।

वे भगवान् के चरित्र तीन प्रकार के हैं, इन तीन प्रकार की लीलाओं से ही कुमारावस्था बिताई। अतः भगवान् ने व्रज में ही कुमार और कुमारीरूप धारण किए हैं। अतः आगे‡ 'कुमारीओं कृष्ण में सलंग्न चित्तवालो है' कहने में आएगा और उस स्वरूप से लीलाएँ करेगी। वे कुमारियाँ

---

* 'जहतुः' (बितादी छोड़दी) का भाव प्रकट करते हैं कि जैसे राजा सैन्य को बाहिर छोड़ के वन में गया। इस वाक्य में 'छोड़ के' शब्द का अर्थ 'स्थापित' करके होता है वैसे ही यहाँ भी कुमार अवस्था व्रज में 'स्थापित' की यह अर्थ है।

† दूसरे स्थान (मथुरा आदि में) भगवान् कुमार वा कुमारीरूप नहीं हैं वे रूप व्रज में ही सदा विद्यमान है। अतः कहा गया है कि 'व्रजंपरित्यज्यपादमेकं न गच्छात्ति'—अनुवादक।

‡ श्रुति के अनुसार पति और स्त्रीरूप भगवान् बनते हैं तदनुसार व्रज में कुमार और कुमारी रूप भगवान् हैं। २१ वें अध्याय में कृष्ण में चित्तवाली आधिदैविक कुमारियाँ भगवद्रूप हैं—'योजना'

वेला के बने हुए गृहों में छिपकर भगवान् को वश करने में प्रयत्नशील होंगी और गृहस्थ धर्म की मर्यादाओं का उलंघन करने वाली होंगी, भगवान् कुमारावस्था में छिप जाने की क्रीड़ाएँ करते हैं। परमानन्द स्वरूप भगवान् अपने को छिपा कर रखने के लिए अर्थात् मुझे कोई (जीव) जान (पहचान) न सके इसलिए अपनी माया से जीवों की ज्ञान-शक्ति को तिरोहित कर देते हैं, जिससे जीव भगवान् को न देख कर उनको ढूंढते रहते हैं वैसे ही यहाँ भी उसी प्रकार की लीला कर दिखाते हैं। जैसे कि गोपादिकों के नेत्रों को हाथों से बन्द करते (वा बस्त्रों से बन्द कराते हैं) फिर आप छिप जाते हैं वैसे ही अन्य गोपाल भी करते हैं।

जहाँ जहाँ जल बहता है वहाँ वहाँ पुलों को बाँधते हैं। रामावतार में एक ही पुल बाँधा था और एक ही सीता थी। यहाँ तो यमुनादि पर अनेक पुल बाँधते हैं कारण कि उन पुलों से यमुना पार कर पुलिनों पर जाकर रमण की सिद्धि करते और बन्दरों के समान एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर कूद कर एक शाखा पर बैठकर सब शाखाओं के फलों का उपभोग करते हैं। एक शाखा से दूसरी शाखा पर कूदने की उनको आवश्यकता नहीं पड़ती। श्लोक मे 'आदि' शब्द का भाव बताते हैं कि इसी प्रकार आप कभी मण्डूक की तरह भी कूद कर फल भोग करते थे।

भगवान् ब्राह्मण भी बनते हैं क्षत्रिय भी होते हैं। सब रस को एक ही स्थान में स्थित होकर ग्रहण करते हैं। भगवान् को इस प्रकार स्वच्छन्द लीला करने में मर्यादा प्रतिबन्ध नहीं कर सकती है। इस प्रकार जिन जिन भावों से जो जो गोकुलवासी स्वीकार करने के योग्य थे उन सब विहारों (खेलों-लीलाओं) को भगवान् ने किया 'मूलरूप लीला' जगद्रूप लीला और वेदरूप लीला इन तीन लीलाओं को परिचयार्थ कहा है। इसके अनन्तर कुमारावस्था का कार्य नहीं रहा है, इस कारण से इन लीलाओं के साथ कुमार अवस्था का भी त्याग किया ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध (पूर्वार्ध) के एकादश अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणकृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के तामस प्रकरण, 'प्रमाण' अवान्तर प्रकरण का धर्मी निरूपक सातवां अध्याय (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण।

इस ११वें अध्याय में वर्णित श्रीबालकृष्ण प्रभु की लीला का
निम्नलिखित पदों से रसास्वादन लीजिए ।

राग रामकली

तरु दोउ धरनि गिरे भहराय ।
जर सहित अरराय के आघात शब्द सुनाय ॥ १ ॥
भये चकृत लोग व्रज के सकुचि रहे डरपाय ।
कोउ रहे आकाश देखत, कोउ रहे सिर नाय ॥ २ ॥
घरी लों तकि गये जहाँ तहाँ देह गति बिसराय ।
निरखि जसुमति अजिर देखै, जहाँ बंधे सु कन्हाय ॥ ३ ॥
वृक्ष दोउ धरा परे देखे, महरि कियो पुकार ।
अबहिं आंगन छाड़ि आई चप्यो तरु के डार ॥ ४ ॥

मैं अभागिनि बांधि राखे नन्द प्राण अधार ।
सोर सुनि नंद द्वार आये, विकल गोपी ग्वाल ॥ १ ॥
देखि तरू मन अति डराने हैं बड़े बिस्तार ।
गिरे कैसे बड़ो अचरज नेकु नहीं बयार ॥ २ ॥
दुहूं तरू बिच श्याम बैठे, रहे ऊखल लागि ।
भुजा छोर उठाय लीन्हों, महरि के हैं भागि ॥ ३ ॥
निरखी जुबती अंग हरि के, चोट जनि कहुँ लागि ।
कबहुँ बांधति कबहुँ मारति, जिहिं लगे मोहि बलाय ॥ ४ ॥
नन्द मोहि कहा कहेंगे, देखि तरू दोउ आय ।
मैं मरू तुम कुशल रहो दोउ श्याम हलधर भाय ॥ ५ ॥
आय जो घर नन्द देखे तरू गिरे दोउ भारि ।
बांधि राखति सुत हि मेरे, देत महरि हि गारि ॥ ६ ॥
तात हित बस श्याम दौरे, महरि लियो अंकवारि ।
कैसे उबरे कृष्ण तरुतें, सूर ले बलिहारि ॥ ७ ॥

राग सारंग

अब घर काहुँ के जिनि जाहु ।
तुमरे आजु कमी काहे की कत तुम अनतहिं खाहु ॥ १ ॥
जरै जेवरी जिन तुम बांधे, बरै हाथ महराय ।
नन्द मोहि अति त्रासत हैं, तूं बांधे कुंवर कन्हाइ ॥ २ ॥
रोग जाउ अपने हलधर को, छोरत हैं तब श्याम ।
सूरदास प्रभु खात फिरो जिनि, मांखन दहि तुव धाम ॥ ३ ॥

॥ श्री कृष्णायनमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभायनमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्योनमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य – विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

कौतुक लीला निरूपक

प्रक्षिप्त प्रथम अध्याय

दशम स्कन्धानुसार : द्वादश अध्याय

कारिका––**कथामात्रं हरेर्वाच्यं सर्वत्रेत्यत्र केचन ।**
कथां वक्तुं भागवतीं क्वचित् सिद्धामलौकिकीम् ॥ १ ॥
योजयित्वा त्वाधुनिका अध्यायत्रितयं जगुः ।
शब्दार्थसङ्गतीनां हि स्पष्टा तत्र विरुद्धता ॥ २ ॥
लोकप्रसिद्धे स्तच्चापि कथञ्चिद् रूप्यते स्फुटम् ॥ २½ ॥

कारिकार्थ––भगवान् के सर्व-चरित्र सर्वत्र कहने चाहिये, इस विचार से (वा कारण से)[1] कहीं भी कही गई भगवान् की अलौकिक कथा को कहने के लिये किसी आधुनिक विद्वानों ने ये तीन अध्याय बनाकर यहाँ कहे हैं। उनमें शब्द, अर्थ और संगति की विरुद्धता स्पष्ट प्रतीत होती है। यद्यपि उसमें विरुद्धता स्पष्ट है तो भी ये कथाएँ लोक में प्रसिद्ध हैं। अतः उनका स्पष्ट विवेचन किया जाता है।

१—पद्मपुराण में प्रसिद्ध।

पूर्वाध्यायान्ते "कौमारं जहतुर्व्रज" इत्युक्तं, "ततश्च पौगण्डवयः श्रितौ व्रजे बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मता" वित्येव सन्दर्भस्तथापि भगवच्चरितमिव वत्सापहरणं पद्मपुराणे प्रसिद्धमिति तां कथामाश्रित्याघासुरवधं ब्रह्मस्तुतिं च पूर्वापरयोर्निवेश्य कौतुकलीला भगवतः प्रदर्शिता, लोका हि लौकिके कौतुकिनो भवन्ति ।

व्याख्यार्थ—एकादश अध्याय के अन्त में 'व्रज में' कुमार अवस्था को छोड़ा (स्थापन किया) यों कहा, और द्वादश अध्याय के प्रारम्भ में कहा कि वे दोनों (श्रीकृष्ण व बलरामजी) पौगण्ड वय को धारण कर व्रज में पशुपाल बने । इस प्रकार से दोनों अध्यायों का परस्पर संदर्भ × है ।

× तीन अध्याय प्रक्षिप्त होने के कारण—

(१) ११वें अध्याय के अन्त में कुमार अवस्था छोड़ी कहकर १२वें अध्याय के प्रारम्भ में लिखा है कि श्रीकृष्ण व बलराम ने पौगण्डवय धारण की । इसके बीच में कोई भी कथा नहीं कही है यदि वत्सहरण, अघासुरवध आदि कथाएँ कहनी होती तो अन्तिम श्लोक कुमार अवस्था के त्याग का ११ वें अध्याय के अन्त में न कह कर इन तीनों अध्यायों के अन्त में कहते ।

(२) प्रक्षिप्त अध्यायों के कर्त्ता को वही श्लोक पुनः तीसरे अध्याय के अन्त में देना पड़ा है नहीं देते तो संदर्भ नहीं बैठता था । अतः इन अध्यायों की प्रक्षिप्तता इससे भी स्पष्ट प्रतीत होती है ।

(३) भागवत में ३३२ अध्याय हैं इन तीन अध्यायों की गणना से ३३५ अध्याय होते हैं । प्रसिद्ध टीकाकार श्रीधरस्वामी आदि ने भी भागवत् के ३३२ अध्याय माने हैं इससे भी ये अध्याय प्रक्षिप्त हैं ।

(४) प्रक्षिप्त अध्ययात्रयी के अध्याय के २६वें श्लोक में कहा हैं कि भगवान् ने असुर को मारा तब कंस भी वहाँ था । अपने सामने अघासुर के मुख में श्रीकृष्ण का प्रवेश देखकर कंस और उसके साथी प्रसन्न हुए । अनन्तर भगवान् उनका नाश करते हैं वह भी कंस ने देखा होगा । इस प्रकार होते हुए भी अरिष्ट वध के अनन्तर नारदजी कंस को कहते हैं कि जिन दोनों ने तुम्हारे पुरुषों को मारा, आदि कहने से इसका विरोध होता है । कारण कि बकी और बक के छोटे बन्धु अघासुर का वध तो कंस ने स्वयं देखा था इससे भी ये अध्याय प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं ।

(५) भगवान् ने ब्रह्मा को वरदान दिया था कि तुझे कभी भी मोह (अज्ञान) नहीं होगा अतः ब्रह्मा को यह ज्ञान है कि श्रीकृष्ण ईश्वर है और इसलिये ब्रह्मा ने २-७-२७ में श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व का प्रतिपादन किया हैं ब्रह्मा जिनको ईश्वर समझते हैं उनके साथ इस प्रकार की धृष्टता कैसे करेगा अतः यह कथा प्रक्षिप्त हैं ।

(६) तृतीय स्कन्ध में उद्धवजी ने और द्वादशस्कन्ध में सूजजी ने भी इस कथा का वर्णन नहीं किया हैं । इसके अतिरिक्त गोपियों ने लीलानुकरण के समय इस लीला का अनुकरण नहीं किया हैं । इत्यादि से इसकी प्रक्षिप्तता में किसी प्रकार का संशय नहीं है । इसकी प्रक्षिप्तता में रश्मिकार, श्रीप्रभुचरण. प्रकाशकार, योजना लेखक ने अनेक कारण दिये हैं जिनका संक्षिप्तसार उपरोक्त है विशेष उन ग्रंथो में देखिये ।—'अनुवादक'

अतः तीन अध्यायों में कही हुई कथाओं के सम्बन्ध की सगंति नहीं बैठती तो भी पद्म पुराण में प्रसिद्ध वत्स हरण लीला की आड़ में अघासुर वध और ब्रह्माद्वारा भगवान् की स्तुति आगे पीछे अध्यायों में कहकर हरि की कौतुक लीला कही है। लोग लौकिक में कौतुक वाले 'तमाशा देखने वाले' होते हैं।

कारिका—**तत्र तु प्रथमेध्याये लीलामाह सुविस्तराम्।**
अघासुरस्य च वधं मुक्तिश्चापि स्वयुक्तितः ॥ ३ ॥

कारिकार्थ—इन तीन अध्यायों के पहले अध्याय में, विस्तार पूर्वक लीला कही है। अघासुर का वध और अपनी युक्ति से मुक्ति भी कही है।

आभास—प्रथमं भगवतो दशभिः श्लोकैर्लीलामाह।

आभासार्थ—प्रथम अध्याय में प्रारम्भ के दश श्लोकों से भगवान् की लीला का वर्णन करते हैं।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—**क्वचिद् वनाशाय मनो दधद् व्रजात् प्रातः समुत्थाय वयस्यवत्सपान्।**
प्रबोधयञ् छृङ्गरवेण चारुणा विनिर्गतो वत्सपुरःसरो हरिः ॥ १ ॥

श्लोकार्थ—श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि किसी दिन वन में भोजन करने के विचार से प्रभात काल होते ही उठकर, सुन्दर सींगं के शब्द से अपने मित्र ग्वाल बालों को जगाके बछड़ों के यूथों को आगेकर भगवान् व्रज से निकले।

सुबोधिनी—क्वचित् कदाचित्, **वनाशायाशनमाशो** वनेशनं कर्तुं **मनो दधद् बिभ्रत् प्रातःकाले व्रजादुत्थाय विनिर्गत इतिसम्बन्धः, वयस्याश्च ते वत्सपाश्च, शृङ्ग**रवेणैव तेषामुत्थापनं, कृष्णस्यैवायं रव इतिज्ञापनार्थं चारुणेति, दोहानन्तरं वत्सान् गृहीत्वा निर्गतः ॥ १ ॥

व्याख्यार्थ—किसी दिन वन में भोजन करने का मन में विचार करके, प्रभात काल में ही उठकर जो ग्वाले थे और मित्र भी थे उन सब को सींग के शब्द से अर्थात् सींग की ध्वनि से जगाया। श्लोक में शृंगरवेण चारुणा का विशेषण देने का भाव यह है कि सींग की ध्वनि चारु सुन्दर थी जिसको सुनकर ग्वालों ने पहचान लिया कि श्रीकृष्ण की यह ध्वनि है क्यों कि ऐसी सुन्दर ध्वनि दूसरे की नहीं हो सकती हैं। यों समझ सुजाग होकर उठे और समझा कि कृष्ण बुला रहे हैं। गायें दुह लेने के पीछे बछड़ों को साथ में लेकर निकले ॥ १ ॥

आभास----तदा सर्वेपि निर्गता इत्याह तेनैवेति ।

आभासार्थ—उस समय (जब कृष्ण निकले) सब ग्वाल भी (बछड़ों को लेकर निकले) उसका वर्णन नीचे के श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**तेनैव सार्धं पृथुकाः सहस्रशः स्निग्धाः सुशिग्वेत्रविषाणवेणवः ।**
स्वान् स्वान् सहस्रोपरि सङ्ख्ययान्वितान् वत्सान् पुरस्कृत्य विनिर्ययुर्मुदा ॥ २ ॥

श्लोकार्थ—आप के साथ आपके प्रेमी ग्वाल बाल भी अच्छे अच्छे छींके बेंत, सींग और बाँसुरी लिये सहस्रों से भी अधिक संख्या वाले, अपने बछड़ों को आगे कर आनन्द से निकले ।

सुबोधिनी—तेनैव भगवता सार्धं पृथुका बालाः सहस्रशो निर्गताः स्निग्धाः प्रेमला भगवति, शोभना शिक् शिक्यमोदनसहितं वेत्रं वत्सचारणार्थं विषाणं वादनार्थं वेणुश्च ते येषां सन्ति स्वकीयान् वत्सान् पुरस्कृत्य तेपि मुदा गृहेभ्य ययुः, एकैकस्य सहस्रसङ्ख्यात उपरि सङ्ख्याऽयुतमित्यादि तया सङ्ख्यान्वितान् ॥२॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के साथ सहस्रों बालक निकले, वे बालक भगवान् से प्रेम करने वाले थे जिससे उन्होंने ओदन सहित छींके, बछड़ो को चराने के लिये बेंत, बजाने के लिये सींग और बाँसुरी ली थी, वे भी अपने बछड़ों को आगे कर प्रसन्नता पूर्वक घरों से निकले । प्रत्येक ग्वाले के पास दस दस हजार बछड़े थे ॥ २ ॥

आभास—तान् सर्वानेव स्ववत्सकान् कृष्णवत्सेषु योजितवन्त इत्याह कृष्ण वत्सैरिति ।

आभासार्थ—नीचे के श्लोक में कहते हैं कि उन सब ग्वाल बालों ने अपने २ बछड़ों को कृष्ण के बछड़ों में सम्मिलित कर दिया ।

श्लोक—**कृष्णवत्सैरसङ्ख्यातैर्यूथीकृत्य स्ववत्सकान् ।**
चारयन्तोर्भलीलाभिर्विजह्रुस्तत्र तत्र ह ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ—श्री कृष्ण के अगणित बछड़ों के साथ अपने बछड़ो के यूथों को मिलाकर उनको चराते हुए वे बालक जहाँ तहाँ बच्चों के खेल खेलने लगे ।

सुबोधिनी—भगवद्वत्सैः सह स्ववत्सान् यूथीकृत्य, अन्यथा स्वच्छन्दलीला न भवति, ततोपि पृथग्भूतान् कदाचिन्निर्गच्छन्तोर्भलीलाभिरेव तांश्चारयन्तो विजह्रुः तत्रतत्र क्रीडितवन्तः ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थ—ग्वाल बाल अपने अपने दस-दस सहस्र बछडों को लेकर निकले। जब व्रज से बाहर आए, तब विचार करने लगे कि, यदि हम अपने बछड़ों को श्रीकृष्ण के बछड़ों के साथ मिलाकर नहीं चरायेंगे तो हम, जो वन में खेल खेलने आएं हैं, वे खेल स्वच्छन्दता[1] से खेल नहीं सकेंगे। इसलिए हमको अपने बछड़े श्रीकृष्ण के बछड़ों के साथ मिला देना चाहिए। यों विचार कर अपने बछड़े श्रीकृष्ण के साथ में कर दिए। अतः आचार्यश्री कहते हैं कि भगवान् के बछड़ों के साथ अपने बछड़ों को मिला दिया जो नहीं मिलाते तो स्वच्छन्द लीला (क्रीडा) न हो सकती थी यों करने पर भी यदि कोई बछड़े अलग कहीं निकल जाते तो बालक्रीडा करते हुए उनको भी साथ में चरा लेते हुए भिन्न-भिन्न स्थानों में खेलते थे ॥ ३ ॥

आभास—फलादिभिश्च स्वशरीरं भूषितवन्त इत्याह फलेति।

आभासार्थ—उन सब ने अपने अपने शरीर को फुलादि से सजाया। इसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**फलप्रवालस्तबकसुमनःपिच्छधातुभिः।**
काचगुञ्जामणिस्वर्णभूषिता अप्यभूषयन् ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ—यद्यपि ग्वाल बालों ने काच, गुञ्जा,[2] मणि और सुवर्ण का शृङ्गार पहले किया था तो भी वन में जाकर उन्होंने अपने को फल, कोंपल, गुच्छों, पुष्प, मोर पंख और धातुओं से सजाया।

सुबोधिनी—पूर्वं काचादिभिर्भूषिता अपि पुनर्वन्यैरभूषयन्, स्तबकाः पुष्पगुच्छानि, सुमनसः केवलपुष्पाणि, पिच्छानि मयूरपिच्छानि, गैरिकादिधातवः, गुञ्जाफलानि वन्यान्यपि नित्यं तिष्ठन्तीति काचादिषु गणितानि ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ—प्रथम काच आदि से विभूषित थे तो भी वन में उत्पन्न पुष्पों के गुच्छे केवल पुष्प, मोर पिच्छ, गेरुँ आदि धातुओं, गुञ्जाफल आदि पदार्थों से अपने को भूषित करने लगे।

घूंघची वन में उत्पन्न होने से फल होते भी इसकी गणना काच में की जाती है। कारण कि फल सदा नहीं रहते हैं ये नित्य होती है।

आभास—बालकानामन्योन्यं क्रीडामाह मुष्णन्त इति।

आभासार्थ—निम्न श्लोक में बालकों का परस्पर रमण कहते हैं।

१—बिना रुकावट। २—घूंघची, चिरमी।

श्लोक---**मुष्णन्तोन्योन्यशिक्यादीञ् ज्ञातानाराच्च चिक्षिपुः ।**
तत्रत्याश्च ततो दूराद्धसन्तश्च पुनर्ददुः ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ--आपस में छींका आदि पदार्थ चुराते, जानने पर दूर से फेंक देते थे, और उस स्थान पर जो खड़े होते वे हंसते २ दूर से ही दे देते थे ।

सुबोधिनी—अन्योन्यस्य शिक्यादीन् मुष्णन्ति, ततोनेन मदीयं नीतमिति ज्ञात आराद् दूरादेव चिक्षिपुः प्रक्षिप्तवन्तः, ततोपि येषु ते शिक्यादयः पतितास्तेपि ताञ् छिक्यानन्यांश्च दूराच्चिक्षिपुः, ततो हसन्तश्च पुनर्ददुस्तेभ्य एव ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ—एक दूसरे के छीके आदि चुरा लेते । जब किसी को पता पड़ जाता कि इसने मेरा छींका आदि ले लिया है तो वहां से दूर फेंक देते थे । फेंके हुए छींके जिनके ऊपर गिरते वे भी उन छीकों को तथा दूसरों को भी फेंक देते थे, फिर हँसते हुए उनको ही लौटा देते थे

श्लोक—**यदि दूरं गतः कृष्णो वनशोभेक्षणाय तम् ।**
अहम्पूर्वमहम्पूर्वमिति संस्पृश्य रेमिरे ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ--जब वन की शोभा देखने के लिये श्रीकृष्ण दूर चले गये तो मैं पहले, मैं पहले, श्रीकृष्ण को छूवूंगा ऐसा कहके खेलते थे ।

सुबोधिनी—यदि दूरं गतः कृष्णो भवति तदा तस्मिन् दूरं ते वनशोभाया दर्शनार्थमहं पूर्वं स्प्रक्ष्यामीत्यहमिकया भगवन्तं संस्पृश्य रेमिरे ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ--जब देखते कि श्रीकृष्ण दूर चले गये हैं और जान लेते कि वन की शोभा देखने के लिए दूर गए हैं तब में पहले कृष्ण को छू लूंगा इस प्रकार स्पर्धा पूर्वक कहते सब ग्वाले श्रीकृष्ण को छू कर खेलते थे ॥ ६ ॥

श्लोक----**केचिद् वेणून् वादयन्तो ध्मान्तः शृंगाणि केचन ।**
केचिद् भृंगैः प्रगायन्तः कूजन्तः कोकिलैः परे ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ---कितने ही बंसी बजाते थे कितने ही सींगे की ध्वनि कर रहे थे कोई कोई भ्रमरों के साथ उनके समान गुँजर करते थे कोई कोई तो कोयलों के स्वर में स्वर मिला कर कुहु कुहु कर रहे थे ।

सुबोधिनी—तत्र केचिद् बाला वेणून् वादयन्तो जाताः केचन शृंगाणि ध्मान्तो वादयन्तो जाताः, केचित् पुनर्भृङ्गैः सह तथैव गायन्तस्तथैव कोकिलैः सह कूजन्तः ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ—वहाँ कितने ही बालक वेणुनाद करने वाले बने, कितने ही सींग बजाने वाले हुए, कितने ही भ्रमरों के साथ उनके सहगान करते थे, कितने ही कोयलों के साथ वैसा कूजन करते थे ॥ ७ ॥

श्लोक---**विच्छायाभिः प्रधावन्तो गच्छन्तः साधु हंसकैः ।**
बकैरुपविशन्तश्च नृत्यन्तश्च कलापिभिः ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ---पक्षियों की छाया के साथ दौड़ते थे, हंसों के साथ अच्छी तरह चलते थे, बकों की पंक्ति के साथ बैठ जाते थे, मयूरों के साथ नृत्य करते थे ।

सुबोधिनी---केचित् पुनरुपरि गच्छतां **वयसां** छायाभिर्मण्डलाकृतिभिः प्रकर्षेण धावन्तो जाता **हंसैः** सह **साधु गच्छन्तश्च बकैः** सह तथैवोपविशन्तः **कलापिभिर्मयूरैः** सह नृत्यन्तश्च जाताः ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थ—कितने ही बालक आकाश में गोलाकार बनकर उड़ते हुए पक्षियों की जो परछाईं पृथ्वी पर पड़ती हुई दौड़ती जाती थी उसके साथ उत्कर्ष पूर्वक दौड़ते थे। कितने ही हंसों के साथ अच्छी तरह चलते थे उसी प्रकार बकों के साथ उनकी तरह बैठ जाते थे कितने ही मयूरों के साथ नृत्य करते थे ॥ ८ ॥

श्लोक---**विकर्षन्तः कीशबालानारोहन्तश्च तैर्द्रुमान् ।**
विकुर्वन्तश्च तैः साकं प्लवन्तश्च पलाशिषु ॥ ९ ॥

श्लोकार्थ---बंदरों की पूछें खेंचते हुए उनके साथ पेड़ों पर चढ जाते थे । उनके साथ दाँत निकाल कर मुख मोड़ते और वृक्षों पर कूदते थे ।

सुबोधिनी—**कीशा** लम्बपुच्छा वानरास्तेषां बालान् पुच्छानि विशेषेण कर्षन्तो बालानेव च धृत्वा **तैः** सह **द्रुमानारोहन्तो** मुखविकारांश्च **कुर्वन्तो** मर्कटवदेव **पलाशिषु** वृक्षेषु **प्लवन्त** उत्प्लुत्य गच्छन्तो भूमौ च ॥ ९ ॥

व्याख्यार्थ—बन्दरों की अनेक प्रकार की जातियाँ होती है, उनमें एक जाति है जिस की पूंछें लम्बी होती हैं उस जाति के बन्दरों को संस्कृत में कीश कहते हैं। बाल शब्द के दो अर्थ होते हैं---पशु की पूंछ. २ बच्चे । आचार्यश्री दोनों अर्थ करते हैं। १ लम्बो पूंछ वाले बन्दरों की पूंछे जोर से खींचते थे । २ बन्दरों के बच्चों को खींचकर उनके साथ पेंड़ो पर चढ जाते थे । बंदरों की तरह दाँत निकालते थे और पृथ्वी पर चलते २ उनके समान वृक्षों पर कूदते जाते थे ॥ ९ ॥

श्लोक---साकं भेकैर्विलङ्घन्तः सरित्प्रस्रवसम्प्लुताः ।
विहसन्तः प्रतिच्छायाः शपन्तश्च प्रतिस्वनान् ॥ १० ॥

श्लोकार्थ---मेंडकों के समान उछलते हुए चलते थे । नदो और झरनों में डुबकियाँ लगाते थे । परछाइयों को हँसते और प्रतिध्वनि (गूंज) को अपशब्द कहते थे।

सुबोधिनी—भेकैर्मण्डूकैः सह, सरितो नद्यः, प्रस्रवा झरणाः, सम्प्लुतास्तैरेव, गर्ता वा स्त्रीलिङ्गपाऽश्रिन्त्यः, प्रतिच्छाया दर्पणादिप्रतिबिम्बानि प्रतिस्वनांस्तटादिषु निर्गताञ् छब्दान् स्वशब्दानुरूपाञ् छपन्तश्च भवन्ति ॥१०॥

व्याख्यार्थ—मेंडक जिस प्रकार भूमि पर उछलते हुए चलते हैं वैसे ही ग्वाले भी उनके साथ उसी प्रकार पृथ्वी पर चलते थे । जिस तरह मेंडक नदी और झरणों में डुबकियाँ मार कर नहाते हैं वैसे ही वे ग्वाल बाल भी उनके साथ नदी और झरणों में डुबकियाँ मारते हुए नहाते थे । 'संप्लुत' शब्द जो श्लोक में दिया हैं उसका दूसरा अर्थ गढ़े भी होता है । अतः इसका अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है । वे जैसे कि ग्वाल बाल मेंडकों के साथ नदी, झरणों और गढ़ों को कूद जाते थे, दर्पण आदि में पडे हुए प्रतिबिम्बों का तथा किनारों पर जो प्रतिध्वनियाँ आती थीं उन सबका तिरस्कार (अपमान) करते थे ॥ १० ॥

आभास--तेषां भाग्यमभिनन्दतीत्थमितिद्वाभ्या ।

आभासार्थ—निम्न कहे हुए दो श्लोकों में उनके भाग्य की प्रशंसा करते हैं ।

श्लोक--इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन ।
मायाश्रितानां नरबालकेन सार्धं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ—जो भगवान् ज्ञानियों को ब्रह्मरूप और आनन्दरूप से केवल अनुभव में आते हैं ऐसे भाव वाले भक्तों का परम दैवत रूप है माया से मोहित पुरुषों के लिये मनुष्य बालरूप है वैसे भगवान् से वे ग्वाल बाल क्रीड़ा कर रहे हैं इससे जाना जाता है कि इन्होंने कोई पुण्य पुञ्ज इकट्ठा कर रक्खा है जिससे ये भगवान् से रमण कर सके हैं ।

सुबोधिनी—लोका त्रिविधा ज्ञानिनो भक्ताः प्राकृताश्च, तत्र भगवान् सर्वेषां तत्तद्बुध्यनुसारेण स्फुरति "तं यथायथोपासते तथैव भवती" तिश्रुतेः, तत्र सतां ज्ञानिनां ब्रह्मरूपः सद्रूपः सुखरूप आनन्दरूपोनुभुतिरूपो ज्ञानरूपस्तादृशेन सह ते विजह्रुरिति बालकानां भाग्यं दास्यं गतानां भक्तानां परो नियन्ता स्वामी दैवतमाराध्यो मायाश्रितानां प्राकृतानां केवलं नरबालकः, एवं सर्वैः सर्व प्रकारेणापि विभाव्येन सार्धं कृतः पुण्यपुञ्जो यैस्ते विजह्रुः ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थ—जगत् में लोग तीन प्रकार के होते हैं। १—ज्ञानी, २—भक्त, और ३—प्राकृत (प्रकृति के आधीन)। इसलिये जो जैसा है उसकी बुद्धि में भगवान् वैसे ही दिखते हैं, क्योंकि श्रुति में कहा है कि 'तंयथा यथोपासते तथैव भवति' परमात्मा की जो जिस भाव से उपासना करता है भगवान् उसको उसी प्रकार से दर्शन देते हैं जैसे कि ज्ञानियों की बुद्धि में सद्रूप ब्रह्मस्वरूप से आनन्दरूप से और अनुभूतिरूप-ज्ञान स्वरूप से स्थित होते हैं। वे ज्ञानी उस स्वरूप से रमण करते हैं अर्थात् आनन्द प्राप्त करते हैं।

दास-भाव को प्राप्त भक्तों का नियन्ता (प्रेरक-सारथि) और स्वामी तथा आराध्य (सेव्य) है। वे (भक्त) इनमें ही खेलते हैं अर्थात् आनन्द मग्न हो जाते हैं।

प्राकृतों (प्रकृति (माया) के आधीनों) को भगवान् केवल मनुष्य-बालक प्रतीत होते हैं। वे उसमें ही सन्तुष्ट रहते हैं। जिन्होंने पुण्य पुञ्ज इकट्ठे किए हैं वे सब ग्वाल-बाल अपने अपने भावानुसार उन (भगवान्) से क्रीड़ा करते थे जो सबों को उनकी भावना के अनुसार आनन्द प्रदान करते थे। इन ग्वालों के बड़े भाग्य हैं॥ ११॥

आभास—महच्च तेषां भाग्यं यत् तेषां दृष्ट्यग्रे भगवांस्तिष्ठतीत्याह यत्पादपांसुरिति।

आभासार्थ—वे ग्वालबाल बड़े भाग्यशाली हैं जो उनकी दृष्टि के आगे (देखने में) भगवान् बिराजमान हैं। इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः।**
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः किं वर्ण्यते दिष्टमतो व्रजौकसाम्॥ १२॥

श्लोकार्थ—बहुत जन्म तक कष्ट सहकर मन को वश करने वाले योगीजनों को भी जिनके चरण की रज दुर्लभ है, वे ही आप भगवान् जिनकी दृष्टि के सामने प्रत्यक्ष विराज रहे हैं। उन व्रजवासियों के भाग्य का क्या कहां तक वर्णन करूँ।

सुबोधिनी—बहुजन्मतपसा जितेन्द्रियैर्योगिभिरपि शरीरेन्द्रियान्तःकरणशुद्धियुक्तैरपि यत्पादपांसुरलभ्यः स एवैष कृष्णो येषां बालकानां सर्वेषापेव व्रजस्थितानां वा स्वयमेव स्थितो न तु तैः प्रार्थितोपि अतो व्रजौकसां भाग्यमवाङ्मनोगोचरं किं वर्ण्यते ?॥ १२॥

व्याख्यार्थ—बहुत जन्म की तपस्या से जितेन्द्रिय और शरीर इन्द्रियां तथा अन्तःकरण से शुद्ध हुए योगीजन भी जिनको चरण रज प्राप्त नहीं कर सकते हैं वे ही यह कृष्ण स्वयं बिना प्रार्थना के जिन बालकों के अथवा सकल व्रजवासियों के नेत्रों का विषय हो रहे हैं। उन व्रजवासियों के भाग्य का वर्णन वाणी और मन से नहीं हो सकता है तब उनके भाग्य का वर्णन कैसे किया जाए॥१२॥

आभास—एवं क्रीडायां मध्येघासुरः समागत इत्याहाथेत्येकविंशतिभिस्तस्य मुक्त्यन्ता कथा निरूप्यते ।

आभासार्थ—इस प्रकार वे खेल ही रहे थे तो वहाँ अघासुर नामक दैत्य आ गया । उसके मारने तक की समग्र कथा का वर्णन २१ श्लोकों से करते हैं ।

श्लोक—**अथाघनामाभ्यपतन्महासुरस्तेषां सुखक्रीडनवीक्षणाक्षमः ।**
नित्यं यदन्तर्निजजीवितेप्सुभिः पीतामृतैरप्यमरैः प्रतीक्ष्यते ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ—तदनन्तर इन लोगों की सुखपूर्वक क्रीड़ा को सहन न करता हुआ अघासुर नाम वाला बड़ा दैत्य वहाँ आया अमृतपान कर अमर बने हुए देव भी अपने जीने की इच्छा से जिसके मरने के दिन की नित्य प्रतीक्षा[1] कर रहे हैं ।

सुबोधिनी—अघोन्वर्थनामा तेषां बालकानां सुखक्रीडनस्य वीक्षणेप्यक्षमा यस्य, नित्यं सर्वदा यदन्तरघासुरनाशेमरैः प्रतीक्ष्यते, तत्रहेतुर्निजजीवितेप्सुभिरिति, यद्यपि ते पीतामृताः, अतोयमत्यन्तं दुष्टोमृतादीनामपि वस्तुसामर्थ्यनाशकः ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थ—इस (अघासुर) का नाम भी सार्थक था (अघ) कहते हैं पाप को पाप में जितनी बुराईयाँ होती है उतनी ही इसमें थी । विशेष, असुर तो था ही अतः इन (ग्वालबालों) की आनन्दप्रद क्रीड़ा देखकर सहन नहीं कर सका । वह इतना तो पाप पुञ्ज था, जो अमृत पिये हुए अमरदेव भी अपने जीने के लिए इसके मरने की नित्य प्रतीक्षा कर रहे थे क्योंकि उन (देवों) को यह ज्ञान था कि अमृत में जो अमर बनाने की शक्ति है उस शक्ति को भी यह मिटा सकता है ॥१३॥

श्लोक—**दृष्ट्वार्भकान् कृष्णमुखानघासुरः कंसानुशिष्टः स बकीबकानुजः ।**
अयं तु मे सोदरनाशकृत् तयोर्द्वयोरथैनं सबलं हनिष्ये ॥१४॥

श्लोकार्थ—कंस के भेजे हुए पूतना और बक का छोटा भ्राता अघासुर श्रीकृष्ण की प्रमुखता वाले सब ग्वाल बालों को देख कर, विचार कर, कहने लगा कि यह (श्रीकृष्ण) जो मेरे भाई तथा बहिन को नाश करने वाला है इसलिये उसके बदले में सेना सहित इसका नाश करूँगा ॥ १४ ॥

१—बाट देखना, इन्तजार करना ।

सुबोधिनी—अर्भकान् बालकान् कृष्ण एव प्रमुखो येषां कंसेन प्रेषितः स प्रसिद्धो बकी पूतना बकश्च तयोरनुजः, तस्य संकल्पमाहायं त्विति, त्विति पक्षान्तराणि व्यावर्तयति अयं तु भगवान् मे सोदरयोर्भ्रात्रोर्नाशकर्ता न कर्मकालादि, अतस्तयोर्द्वयोरर्थं उपद्रवं करिष्यामीति ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थ—श्रीकृष्ण जिनकी अगवानी कर रहे थे उन सब (ग्वालबालों) को देख कर, कंस के भेजे हुए, पूतना और बक के प्रसिद्ध छोटे भाई ने जो विचार किया उसका वर्णन उत्तरार्द्ध में करते हैं यह भगवान् ही 'मेरी बहिन पूतना और भाई बक को मारने वाला है। श्लोक में (तु) शब्द इसलिये दिया है कि अघासुर का यही निश्चय था कि मेरी बहिन तथा भाई की काल ने मृत्यु नहीं की है और कर्मों के कारण भी उनकी आयु पूरी नहीं हुई थी। अतः इस (कृष्ण) ने ही मारा है अर्थात् दूसरे किसी काल और कर्म ने नहीं मारा है। इस कारण से मैं दोनों के नाश के बदले में उपद्रव करूंगा अर्थात सैन्य सहित इस (कृष्ण) का नाश करूंगा ॥१४॥

आभास—ततो बालकाना मप्युपद्रवो भविष्यतीत्याहैत इति।

आभासार्थ—इस प्रकार करने से बालकों के लिये भी उत्पात होगा जिसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक----**एते यदा मत्सुहृदोस्तिलापः कृतास्तदा नष्टसमा व्रजौकसः।**
प्राणे गते वर्ष्मसु कानुचिन्ता प्रजासवः प्राणभृतो हि ये ते ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ—जब ये सब, मेरे मित्रों के बक और बकी (पूतना) के तिल और जल होंगे तब व्रजवासी मरे हुए के समान हो जायेगें। प्राणों के जाने के पीछे देहकी चिन्ता कैसी ? देहधारियों के प्राण तो बालक ही हैं।

सुबोधिनी—मत्सुहृदोर्मद्भ्रात्रोस्तिलापः कृतास्तिलोदकप्राया मृतानां तृप्तिहेतवः, तदा व्रजौकसो गावः स्त्रीपुरुषाश्च नष्टसमा नष्टप्रायाः, यथा प्राणे गते वर्ष्मसु देहेषु गमनार्थं का चिन्ता ? बालकाश्च व्रजवासिनां प्राणरूपाः यतः प्राणभृतः प्रजासवः प्रजैवासवः प्राणा येषाम् ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थ—मृतकों की तृप्ति करने वाले तिल और जल होते हैं। ये जब मेरे बन्धुओं के तृप्ति कराने के लिये तिल जल रूप होगें तब व्रजवासी, गौ और पुरुष नाश हुओं के समान बन जाएंगे। जब प्राण ही चले गये तो देह के जाने की चिन्ता काहे की ? व्रजवासियों के बालक ही प्राण हैं। बालकों के जाने पर वे भी नहीं रहेंगे ॥ १५ ॥

श्लोक—**इति व्यवस्याजगरं बृहद् वपुः स योजनाययमहाद्रिपीदवरम्।**
धृत्वाद्भुतं व्यात्तगुहाननं तदा पथि व्यशेत ग्रसनाशयः खलः ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ—ऐसा निश्चय कर सब को निगल जाने की आशावाला वह खल एक योजन लम्बा बड़े पर्वत के समान स्थूल बड़े अजगर जैसा देह धारण कर गुफा के सदृश[1] मुंह फाड़कर मार्ग में सो गया ।

सुबोधिनी—इत्यध्यवसायं कृत्वाजगरमजगरवत् स्थूलं वपुर्धृत्वा पथि व्यशेत योजनमात्रमायामो विस्तारो यस्य वपुषः, महाद्रिवत् पर्वतवत् स्थूलं भ्रमार्थमत्यद्भुतं व्यात्तं गुहावदाननं यत्र ग्रसनार्थमेव शयनं कृतवान्, दया तु नास्ति यतः खलः ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार अपनी बहिन और भाई को इनको मारकर तृप्त (प्रसन्न) करने का निश्चय कर एक योजन विस्तार वाला महापर्वत के समान स्थूल, भ्रम उत्पन्न करने के लिये अपना मुख गुफा जैसा बनाकर बड़े अजगर रूप से सबको निगलने के लिए मार्ग में सो गया । इसका कारण बताते हैं श्लोक में (खलः) विशेषण दिया है । जिसका भाव है कि वह खल होने से निर्दयी था ॥ १६ ॥

आभास—तस्य रूपमनुवर्ण्यति ।

आभासार्थ—इसके रूपका वर्णन नीचे के श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**धराधरोष्ठो जलदोत्तरोष्ठो दर्याननान्तो गिरिशृंगदंष्ट्रः ।**
ध्वान्तान्तरास्यो विततोध्वजिह्व-परुषानिलश्वासदवेक्षणोष्णः ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ—नीचे का होठ पृथ्वी पर और ऊपर का बादलों को छूता था मुख का मध्य भाग (जबड़े) गुफा के समान, दाढ़ें पर्वत के शिखर के सदृश, मुख के अन्दर का भाग अन्धकार के समान, जीभ इतनी लम्बी मानो कोई सड़क बनी हुई है, श्वास कठोर पवन के समान और आँखें दावानल के जैसी गर्म थीं ।

सुबोधिनी—धरेति, धरायां भूमावधरोष्ठं यस्य, जलदेषु मेघेषूत्तरोष्ठं यस्य, दरीवत् कन्दरवदाननान्तो मुखमध्यं यस्य, गिरेः शृंगवद् दंष्ट्रा यस्य ध्वान्तयुक्तमन्तरास्यं, विततोध्ववत् मार्गवज् जिह्वा यस्य, परुषः स्पर्शदुःसहो योनिलस्तद्वच् छ्वासः, दववद् दवानलवदीक्षणयोरुष्णःस्पर्शो यस्य, श्वासेन सहित ईक्षण उष्णो वा, तादृशमपि दृष्ट्वा बालका न भीताः किन्तु स्वेष्टत्वेनैव कल्पितवन्तः ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थ—उसके (अजगर के) रूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिसका नीचे का होठ पृथ्वी पर है और ऊपर का होठ बादलों में हैं मुख का मध्य भाग (जबड़े) कन्दरा के

१—समान ।

समान है, जिसकी दाढ़ें गिरिशिखर के समान लम्बी थीं, मुख के अन्दर का भाग जिसका अन्धकार-युक्त है, जिसकी जीभ लम्बी सड़क जैसी है, जिसके श्वास असह्य पवन (लू) जैसे हैं जिसके आँखों का स्पर्श जंगल की अग्नि के समान उष्ण है अथवा श्वास सहित ईक्षण (आँखें) उष्ण स्पर्श वाली है। ऐसे भी अजगर को देखकर बालक घबराए नहीं किन्तु उस रूप को अपना इष्ट रूप समझा अर्थात् खेलने का खिलौना समझा ॥ १७ ॥

आभास--अत एव तेषां न भयं जातमसद्भावाभावादित्याशयेनाह तं दृष्ट्वेति ।

आभासार्थ—यह असुर है, हमको नाश करने के लिये इसने ऐसा रूप धारण किया है इस प्रकार का उन बालकों में असत् भाव (दुष्ट भाव, दोष वाला भाव) नहीं था इसलिये वे डरे नहीं। इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक--**तं दृष्टवा तादृशं सर्वे मत्वा वृन्दावनश्रियम्।**
व्यात्ताजगरतुण्डेन ह्युत्प्रेक्षन्ते स्म लीलया ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ--इस प्रकार के इस अजगर को देखकर सब बालक उसको वृन्दावन की सम्पत्ति समझ खेलते खेलते फटे हुवे अजगर के मुख की समानता करने लगे।

सुबोधिनी—तं तादृशं दृष्ट्वा वृन्दावनश्रीरेवैषेति मत्वा क्षणं ध्यात्वा भवति न वेत्यजगरतुण्डतुल्यत्वेन श्रियमेवोत्प्रेक्षितवन्तः, श्रीरेषा परमजगरतुण्डवद् दृश्यत इति, स्मेतिप्रसिद्धिः, स्वस्य भयाभावाल्लीलया यत्किञ्चित् कल्पयन्ति स्म ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ—उसको वैसा देखकर यह वृन्दावन की शोभा है यों मान लिया यह वृन्दावन की शोभा है वा नहीं इसका एक क्षण विचार कर कहने लगे कि यह है तो वृन्दावन की शोभा-सम्पत्ति अर्थात् खिलौना, किन्तु अजगर के मुख समान देखने में आता है। इस प्रकार के विचार से उन्होंने इसको वृन्दावन की श्री मान ली। अतः बालक निर्भय होकर जो चाहे उसकी कल्पना करने लगे। इसलिये श्लोक में (स्म) शब्द प्रसिद्धि वाचक दिया हैं ॥ १८ ॥

आभास--कल्पनामेवाह पञ्चभिः, ।

आभासार्थ—निम्न पांच श्लोकों से बालकों ने उस (अजगर) के विषय में कल्पनाएँ की उस का वर्णन करते हैं।

श्लोक--**अहो मित्राणि गदत सत्त्वकूटं पुरःस्थितम्।**
अस्मत्संग्रसनव्यात्तव्यालतुण्डायते न वा ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ—अहो! मित्रों! यह जो सामने देखने में आरहा है, वह किसी कपटी प्राणी के समान है या नहीं। उस पर भी अपने को निगलने के लिए अजगर के फटे हुए मुख के समान लगता है वा नहीं यह कहो।

सुबोधिनी—अहो इत्याश्चर्य, मित्राणि सर्वाणि गदत इति सम्बोधनं वा, सत्त्वकूटं कपटसत्त्वं पुरःस्थितमग्रे वर्तमानमस्मत्सङ्ग्रसनार्थमेव व्यात्तं प्रसारितं व्यालतुण्डमिवाचरति न वेतिनिर्णषो वक्तव्य इत्यर्थः ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थ—बालकों ने यह देखकर आश्चर्य प्रकट किया इसलिये श्लोक में (अहो) शब्द दिया है। हे मित्रों ! आप सब निर्णय करके कहो कि यह सामने स्थित कपटी प्राणी अपने को निगलने के लिये ही अजगर के फटे हुए मुख के सदृश आचरण करता है वा नहीं ॥ १९ ॥

आभास—तत्र नवापक्षं दूरीकृत्योत्प्रेक्षार्थं व्यालतुण्डत्वमेव सम्पादयन्ति सत्यमिति।

आभार्थ—ऊपर के श्लोक में किए हुए प्रश्न के उत्तर में कितने ही बालक कहने लगे कि यह कपटी प्राणी नहीं हैं किन्तु अनुमान से कहा कि यह अजगर का मुख ही हैं। उसका वर्णन नीचे श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**सत्यमर्ककरारक्तमुत्तराहनुवद् घनम्।**
अधराहनुवद्रोधस्तत्प्रतिच्छाययारुणम् ॥ २० ॥

श्लोकार्थ—वास्तव में सूर्य की किरणों से थोड़ासा लाल ऊपर के होंठ के समान बादल और उसकी छाया से लाल हुआ यह स्थल नीचे के होंठ के समान दिखाई देता है।

सुबोधिनी—अर्ककरैरारक्तमुत्तराहनुवद् घनं पश्यत अधराहनुवद् रोधश्च तस्यैवारक्तमेघस्य प्रतिच्छाययारुणवर्णम् ॥ २० ॥

व्याख्यार्थ—सूर्य की किरणों से थोड़े से लाल हुए ऊपर के होंठ के समान बादल को देखो और उसकी परछाईं से लाल नीचे भाग के होठ के सदृश नदी तट को देखो ॥ २० ॥

श्लोक—**प्रतिस्पर्धते सृक्किभ्यां सव्यासव्ये नगोदरे।**
तुङ्गशृगांलयोप्येतास्तद्दंष्ट्राभिश्च पश्यत ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ—बांयी और दाहिनी पर्वत की दोनों गुफाएँ होठों के पास वाले हिस्सों से क्या होंड नहीं करती है ? ऊँचे पर्वत के शिखर, उसकी दाढ़ों की होड करते हैं।

सुबोधिनी—सृक्किणीभ्यां कृत्वा सव्यासव्ये पर्वत-कन्दरे प्रतिस्पर्धेते, वस्तुतः कन्दरैव सृक्किणीव दृश्यते, तुंगानां शृंगाणामालयः पङ्क्तयोपि तद्दंष्ट्राभिः प्रतिस्पर्धन्ते, नात्र सन्देहः, पश्यत ॥ २१ ॥

व्याख्यार्थ—ओष्ठों के पास वाले हिस्सों से, वाम और दक्षिण तरफ वालीपर्वत की कन्दराएँ प्रतिस्पर्धा कर रही हैं। वास्तविक देखा जाय तो कन्दरा ही ओष्ठों के प्रान्त भाग की समान दिखती हैं। ऊँचे शिखरों की पङ्क्तियां भी उसकी दाढों से होड करती है। इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है। देखो ॥ २१ ॥

श्लोक—**आस्तृतायाममार्गोयं रसनां प्रति गर्जति।**
येषामन्तर्गतं ध्वान्तमेतदप्यन्तराननम् ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ—यह योजन नापवाला लम्बा मार्ग जिह्वा जैसा मालूम होता है जिसके अन्दर का यह अन्धेरा भी मुख के मध्य-भाग के समान भासता है।

सुबोधिनी—आस्तृत आसमन्तादायाममार्गो योजनपरिमितो रसनां प्रति गर्जति रसनावद् भासते, गर्जनादिकं तुल्यत्वाय, येषां शृङ्गाणां दंष्ट्राणामन्तर्गतमपि ध्वान्तमन्तराननं प्रति गर्जति ॥ २२ ॥

व्याख्यार्थ—यह चारों ओर विस्तारवाला योजन पर्यन्त मार्ग जिह्वा के सदृश भास रहा है। गर्जना आदि तो समानता बताती हैं। शिखर पर्वतों की दाढें हैं उनके भीतर का अन्धकार, मुख के भीतर के अन्धकार जैसा दिखता है ॥ २२ ॥

श्लोक—**दावोष्णखरवातोयं श्वासवद् भाति पश्यत।**
तद्दग्धसत्त्वदुर्गन्धोप्यन्तरामिषगन्धवत् ॥ २३ ॥

श्लोकार्थ—दावाग्नि[1] से गर्म यह कठोर वायु श्वास के समान भासता है। देखो दावाग्नि से जले हुए प्राणियों की दुर्गन्ध भी भीतर रहे अपक्व मांस जैसी लगती है।

सुबोधिनी—वातोयं, दावानलेन वोष्णः, श्वासवद् भाति पश्यत विचारयत, तत्र दावानले दग्धानां सत्त्वानां दुर्गन्धोन्तरोदरे यदामिषमपक्वमांसं यत् तेन भक्षितं तस्य गन्धवद भाति ॥ २३ ॥

व्याख्यार्थ—यह पवन दावाग्नि के समान उष्ण और कठोर है। अथवा दावाग्नि से जो

१—वन में लगी हुई आग।

यह पवन उष्ण और कठोर हुआ है। वह पवन जैसा भासमान होता है इसको देखो अर्थात् इसका विचार करो: दावानल में जले हुए जानवरों की दुर्गन्ध वैसी लगती है, जैसे पेट के भीतर खाए हुए कच्चे मांस की दुर्गन्ध हो ।। २३ ।।

आभास---तर्ह्येवं सति किं कर्तव्य मित्याशङ्क्य गन्तव्यमेवेति निर्धार्य बाधकं दूरीकुर्वन्त्यस्मानिति ।

आभासार्थ--जो हमको निगलने के लिये यह आया हो तो क्या करना चाहिये इस प्रकार शंका कर निर्णय करते हैं कि कैसा भी हो हमको इसके भीतर घुसना ही चाहिये । इसमें आनेवाले प्रतिबन्धों को हटाते हैं जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**अस्मान् किमत्र ग्रसिता निविष्टानयं तथा चेद् बकवद् विनङ्क्ष्यति ।**
क्षणादनेनेति बकार्युशन्मुखं वीक्ष्योद्धसन्तः करताडनैर्ययुः ॥२४॥

श्लोकार्थ---इसमें घुसे हुए अपने को क्या यह निगलेगा ? यदि निगलेगा तो बक के समान श्रीकृष्ण के हाथ से यह भी शीघ्र नाश हो जाएगा यों कहकर भगवान् के सुन्दर मुख का दर्शन करते हुए ये बालक तालियां बजाते हुए हँसते हँसते उसके मुख में घुसने लगे ।

सुबोधिनी—अत्र प्रवीष्टानस्मान् किमयं ग्रसिष्यति ? तथा चेद् बकवदेव क्षणदेव नाशं यास्यत्यनेनैव कृष्णेनैवैषोघ इति निश्चित्य वकारेर्भगवत उशत् कमनीयं मुखं विक्ष्योर्ध्वं हसन्तः करताडनैः सहिताः प्रवेष्ठुं ययुः ।। २४ ।।

व्याख्यार्थ--इसमें प्रविष्ट हम लोगों को क्या यह ग्रसेगा ? यदि ग्रसेगा तो बक की तरह यह पापी भी क्षणमात्र में श्रीकृष्ण के हाथ से मृत्यु को प्राप्त हो जाएगा यह निश्चय कर बक के शत्रु भगवान् के सुन्दर मुखारविन्द को देखकर ऊँची आवाज़ से हँसते हुए तालियाँ बजाते हुए उसके मुख में प्रवेश करने लगे ।। २४ ।।

श्लोक---**इत्थं मिथोतथ्यमतज्ज्ञभाषितं श्रुत्वा विचिन्त्येत्यमृषा मृषायते ।**
रक्षो विदित्वाखिल भूतहृत्स्थितः स्वानां निषेद्धुं भगवान् मनो दधे ॥२५॥
तावत् प्रविष्टास्त्वसुरोदरान्तरं परं न जीर्णाः शिशवः सवत्साः ।
प्रतीक्षमाणेन बकारिवेशनं हतस्वकान्तस्मरणेन रक्षसा ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ---सर्वभूतों के हृदय में (अन्तर्यामी रूप से) स्थित भगवान् जानते थे कि यह राक्षस है। बालक अनजान होने से इसके (सत्यस्वरूप को) नहीं पहचानते हैं इसलिए जो कहते हैं वह असत्य है। यों विचार कर भगवान् ने इनको रोकने के लिए मन (ध्यान) दिया अर्थात् रोकने का विचार किया। इतने में तो वे बालक बछड़ों सहित अघासुर के पेट में पहुँच गए। किन्तु उसने (अघासुर ने) इनको निगला नहीं, क्यों कि वह श्रीकृष्ण के भीतर आने की राह देख रहा था कि कृष्ण आवें तो पीछे निगलने का कार्य करूंगा।

सुबोधिनी—भगवान् पुनर्मा प्रविशन्तु सर्पोयं भक्षणार्थं स्थित इति यावद् वदति तदर्थं चयावन् मनसि विचारयति तावदेव प्रविष्टा इति श्लोकद्वयसम्बन्धः, **इत्थं** पूर्वोक्तप्रकारेण **मिथो** बालकैस्तथ्यमेवातथ्यवद् **भाषितं** तेषां वाक्यं **श्रुत्वा विचिन्त्य** सत्यमयमजगर एवेति निश्चित्यामृषैव राक्षसो **मृषायतेजगरवत्** तिष्ठति श्रीरिव वा बुद्धिमुत्पादयति, अतोयं राक्षस एवेति **विदित्वा स्वानां** निषेधार्थं स्वान् **निषेद्धुं** सर्वज्ञो भगवान् **मनो दधे** विचारितवांस्तावदेव बालका **असुरोदरान्तरं प्रविष्टाः सवत्सा** गतप्राणा अपि तदुदराग्निना **न जीर्णाः**, जरणे तेषामुपमर्दोपेक्ष्यते, स तु न जात इत्याह, **बकारिप्रवेशं प्रतीक्षमाणेन** हतयोर्बकीबकयोरन्तस्मरणं मृत्युस्मरणं यस्य तेन **रक्षसा** दृढवैरानुबन्धेन जातिदुष्टेनापि भगवत्प्रतीक्षया न जीर्णाः ॥ २५-२६ ॥

व्याख्यार्थ---ये बालक इसके मुख में प्रवेश नहीं करें क्योंकि यह सर्प निगलने के लिये यहाँ स्थित है। ऐसा विचार कर जब तक बालकों को कहें कि मत घुसो तब तक बालक उसके मुख में घुस गए। इस प्रकार दोनों श्लोकों का सम्बन्ध है इसलिये दोनों श्लोकों का अर्थ साथ में दिया है।

व्याख्यार्थ---इस प्रकार बालकों ने आपस में 'सत्य ही' असत्यवत् कहा। उनको सुनकर, विचार कर समझा कि यह सच्चा ही अजगर है। इस प्रकार निश्चय कर भगवान् कहने लगे कि यह राक्षस होते हुए भी अजगर के रूप का झूठा ढोंग करता है अथवा बालकों की बुद्धि में वृन्दावन की श्री का भ्रम उत्पन्न करता है। अतः यह वास्तविक राक्षस ही है यह जानकर अपने मित्रों को रोकने के लिए सर्वज्ञ भगवान् ने मन किया अर्थात् इच्छा को इतने में तो बालक बछड़ों सहित राक्षस के उदर के अन्दर प्रविष्ट हो गए। भीतर जाने पर प्राण रहित हो गए तो भी जठराग्नि ने उनको जलाया पकाया नहीं पक जाते तो उनका उपमर्द (रूपान्तर) हो जाता वह नहीं हुआ था। उनको क्यों नहीं जलाया उसका कारण कहते हैं कि अपने भाई और बहन (बक और बकी) का मरना उसे याद था जिससे भगवान् से दृढ़ बैर भाव वाला और जाति से भी दुष्ट होने से भगवान् की प्रतीक्षा[*] कर रहा था अर्थात् आने की राह देख रहा था। इसलिये उनको अपनी जठराग्नि

---

* अपने मन में यह निश्चय कर रक्खा था कि मेरे भाई बहिन को जिसने मारा है उसको मारूंगा ही। २) भगवान् आवें तो उन के साथ इनको भी पकालूँगा। —अनुवादक

१—बेपरवाही।

से पकाया नहीं ।। २५-२६ ।।

आभास--भगवतो विचारमाह तान्वीक्ष्येति ।

आभासार्थ--निम्न श्लोक में भगवान् के विचारों का वर्णन करते हैं।

श्लोक--तान् वीक्ष्य कृष्णः सकलाभयप्रदो ह्यनन्यनाथान् स्वकरादवच्युतान् ।
दीनांश्च मृत्योर्जठराग्निघासान् घृणार्दितो दिष्टकृतेन विस्मितः ।।२७।।

श्लोकार्थ--सबके अभयदाता जिनका नाथ दूसरा कोई नहीं है ऐसे भगवान् दीनों को अपने हाथ से निकल कर मृत्यु की जठराग्नि का ग्रास रूप बना हुआ देख के, दया से पीड़ित हुए और दैव के कृत्य से विस्मित हो विचार करने लगे ।

सुबोधिनी—कृष्णः सर्वेषामभयदाता तेषां गोकुलवासिनां च, सर्व एवानन्यनाथाः, न विद्यतेन्यो नाथो येषां, इदानीं च स्वकरादवच्युता अकस्मात् तन्मुखे पतिताः, नाप्चुपेक्षणीया दीनाः, मृत्योरघस्यैव जठराग्नेर्घासाः कवलरूपाः, दिष्टकृतेन तथाभूतांस्तान् दृष्ट्वा भगवान् विस्मितो जातः ।। २७ ।।

व्याख्यार्थ—श्रीकृष्ण, उन (बालकों) को गोकुलवासियों को और सबों को अभयदान देने वाले हैं । इन सर्व बालकों का मेरे बिना कोई दूसरा नाथ (रक्षक) नहीं है । अब इस समय मेरे हाथ से निकल गए हैं । और उसके मुख में पड़ गए हैं तो आप ही निकल आएँगे आप क्यों विचार करते हो ? इस पर कहते हैं कि नहीं ये (बालक) दीन हैं इसलिये उपेक्षा[1] के योग्य नहीं है। क्योंकि अघासुर जो मृत्युरूप है उसकी जठराग्नि के ग्रासरूप हो गए हैं। मैं ही इनका नाथ हूँ मुझे इनको यहाँ से निकालना चाहिये । प्रारब्ध के कारण इस दशा को प्राप्त हुए इनको देखकर भगवान् विस्मित हुए ।। २७ ।।

आभास---विचारयति कृत्यं किमत्रेति ।

आभासार्थ--यह देख कर भगवान् विचार करते हैं कि इस विषय में अब क्या करना चाहिए वह विचार निम्न श्लोक में बताते हैं ।

श्लोक--कृत्यं किमत्रास्य खलस्य जीवितं न वा अमीषां च सतां विनाशनम् ।
द्वयं कथं स्यादिति संविचिन्त्य तज् ज्ञात्वाविशत् तुण्डमशेषदृग्घरिः ।।२८।।

श्लोकार्थ---अब यहां क्या करना चाहिए ? यह दुष्ट अघासुर भी न बचे और

१—बेपरवाही ।

ये सत्पुरुष भी न मरें, ये दोनों बात कैसे सिद्ध हो इसका अच्छे प्रकार से विचार कर उसके उपाय का निश्चय कर, सर्व दृष्टा हरि उसके मुख में प्रविष्ट हुए ।

सुबोधिनी—यद्ययं मार्यते बालका अपि गमिष्यन्ति, अन्यान् कृत्वा गृहनयने कृतेप्येते नष्टा एव, अतो बालका रक्षणीया अयं च मारणीयः, एतदुभयं मत्प्रवेशेनैव भवतीति तुण्डमविशत्, यतोयमशेषदृग् घरिश्च सर्वदुःखहर्ता, अस्य खलस्य जीवितं यथा न स्यादमीषां वा सतां विनाशनं यथा न स्यादेतद् द्वयं कथं स्यादितिफलद्वयमेकं साधनं च सञ्चिन्त्य तादृशमुपायं ज्ञात्वा प्रविष्टः ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थ—जो इस (राक्षस) को मारेंगे तो ये बालक भी मर जाएंगे । यदि ये बालक मर जावें और दूसरे ऐसे ही बालक बनाकर ले चलें तो भी वे बालक तो मर ही गए । अतः ऐसी युक्ति करें जिससे ये बालक तो बच जाएँ और केवल राक्षस का नाश हो । ये दोनों कार्य तब सिद्ध होंगे जब मैं इसके मुख में प्रवेश करूंगा । यों निश्चय कर श्रीकृष्ण ने उसके मुख में प्रवेश किया । कारण कि यह सर्वद्रष्टा एवं सर्व दुःख हर्ता हैं । इस (मुख में प्रवेशरूप) एक ही साधन से दोनों फलों (राक्षस को मारना व बालकों को बचाना) की प्राप्ति, भगवान् ने समझ कर उसके मुख में प्रविष्ट हुए ॥ २८ ॥

श्लोक----**तदा घनच्छदा देवा भयाद्धाहेति चुक्रुशुः ।**
जहृषुर्ये च कंसाद्याः कौणपास्त्वघबान्धवाः ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ----इस समय बादलों की ओट में खड़े हुए देव हाहाकार करने लगे और अघासुर के सम्बन्धी कंसादिक राक्षस प्रसन्न हुए ।

सुबोधिनि—तदा देवाः कंसादयश्चाकाशमार्गेण द्रष्टुमागताः, तत्र तेवा घनच्छदा मेघान्तरिताः पश्यन्ति ते हाहेति चुक्रुशुः कंसाद्या जहृषुर्हर्षं प्रातवन्तः कंसाद्याः सर्व एव ये केचनाघस्य बान्धवाः कौणपा राक्षसाः ॥२९॥

व्याख्यार्थ—जिस समय अघासुर के मुख में भगवान् प्रविष्ट हुए उस समय आकाश में देखने के लिये आए हुए देव बादलों की ओट में खड़े थे । वे भगवान् का प्रवेश देखकर हाहाकार कर दुःख प्रकट करने लगे और कंसादिक अघासुर के सम्बन्धी जो भी राक्षस वहाँ आकाश में देखने के लिये आए थे वे प्रवेश देखकर हर्ष को प्राप्त हुए ॥ २९ ॥

श्लोक—**तच्छ्रुत्वा भगवान् कृष्णस्त्वव्ययः सार्भवत्सकम् ।**
चूर्णीचिकीर्षोरात्मानं तरसा ववृधे गले ॥ ३० ॥

श्लोकार्थ----यह हाहकार सुनकर अविकारी भगवान् श्रीकृष्ण बछड़ों के साथ आपको भी चूर्ण करने की इच्छा वाले (अघासुर) के गले में बहुत शीघ्रता से बढ़ने लगे ।

सुबोधिनी—उभयेषां हर्षविषादौ श्रुत्वा भगवान् कृष्णोव्ययः स्वतो भयरहितः सार्भवत्सकं बालक वत्स- सहितमात्मानं चूर्णीचिकीर्षोरस्य गले ववृधे स्थूलो जातः ॥३० ॥

व्याख्यार्थ--दोनों (देव और कंस आदि राक्षसों) के हर्ष तथा शोक की ध्वनि सुनकर भगवान् कृष्ण अव्यय होने के कारण स्वतः निर्भय थे क्योंकि आपका तो यह राक्षस (अघासुर) लेशमात्र भी कुछ बिगाड़ कर नहीं सकता था। किन्तु बछड़ों सहित बालकों की तो हानि करने में यह राक्षस समर्थ था इस विचार से बछड़ों सहित बालकों को बचाने के लिए और राक्षस के नाशार्थ उसके गले में बढ़ने लगे, अर्थात् स्थूल होने लगे ॥ ३० ॥

श्लोक--**ततोतिकायस्य निरुद्धमार्गिणो ह्युद्वीर्णदृष्टेर्भ्रमतस्त्वितस्ततः ।**
पूर्णोन्तरङ्गे पवनो निरुद्धो मूर्धन् विनिष्पाट्य विनिर्गतो बहिः ॥ ३१ ॥

श्लोकार्थ--उन (कृष्ण) के बढ़ने से स्थूल देह वाले सर्प अघासुर का गला घुट गया, आँखे बाहर निकल पड़ी, जिससे इधर उधर तड़फड़ाने लगा और पवन का मार्ग रुक जाने से उसके शरीर के भीतर भरा और रुका हुवा वायु उसके ब्रह्मरन्ध्र को भेद कर बाहिर निकल गया।

सुबोधिनी—ततोतिकायस्य स्थूलस्य सर्पस्य निरुद्ध-मुखमार्गवत उद्वीर्णे निर्गते दृष्टी चक्षुषी यस्य, इतस्ततश्च भ्रमतो देहं विक्षिपतोन्तरङ्गे शरीरमध्ये पूर्णः पवनो निरुद्धः सन् मूर्धानं विनिष्पाट्य बहिर्निर्गतो मुख्यप्राणो ब्रह्मरन्ध्रेण विनिर्गतः ॥ ३१ ॥

व्याख्यार्थ--इसके अनन्तर बड़ी देहवाले सर्प का गला घुट जाने से आँखे बाहिर निकल आईं, इधर-उधर तड़-फड़ाने लगा। शरीर के मध्य में पूर्ण रीति से वायु रुक गया था निकलने का स्थान न होने से मुख्य प्राण मस्तक को फोड़कर ब्रह्मरन्ध्र से बाहिर निकल गया ॥ ३१ ॥

श्लोक--**तेनैव सर्वेषु बहिर्गतेषु प्राणेषु वत्सान् सुहृदः परेतान् ।**
दृष्ट्वा स्वयोत्थाप्य तदन्वितः पुनर्वक्त्रान् मुकुन्दो भगवान् विनिर्ययौ ॥३२॥

श्लोकार्थ--उस मार्ग (ब्रह्मरन्ध्र) से सर्प के प्राण और इन्द्रियादि सब के बाहिर निकल जाने पर मुकुन्द भगवान् अपनी दृष्टि से मरे हुए बछड़ों और मित्रों को जिला कर उनके साथ मुख से बाहिर निकल आए।

सुबोधिनी—तेनैव च मार्गेण सर्व एव प्राणा इन्द्रियाण्यात्मा च बहिर्निर्गतास्तदा परेतान् वत्सान् सुहृदो बालकान् स्वयामृतदृष्ट्योत्थाप्य सजीवान् कृत्वा तैः सह मुकुन्दो भगवान् वक्त्राद् विनिर्ययौ मुखमार्गेणैव निर्गतः, प्राणगमनानन्तरं सूक्ष्मो भूत्वा तथा कृतवान् ॥ ३२ ॥

व्याख्यार्थ—जब अघासुर के उसी मार्ग (ब्रह्मरन्ध्र) से, सर्व प्राण, इन्द्रियां और आत्मा बाहिर निकल गए तब मरे हुए बछड़ों तथा मित्र बालकों को अपनी अमृतमयी दृष्टि से जीवित कर उनके साथ मुकुन्द भगवान् मुख के रास्ते से निकल आए। सर्प के प्राणों के जाने के अनन्तर आप (कृष्ण) ने पूर्ववत् छोटा स्वरूप कर, वैसा किया, अर्थात् निकल आए।

आभास—भगवति बहिर्निर्गतेघस्य सायुज्यमाह।

आभासार्थ—भगवान् के बाहिर निकलने पर निम्न श्लोक में अघ के सायुज्य का वर्णन करते हैं।

श्लोक—**पीनाहिभोगोत्थितमद्भुतं महज्र्योतिः स्वधाम्नोज्ज्वलयद् दिशो दश।**
प्रतीक्ष्य खेवस्थितमीशनिर्गमं विवेश तस्मिन् मिषतां दिवौकसाम् ॥ ३३ ॥

श्लोकार्थ—अजगर के मोटे शरीर से निकली हुई ज्योति, अपने प्रकाश से दशों दिशाओं को प्रकाशित करती हुई आकाश में स्थित होकर भगवान् के बाहिर पधारने की राह देखती थी, जब भगवान् बाहिर पधारे तब वह ज्योति देवताओं के देखते देखते उन (श्रीकृष्ण स्वरूप) में प्रविष्ट हो गई।

सुबोधिनी—पीनो योयमहिः सर्पस्तस्य भोगाच् छरीरादुत्थितमद्भुतं महस्तेजोरूपं ज्योतिः प्रकाशमानं स्वधाम्ना स्वतेजसा दश दिश उज्वलयद् बहिः स्थितं सद् भगवन्निर्गमनं प्रतीक्ष्य निर्गते तस्मिन् विवेश पश्यतां दिवौकसां सतां, तेजोरूपं लिङ्गशरीरं प्रविष्टमिति मायावादिनः ॥ ३३ ॥

व्याख्यार्थ—स्थूल इस सर्प के शरीर से निकला हुआ अद्भुत महत् तेजरूप ज्योति अपने तेज से दश दिशाओं को प्रकाशित करती हुई बाहर (आकाश में) स्थित रहकर भगवान् के बाहिर आगमन की प्रतीक्षा कर रही थी, भगवान् के बाहिर पधारने पर देवताओं के देखते देखते उनमें प्रविष्ट हो गई। मायावादी कहते हैं कि तेजोरूप लिङ्ग शरीर प्रविष्ट हुआ ॥ ३३ ॥

आभास—ततो देवानां सुखं जातमित्याह।

आभासार्थ—इससे देवता प्रसन्न हुए जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**ततोतिहृष्टाः स्वकृतोकृतार्हणं पुष्पैः सुरा अप्सरसश्च नर्तनैः।**
गीतैः सुगा वाद्यघनाश्च वाद्यकैः स्तवैस्तु विप्रा जयनिःस्वनैर्गणाः ॥ ३४ ॥

श्लोकार्थ--इसके अनन्तर अत्यन्त प्रसन्न हुए देवों ने अपने लिये कार्य करने वाले भगवान् की पुष्पों से, अप्सराओं ने नृत्य से, गायकों ने गाने से, बाजे बजाने वालों ने वाद्यों से विप्रों ने स्तोत्रों से वैष्णवों ने (जय जय) शब्द से पूजा की।

सुबोधिनी—ततोतिहृष्टा इति, स्वार्थं देवार्थमेव करोतीति स्वकृत् तस्य भगवतोर्हणं पूजामकृत कृतवन्तः पुष्पैः, अप्सरश्च नर्तनैः, पूजामकृतेति सर्वत्रसम्बन्धः, सुष्ठु गायन्तीति सुगास्ते गीतैर्वाद्यं घनो येषां ते वाद्यघना विप्रास्तु स्तवैर्वैष्णवगणा जयनिः स्वनैरर्हणमकृत ॥३४॥

व्याख्यार्थ--भगवान् ने हमारे (देवों के) लिये यह कार्य (अघासुर वध) किया है अतः देवगण अत्यन्त प्रसन्न होकर भगवान् की पूजा करने लगे। देवों ने पुष्पों, से अप्सराओं ने नृत्यों से, सुन्दर गायकों ने गानों से, वाद्य बजाने वालों ने वाद्यों से, विप्रों ने स्तोत्रों से, वैष्णवगणों ने जय जय शब्दों से पूजा की ॥ ३४ ॥

आभास--तदा ब्रह्मणोप्याश्चर्यं जातमित्याह।

आभासार्थ—तब (यह देख कर) ब्रह्मा को भी आश्चर्य हुआ जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक--**तदद्भुतस्तोत्रसुवाद्यगीतकजयादिनैकोत्सवमङ्गलस्वनान्।**
श्रुत्वा स्वधाम्नोन्त्यज आगतोचिराद् दृष्ट्वा महेशस्य जगाम विस्मयम् ॥३५॥

श्लोकार्थ--ब्रह्माजी, ये अद्भुत स्तोत्र, सुन्दर बाजे, गायन और जय घोष आदि अनेक उत्सव के मंगल शब्द, अपने धाम के पास ही सुनकर शीघ्र ही वहाँ आ गए। भगवान् की सामर्थ्य देखकर विस्मय को प्राप्त हुए।

सुबोधिनी—तदद्भुतेति, तेषामद्भुतस्तोत्रादिकं श्रुत्वा स्वधाम्नोन्ति स्वगृहसमीपेजो ब्रह्मा तत आगतोचिराच्छीघ्रमेव दृष्ट्वा भगवन्तं महेशस्य भगवतः सामर्थ्यं च दृष्ट्वा विस्मयं जगाम, स्तोत्रं सुवाद्यं गीतं जयशब्दाश्च तैर्योयमनेकोत्सवस्तत्सहितान् मङ्गलस्वनान्, ते शब्दा ब्रह्मलोकपर्यन्तं गताः, तच्छ्रुत्वा ब्रह्मा समागतो विस्मयमाप ॥ ३५ ॥

व्याख्यार्थ—उनके अद्भुत स्तोत्रादिक ब्रह्माजी ने अपने घर पर ही सुने, सुनकर शीघ्र आ गए वहां भगवान् को और उनके सामर्थ्य को देख कर विस्मय को प्राप्त हुए। क्योंकि जो स्तोत्र वाद्यादि यहां हुए उनकी ध्वनि मेरे घर तक सुनने में आई जिससे ब्रह्मा भगवान् के ऐश्वर्य को जानकर विस्मित हुए ॥ ३५ ॥

आभास---मुक्तस्य देहो भगवद्भक्तानां क्रीडार्थं जात इत्याह ।

आभासार्थ--मुक्त हुए (अघासुर) राक्षस का शरीर भी भगवद्भक्तों के रमण के काम आया । यह नीचे के श्लोक में बताते हैं ।

श्लोक--**राजन्नाजघरं चर्म शुष्कं वृन्दावनेद्भुतम् ।**
व्रजौकसां बहुतिथं बभूवाक्रीडगह्वरम् ॥ ३६ ॥

श्लोकार्थ--हे महाराज ! वृन्दावन में शुष्क अजगर का अनूठा यह चर्म व्रज-वासियों के, बहुत समय तक खेलने के समय छिप जाने के लिये गुफा का काम देने लगा ।

सुबोधिनी—राजन्निति, वृन्दावन शुष्कं गन्धरहितं । व्रजौकसां बहुकालमाक्रीडार्थं गह्वरं गुप्तस्थानं बभूव ॥३५॥

व्याख्यार्थ—हे राजन् ! वृन्दावन में शुष्क होने से यह अजगर का चर्म दुर्गन्ध रहित हो गया । अतः बहुत समय तक व्रजवासियों के खेलने के लिये गुप्त (छिपने का) स्थान हुआ ॥३६॥

आभास---आश्चर्यान्तरमाहैतदिति ।

आभासार्थ--दूसरे आश्चर्य का वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक--**एतत् कौमारजं कर्म हरेरात्माहिमोक्षणम् ।**
मृत्योः पौगण्डके बाला दृष्ट्वोचुर्विस्मिता व्रजे ॥ ३७ ॥

श्लोकार्थ--अपना अजगर रूप मृत्यु से छुड़ाना, कुमार अवस्था में किया हुआ यह भगवान् का कर्म (लीला) देख कर विस्मय को प्राप्त हुए बालकों ने पौगण्ड अवस्था में आने के पश्चात् व्रज में आकर सुनाया ।

सुबोधिनी—भगवतः कौमारावस्थायां जातमेतत् कर्मात्मनोहेः सकाशात् मोक्षणरूपं मृत्योरेव मोक्षणरूपं हरेः पौगण्डावस्थायां जातस्य शरीरं शुष्कं दृष्ट्वा विस्मिताः सन्तो व्रजे समागत्योचुः, "अद्यानेन महाव्याल" इति वक्ष्यति ॥ ३७ ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् की कुमार अवस्था में की हुई यह लीला अपने (बालक और वत्सों) को अजगर से छुड़ाना अर्थात् मृत्यु से बचाना और पौगण्डावस्था में शरीर का शुष्क होता देखा बालक अचम्भे में पड़ गए व्रज में आकर कहने लगे कि आज इस (कृष्ण) ने बड़े सर्प को मार डाला है । यह आगे के अध्याय (३, श्लोक ४८,) में कहा जाएगा ॥ ३७ ॥

आभास--अघासुरस्य मुक्तिं युक्त्या समर्थयति नैतद् विचित्रमितिद्वाभ्यां ।

आभासार्थ--निम्न दो श्लोकों में अघासुर की मुक्ति का युक्ति से समर्थन करते हैं ।

श्लोक---**नैतद् विचित्रं मनुजार्भमायिनः परावराणां परमस्य वेधसः ।**
अघोपि यत्स्पर्शनधूतपातकः प्रापात्मसाम्यं त्वसतां सुदुर्लभम् ॥ ३८ ॥

श्लोकार्थ--छोटे और बड़े सबके नियमन करने वाले और कर्ता, मनुष्य-बाल रूप मायावी भगवान् के इस प्रकार के कर्म करने में कोई आश्चर्य नहीं है। जिनके स्पर्श-मात्र से पापी अघासुर भी निष्पाप, होकर दुष्टों को दुर्लभ ऐसी मुक्ति को प्राप्त हो गया ।

सुबोधिनी--मनुजार्भो मनुष्यबालः स एव मायातद्वतो भगवत एतद् बालमोक्षणमघासुरमोक्षो वा न विचित्रं वस्तुतोयं परावराणां परमो ब्रह्मादीनामस्मदादीनां च नियन्ता कर्ता च, अघोपि पापरूपो यत्स्पर्शनेन धूतपातकः प्रक्षालितपाप आत्मसाम्यं भगवत्समतामसतां दुष्टानां सुदुर्लभं प्रापेति यत् तत्र हेतुः ॥ ३८ ॥

व्याख्यार्थ--मनुष्य-बाल रूप होना ही माया है, उस मायावाले का इन बालकों को मृत्यु से छुड़ाना (अपनी अमृतमयी दृष्टि से अजगर के भीतर ही जीवित करना और अघासुर को मोक्ष देना) कोई आश्चर्यकारक कार्य नहीं है क्योंकि यह वास्तविक में पर (ब्रह्मादि) और अवर (अस्मदादिकों) का नियन्ता और कर्ता है । पापरूप अघ के भी जिसके स्पर्श से पाप धुल गए और जो मुक्ति दुष्टों को मिलनी दुर्लभ है उस भगवत्समता (मुक्ति) को प्राप्त हुआ ॥ ३८ ॥

भगवान् का यह कार्य आश्चर्यकारक नहीं है, जिसका हेतु निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक--**सकृद्यदंगप्रतिमान्तराहिता मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम् ।**
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्याव्युदस्तमायः परमोंग किं पुनः ॥ ३९ ॥

श्लोकार्थ--जिनकी केवल मनोमयी मूर्ति भी हृदय में धारण करने से मुक्ति देती है तो आत्मसुख स्वरूप सच्चिदानन्द माया से परे सर्व श्रेष्ठ स्वयं जिसकेहृदय में पधारें उसकी मुक्ति होने में कौनसी विचित्रता है ।

सुबोधिनी--सकृद् यस्य भगवतीङ्गप्रतिमा शरीरसमाना मानसी मूर्तिरन्तराहिता हृदये स्थापितापि भागवतीं गतिं ददौ ददाति तत्र स एव नित्यात्मसुखानुभूतिः सच्चिदानन्दरूप आत्मा व्युदस्तमायः पूर्णज्ञानेनैव गतमायः परमकाष्ठां प्राप्तोन्तराहितः सन् मुक्तिं ददातीति किं पुनर्वक्तव्यम् ॥ ३९ ॥

व्याख्यार्थ—एक बार, जिस भगवान् की शरीर के समान मनोमयी (मन से ध्यान में लाई हुई) मूर्ति, हृदय में धारण की हुई, मुक्ति देती है तो फिर वह ही नित्य, आत्म-सुखानुभूति स्वरूप सच्चिदानन्द आत्मा पूर्ण ज्ञान के कारण माया से परे, सबसे उच्च-स्थिति वाले स्वयं हृदय में पधार कर मुक्ति देवें इसमें क्या कहना है ॥ ३९ ॥

आभास---एतावदुक्त्वा शुकः परमनिर्वृतः तूष्णीमास तदा राजा पृच्छतीत्याह सूतः ।

आभासार्थ---इतना कहकर परम प्रसन्न हुए शुकदेवजी शान्त हो गए अर्थात् आगे बोले नहीं तब राजा पूछने लगे, जिसका वर्णन सूतजी निम्न श्लोक में करते हैं ।

॥ सूत उवाच ॥

श्लोक---**इत्थं द्विजा यादवदेवदत्तः श्रुत्वा स्वरातुश्चरितं विचित्रम ।**
पप्रच्छ भूयोपि तदेव पुण्यं वैयासकिं यन्निगृहीतचेताः ॥ ४० ॥

श्लोकार्थ—सूतजी कहते हैं, हे ब्राह्मणों ! इस तरह निज पालक भगवान् का विचित्र चरित्र सुनकर उस चरित्र श्रवण में चित्त वाले राजा परीक्षित ने व्यासजी के पुत्र से फिर भी वही चरित्र पूछा ।

सुबोधिनी—हे द्विजाः शौनकादयः, यादवदेवेन कृष्णेन दत्तो विष्णुरातः स्वरातुः स्वरक्षितुश्चरितं श्रुत्वा भूयोपि तदेव पप्रच्छ यतो विचित्रं पुण्यं च, वैयासकिं शुकं, येन चरित्रेण निगृहीतं चेतो यस्य ॥ ४० ॥

व्याख्यार्थ---हे शौनकादिक द्विजों ! यादवों के देव श्रीकृष्ण से रक्षा किए हुए राजा परीक्षित अपने पालक का चरित्र सुनकर फिर भी वही चरित्र व्यास पुत्र शुकदेवजी से पूछने लगे, कारण कि भगवान् के चरित्र पुण्यरूप तथा विचित्र हैं और भगवान् के चरित्रों ने परीक्षित का चित्त अपनी तरफ आकृष्ट कर लिया था ॥ ४० ॥

आभास---प्रश्नमेवाह त्रिभि ।

आभासार्थ---तीन श्लोकों से राजा के किए हुए प्रश्न का वर्णन करते हैं ।

॥ राजो उवाच ॥

श्लोक---**ब्रह्मन् कालान्तरकृतं तत्कालीनं कथं भवेत् ।**
यत् कौमारे हरिकृतं विदुः पौगण्डकेर्भकाः ॥ ४१ ॥

श्लोकार्थ---राजा परीक्षित ने कहा कि हे ब्रह्मन् ! अगवान् ने कुमार अवस्था में जो लीला की थी बालकों को उस लीला का ज्ञान पौगण्ड अवस्था में हुआ, एक काल में किए हुए कर्म का ज्ञान दूसरे काल में कैसे हुआ ।

सुबोधिनी—ब्रह्मन्निति सम्बोधनं ज्ञानार्थ, यदुक्तं "कौमारे हरिकृतं पौगण्डे कीर्तित" मितितत्र शङ्का कालान्तरकृतं तत्कालीनं कथं भवेदिति, तदेवाह यत् कौमारे हरिकृतं बालका: पौगण्डके विदुरिति ॥ ४१ ॥

व्याख्यार्थ----श्लोक में शुकदेवजी को 'ब्रह्मन्' कहा है, जिसका तात्पर्य है कि शुकदेवजी ज्ञानवान् हैं अत: इस प्रश्न का उत्तर देने में समर्थ हैं (कुमार अवस्था में जो हरि ने किया उसका कीर्तन बालकों ने पौगण्डवय में किया) इसमें शंका होती है कि एक काल में किया हुआ कर्म उसका दूसरे काल में ज्ञान कैसे हुआ होगा ।। ४१ ॥

श्लोक---**तद् ब्रूहि मे महायोगिन परं कौतूहलं गुरो ।**
नूनमेतद्धरेरेव माया भवति नान्यथा ॥ ॥ ४२ ॥

श्लोकार्थ---हे गुरु ! महायोगी ! वह मुझे कहो । मुझे इसका आश्चर्य है मेरे विचार में निश्चय से यह हरि की माया ही है, माया के बिना वैसा हो नहीं सकता है।

सुबोधिनी —यद्यपि भविष्यति किञ्चित् कारणं तथापि तन् मे मह्यं ब्रूहि, अज्ञानं तु तव नास्तीत्याह हे महायोगिन्निति, किञ्चैतत् परं कौतूहलं, एतावज् ज्ञायते नूनमेतद्धरेरेव माया भवति, अन्यथा तेषां भ्रमो न स्यात्, अतो भगवच्चरित्रमिति वक्तव्यम् ॥ ४२ ॥

व्याख्यार्थ----जो कि इसमें कुछ कारण होगा, तो भी वह मुझे कहो । आप महायोगी हो अत: आप सब कुछ जानते ही हो । आप से कुछ भी छिपा हुआ नहीं है और यह महान् आश्चर्य है । इतना समझ में आता है कि निश्चय से यह हरि की माया है जो हरि की माया न होती तो बालकों को इस प्रकार भ्रम न हो सकता था । अत: कहना या समझना चाहिये कि यह सब भगवान् का चरित्र (लीला) ही है ॥ ४२ ॥

आभास-- -कथनार्थ स्वश्लाघां करोति वयं धन्यतमा इति ।

आभासार्थ—शुकदेवजी मेरे प्रश्न का उत्तर देवें, इसलिये निम्न श्लोक में अपनी बडाई करता है ।

श्लोक----**वयं धन्यतमा लोके गुरोपि क्षत्रबन्धवः ।**
यत पिबामो मुहुस्त्वत्तः पुण्यं कृष्णकथामृतम् ॥ ४३ ॥

श्लोकार्थ----हे गुरु ! हम क्षत्र बन्धु हैं, तो भी आपके मुखारविन्द से निकले हुए श्रीकृष्ण के कथारूप अमृत का पान करने से बड़े भाग्यशाली हैं ।

सुबोधिनी—क्षत्रियाधमा अपि वयं धन्यतमा यतो भवान् गुरुः, किञ्च त्वत्तः कृष्णकथामृतं यतो मुहुः पिबामः ॥ ४३ ॥

व्याख्यार्थ—जो कि क्षत्रियों में भी अधम हैं तो भी हम बड़े भाग्यशाली हैं । क्योंकि आप हमारे गुरू हो और आप से कृष्ण कथारूप अमृत बार-बार पान कर रहे हैं ॥ ४३ ॥

आभास ---एवं पृष्टो जातसमाधिरपि शुकः पुनराहेत्याह सूतः ।

आभासार्थ—यद्यपि इतना कहकर शुकदेवजी समाधिस्थ हो के शान्त हो गए थे किन्तु राजा के पूछने पर फिर शुकदेवजी कहने लगे । यह सूतजी निम्न श्लोक में कहते हैं ।

॥ सूत उवाच ॥

श्लोक----**इत्थं स्म पृष्टः स तु बादरायणिः संस्मारितानन्तहताखिलेन्द्रियः ।**
कृच्छ्रात् पुनर्लब्धबहिर्दृशिः शनैः प्रत्याह तं भागवतोत्तमोत्तमम् ॥ ४४ ॥

श्लोकार्थ---श्रीसूतजी कहते हैं कि हे शोनकादिक ऋषिओं ! इस तरह भगवान् का स्मरण कराते ही शुकदेवजी की सर्व इन्द्रियां भगवान् में लीन हो गईं फिर किसी प्रकार से कष्टपूर्वक शुकदेवजी ने बहिर्दृष्टि कर वैष्णव-श्रेष्ठों में उत्तम वैष्णव राजा परीक्षित को धीरे-धीरे उत्तर देना प्रारम्भ किया ।

सुबोधिनी—इत्थं पृष्टो बादरायणिः सम्यक् स्मारितो योयमनन्तस्तेन हृतान्यखिलेन्द्रियाणि यस्य, तादृशोपि कृच्छात् पुनर्लब्धबर्हिदृष्टिः शनैः प्रत्याह समाधेर्विरतस्योच्चैर्भाषणं न सम्भवतीति, भागवतोत्तमानां मध्य उत्तमं प्रतीतिकथने हेतुः ॥ ४४ ॥

व्याख्यार्थ—सम्यक् प्रकार से स्मरण कराए हुए अनन्त भगवान् में शुकदेवजी की सर्व इन्द्रियाँ लीन हो गईं अर्थात् शुकदेवजी समाधिस्थ हो गए थे । किन्तु वैसा होते हुए भी शुकदेवजी कष्ट से बाहिर की दृष्टि प्राप्त कर (समाधि से जागृत हो) धीरे-धीरे उत्तर दिया । समाधि त्याग के अनन्तर ऊंचे स्वर से बोला नहीं जा सकता है । शुकदेवजी ने समाधि त्याग कर भी उत्तर देने की आवश्यकता इसलिये समझी कि प्रश्न करने वाला राजा वैष्णवोत्तमों में भी श्रेष्ठ वैष्णव था ॥५४॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध (पूर्वार्ध) के द्वादश अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के तीन प्रक्षिप्त अध्यायों में का प्रथम अध्याय (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण ।

इस प्रथम प्रक्षिप्त अध्याय में वर्णित अघासुर मोक्ष लीला का अवगाहन
भक्तशिरोमणी सूरदासजी के निम्न पद से कीजिए।

अथ अघासुर मोक्ष

-- राग बिलावल --

नन्द सुत लाड़िले हो, सब व्रज जीवन प्रान ।
बार-बार माता कहे हो, जागहु श्याम सुजान ।। ध्रुव ।।
जशुमति लेति बलाई, भोर भयो उठो कन्हाई ।
संग लिए सब सखा, द्वार ठाड़े बल भाई ।।
सुन्दर वदन दिखाईये, हरो नैन के ताप ।
नयन कमल मुख धोईये, कछु करो कलेऊ आप ।। नन्दसुत लाडिले हो ।।

माखन रोटी लैहों सद दधि रैन जमायो ।
षटरस के मिष्टान, सोइ जेंवहु रुचि आयो ।।
मो पै लीजै मांगि के, जोई-जोई भावे तोहि ।
संग जेमहु बलराम तुम हो, रुचि उपजा वहु मोहि ।। नन्दसुत लाडिले हो ।।

तब हंसि चितये श्याम, सेज तें बदन उघारचो ।
मानहु पय निधि मथत, फेन फटि चंद उजारचो ।।
सखा सुनत देखन चले, मानहुं नयन चकोर ।
जुगल कमल जनु इंदु पर हो, बैठि रहे अति भोर ।। नन्दसुत लाडिले हो ।।

तब उठि आए कान्ह, मात जल बदन पखारचो ।
बोलि उठे बलराम श्याम, कत उठचो सबार्‌यो ।।
दाऊ जू कहि हँसि मिले, बाँह गही बैठाय ।
माखन रोटी सद दह्यो हो, जेंवत रुचि उपजाय ।। नन्दसुत लाडिले हो ।।

जल अंचयो मुख धोय, उठे बल मोहन भाई ।
गाय लई सब घेरि चले, वन कुंवर कन्हाई ।।
टेर सुनत बलराम की, आये बालक धाय ।
ले आये सब जोरि के हो, घर तै बछरा गाय ।। नन्दसुत लाडिले हो ।।

सखनि कान्ह सों कही, आजु वृन्दावन जैये ।
जमुना तट तृण बहुत, सुरभि गण तहाँ चरैये ॥
ग्वाल गाय सब लै गए, वृन्दावन समुदाय ।
अतिहि सघन वन देखि के हो, हरषि उठे सब गाय ॥ नन्दसुत लाडिले हो ॥

कोउ टेरत कोउ हांकि, सुरभि गण जोरि चलावत ।
कोउ कोउ हेरी देत, परस्पर श्याम सिखावत ॥
अंतरजामी कहत जिय यहि, मोहि सिखावत टेरि ।
कान्ह कहत अबके गई हो, पुनि धौली जो फेरि ॥ नन्दसुत लाडिले हो ॥

कोउ मुरली कोउ वेणु शब्द, शृंगी कोउ पूरे ।
कृष्ण कियो मन ध्यान, असुर एक बस्यो अघूरे ॥
बाल बछरूबनि राखि हों, एक बेर लैं जाउँ ।
कछुक जनाऊँ अपनपो हो अबलों रह्यो सुभाउ ॥ नन्दसुत लाडिले हो ॥

असुरकुलहि संहारि, धरनि को भार उतारौं ।
कपट रूप रचि रह्यो दनुज यहि तुरत पछारौं ॥
गिरि समान धरि अगम बन बैठ्यो बदन पसारि ।
मुख भीतर बन घन नदी हो माया छलकरि भारि ॥ नन्दसुत लाडिले हो ॥

पैठि गए मुख ग्वाल, धेनु बछरा सब लीए ।
देखि माया बन भूमि रहे, तृण द्रुम कृषि कीये ॥
कहन लगे सब आपुस में, सुरभी चरे अध्याय ।
मानहु पर्वत कंदरा हो, मुख गये समाय ॥ नन्दसुत लाडिले हो ॥

सब मुख गए समाय असुर तब चोंच सकोर्‌यौ ।
अंधकार इमि भयो मानो, निशि बादर जोर्‌यौ ॥
अतिहि उठे अकुलाय के, ग्वाल बछ सब गाय ।
त्राहि त्राहि कहि कहि उठे हो, परे कहां सब आय ॥ नन्दसुत लाडिले हो ॥

धीर-धीर कहि कान्ह असुर यह कन्दर नाही ।
अन-जानत सब परे अघामुख भीतर माही ॥
जिय त्याग्यौ यह सुनत ही, अबको सकै उबारि ।
वातैं दूनी देह धरी तब असुर न सक्यो संभार ॥ नन्दसुत लाडिले हो ॥

शब्द कर्यौ आघात, अघासुर टेरि पुकार्‌यो ।
रह्यौ अधर दोऊ चापि, बुद्धि बल सुरति पसार्‌यौ ॥
ब्रह्मद्वार सिर फोरिके, निकसे गोकुल राय ।
बाहिर आ बहु निकसि के हो, मैं करि लियो सहाय ॥ नन्दसुत लाडिले हो ॥

बालक बछरा धेनु सबै, अति मनहि सकाने ।
अंधकार मिटि गयो देखि जहाँ तहाँ अतुराने ॥
आये बाहिर निकसि के, मन सब किये हुलास ।
हम अज्ञान कत डरत हैं हो, कान्ह हमारे पास ॥ नन्दसुत लाडिले हो ॥

धन्य नन्द अरु धन्य वह, जसुमति महतारी ।
धन्य लियो अवतार कूखि धनि जिहि दई तारी ॥
गिरि समान तनु अति अगम पन्नग की अनुहारि ।
हम देखत पल एक मैं हो, मारचो दनुज प्रचारि ॥ नन्दसुत लाडिले हो ॥

हरि हंसि बोले बैन संग जो तुम नहीं होते ।
तुम सब कियो सहाय भयो तब कारज मोते ॥
हमहु तुमहु मिलि बैठि के, बन भोगि करें सब जाय ।
बंशीबट भोजन बहुत हो, जशुमति दयौ पठाय ॥ नन्दसुत लाडिले हो ॥

ग्वाल परमसुख पाय कोटि मुख करत प्रसंसा ।
कहा बहुत जो भये, सपूत एकुई बंसा ॥
चढ़ि विमान सुर देख ही गगन रहे भरिछाय ।
जै जै धुनि नभ करत हैं हो हरषि पुहुप बरषाय ॥ नन्दसुत लाडिले हो ॥

ब्रह्म सुनी यह बात, अमर घर घरनि कहानो ।
गोकुल लीनो जन्म कौन यह मैं नहि जानि ॥
देखौं इनको खोज लै शोच पर्‌यौ मन मांहि ।
सूरश्याम ग्वालनि लिए चले, बंसीबट की छांहि ॥ नन्दसुत लाडिले हो ॥

॥ श्री कृष्णायनमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभायनमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्योनमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य – विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

कौतुक लीला निरूपक

प्रक्षिप्त द्वितीय अध्याय

दशम स्कन्धानुसार : त्रयोदशो अध्याय

कारिका---**द्वितीये वत्सहरणं बालैर्ब्रह्मभ्रमस्ततः ।**
स्तोत्रस्योपक्रमश्चैव भोजनादि निरूप्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ----इस द्वितीय अध्याय में भोजन से लेकर ब्रह्मा का बालक और बछड़ों को चुराकर ले जाना तथा ब्रह्मा को भ्रम होना, अन्त में भगवान् की स्तुति करने का उपक्रम (प्रारम्भ) करना, यह निरुपण किया जाता है ।

आभास----अभिनन्दति द्वाभ्यां ।

आभासार्थ—पहले दो श्लोकों मे प्रश्न का वर्णन करते हैं ।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक---**साधु पृष्टं महाभाग त्वया भागवतोत्तम ।**
यन्नूतनयसीशस्य शृण्वन्नपि कथां मुहुः ॥ १ ॥

श्लोकार्थ—श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि हे भागवतोत्तम ! हे महाभागः तुमने श्रेष्ठ प्रश्न किया है। क्योंकि भगवान् की कथा बार-बार सुनने पर भी तुम उसे नवीन के समानस मझते हो।

सुबोधिनी—साधु पृष्टमिति भगवच्चरित्र एव स्थिरा बुद्धिरिति महाभागत्वं, भागवतोत्तमेति सहजोत्तमता, सर्वदैवेशकथां श्रृण्वन्नपि यन् नूतनमिव करोषीति ॥१॥

व्याख्यार्थ—हे बड़े भाग्यशाली ! तुम इसलिये बड़े भाग्यवान् हो कि तुम्हारी बुद्धि भगवान् के चरित्र में स्थिर है। वैष्णवों में श्रेष्ठ हो इससे यह बताया कि आपकी यह उत्तमता सहज (स्वाभाविक) है, क्योंकि सदा भगवान् की कथा सुनते हुए भी उसको नवीन नवीन ही समझते हो ॥ १ ॥

श्लोक—**सतामयं सारभृतां निसर्गो यदर्थवाणीश्रुतिचेतसामपि ।**
प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्य यत् स्त्रिया विटानामिव साधुवार्ता ॥ २ ॥

श्लोकार्थ—सार ग्रहण करने वाले सत्पुरुष स्वभाव से ही यह मानते हैं कि हमारी वाणी, कान और चित्त ये सब भगवान् के अर्थ (लिये) हैं। जैसे स्त्री लम्पट[1] पुरुषों को स्वभाव से बारम्बार स्त्रियों की कथाएँ नवीन लगती हैं इसलिये उन्हें सुनना चाहते हैं वैसे ही सत्पुरुष स्वभाव से ही भगवान् के चरित्रों को प्रतिक्षण नवीन समझ कर सदैव सुनना चाहते हैं।

सुबोधिनी—किञ्चोचितमेव तव यतः सतां सारभृतां भक्तिमतां निसर्गः स्वभावोयं, तमेव स्वभावमाहार्थवाणी-श्रुतिचेतसामपि यस्मादयं स्वभावः, अर्थो धनं वाणी वाक् श्रुतिः श्रोत्रं चेतोन्तःकरणं, एतान्यपि स्वभावत एव भगवत्प्रवणानि, तदाह प्रतिक्षणं नव्यवन् नूतनवदच्युतस्य वार्तेति यद् रस आविष्टे स्वभाव एव तथा भवतीति, दृष्टान्तमाह यथा स्त्रिया वार्ता विटानां श्रुता कीर्तिता भाविता वा सुखदा परमसाधुवार्ता सा भवति, इयं तु साधुवार्तेति-विशेषः ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ—और तुम्हारा इस प्रकार प्रश्न करना योग्य ही है। कारण कि भक्तिवालों (भक्तों) का यह स्वभाव ही है। अतः उनका धन, वाणी, कान तथा अन्तःकरण भगवान् में ही प्रवण[2] होते हैं। प्रवण होने से उनको भगवान् के चरित्र प्रतिक्षण नवीन ही भासते हैं। जब रस भीतर घुस जाता है तब स्वभाव भी रसरूप हो जाता है। इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि स्त्रियों की सुनी हुई, कही हुई, या ध्यान में लाई हुई कथा स्त्रीलम्पट पुरुषों को आनन्द देनेवाली

१—व्यभिचारी। २—मग्न।

होती है। वह स्त्रियों की वार्ता तो निकृष्ट[1] है किन्तु यह भगवत् चरित्र उत्तम व श्रेष्ठ है ॥२॥

आभास--महदद्भुतमस्ति सावधानतया श्रोतव्यमित्याह।

आभासार्थ—यह चरित्र महान् अद्भुत होने से श्रवणीय है। निम्न श्लोकों में इस प्रकार कहते हैं।

श्लोक--**शृणुष्वावहितो राजन्नपि गुह्यं वदामि ते।**
ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ---हे राजन्! सावधान होकर सुनो यह गुह्य[2] है तो भी तुम्हें कहता हूं। कारण कि गुरू प्रिय शिष्य को गुह्य भी बताते हैं।

सुबोधिनी—शृणुष्वेति, अवहितः सावधानः, गुह्यमप्येतत् तुभ्यं वदामि यतः स्निग्धस्य प्रेमवतः शिष्यस्य गुरवो गुह्यमपि वदन्ति ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थ--यह चरित्र अत्यन्त अद्भुत है अतः सावधान होकर श्रवण करो यह गुह्य है तो भी तुम्हें सुनाता हूँ, कारण कि प्रेमी शिष्य को गुरुजन गुह्य भी बताते हैं ॥ ३ ॥

आभास--वत्सापाहरणार्थमघमुखान् मोचितानां बालकानामुत्तरवृत्तान्तमाह।

आभासार्थ—निम्न ११ श्लोकों में वत्सहरण लीला के जताने के लिए पहले अघासुर के मुख से छुड़ाए हुए बालकों का उत्तर चरित्र कहते हैं।

श्लोक--**तथाघवदनान् मृत्यो रक्षित्वा वत्सपालकान्।**
सरित्पुलिनमानीय भगवानिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ--भगवान् ने इस प्रकार बछड़े और ग्वाल बालों को अघासुर के मुख रूप मृत्यु से रक्षा कर, उनको नदी के किनारे पर लाकर यह कहा।

सुबोधिनी—तथेत्येकादशभिः, अघस्य वदनान् मृत्योरेव रक्षित्वा वत्सपालकान् सरित्पुलिनं यमुनातीरमानीय भगवानिदं वक्ष्यमाणमब्रवीत् ॥ ४ ॥

१—अधम, नीच। २—गुप्त, छिपाने जैसी।

व्याख्यार्थ--अघासुर के वदनरूप मृत्यु से ही ग्वाल बालकों का रक्षण कर और उनको यमुनाजी के किनारे पर लाकर भगवान् ने जो कहना है वह कहा है ॥ ४ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

श्लोक---**अहोतिरम्यं पुलिनं वयस्याः स्वकेलिसम्पन्मृदुलाच्छवालुकम् ।**
स्फुटत्सरोगन्धहृतालिपत्रिकध्वनिप्रतिध्वानलसद्द्रुमाकुलम् ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ--भगवान् कहते हैं कि अहो ! हे मित्रों ! यह तट अपने क्रीड़ा को सम्पत्ति और अति रमणीय है यहा की बालु कोमल तथा स्वच्छ है । प्रफुल्लित कमलवाले सरोवर को सुगन्ध के लोभ से प्राप्त भौंरे और पक्षियों के जल में होते हुए शब्दों की प्रतिध्वनि से शोमायमान वृक्ष चारो ओर व्याप्त हो रहे हैं ।

सुबोधिनी--अहोतिरम्यमिदं पुलिनमतोत्रास्माभिर्भोक्तव्यमिति, वयस्या इति स्नेहेन सम्बोधनं, स्वस्य केलिः क्रीडा तत्र या सम्पन् मृदुलाच्छवालुकारूपता सा वर्तते यत्र तस्मादत्र क्रीडापि कर्तुं शक्यते भोक्तुं च, अन्येप्यस्मिन् पुलिने गुणाः सन्तीत्याह स्फुटन्ति यानि सरोरुहाण्यत्यन्तं निबिडतया स्थितानि सरः शब्देनैवोच्यते, अतः स्फुटद् यत् सरस्तस्य गन्धेन हृता वशीकृता अलयो भ्रमराः पत्रिणः पक्षिणश्च तेषां ध्वनिस्तस्य यत् प्रतिध्वानं प्रतिशब्दस्तेन लसन्तो ये द्रुमास्तैराकुलं व्याप्तं, तत्रत्यानि पुष्पाणि फलानि च पूलिने पतन्तीति ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ--अहो ! यह तट अतिशय सुन्दर है । इसलिए अपने को यहाँ भोजन करना चाहिए । ग्वालों को वयस्य विशेषण देकर उनमें अपना स्नेह प्रकट किया है । हमको क्रीड़ा के लिए जो सम्पत्ति चाहिए वह भी यहाँ स्वच्छ व कोमल बालु है इसलिए यहाँ भोजन व क्रीड़ा दोनों कर सकते हैं । इस किनारे में और भी गुण हैं । 'सर' शब्द से यहाँ बताया है कि इसमें उत्पन्न कमल बहुत परस्पर घने (जुड़े) हुए हैं, अतः प्रफुल्लित कमलयुक्त सरोवर से आती हुई सुगन्धि से वश किए हुए भ्रमर और पक्षियों की ध्वनी से निकली हुई प्रतिध्वनि से सुशोभित वृक्षों से वह तट व्याप्त है । उन वृक्षों से फल और पुष्प किनारे पर गिर रहे हैं ॥ ५ ॥

आभास--अत्रैव भोजने हेतुर्दिवारूढमिति ।

आभासार्थ--यहाँ ही भोजन करना चाहिये जिसका कारण निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक---**अत्र भोक्तव्यमस्माभिर्दिवारूढं क्षुधार्दिताः ।**
वत्साः समीपेपः पीत्वा चरन्तु शनकैस्तृणम् ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ----अपने को यहाँ भोजन करना चाहिए क्यों कि दिन चढ गया है, भूख भी सता रही है। बछड़े यहाँ ही जल पीकर समीप ही धीरे धीरे घास चरते रहेंगे।

सुबोधिनी—महद दिनं जातं क्षुधा च सर्वे पीडिता:, अत एव वत्सा: समीपेप: पीत्वा शनकैस्तृणं चरन्तु ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ—दिन बहुत चढ़ गया है देरी हो गई है और भख से सब पीड़ित हैं। अत: बछड़े समीप में जल पीकर धीरे-धीरे घास चरते रहें ॥ ६ ॥

आभास----एवं भगवतोक्ता बालस्तयैव कृतवन्त इत्याह।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के कहने पर बालकों ने यों ही किया।

श्लोक----**तथेति पाययित्वाभी वत्सानारुह्य शाड्वले।**
मुक्त्वा शिक्यानि बुभुजु: समं भगवता मुदा ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ--आपने जो कहा वह सत्य है हम वैसा ही करते हैं यों ग्वाल कह कर बछड़ों को जल पिला कर, हरी घास वाले प्रदेश में चरने के लिए उन्हे छोड़कर अपने छींके खोल कर भगवान् के साथ आनन्द से भोजन करने लगे ॥ ७ ॥

सुबोधिनी—तथेति, अर्भा वत्सान् पाययित्वा शाड्वल उत्तमतृणवति देश आरुह्यारोहं कारयित्वा स्वयं शिक्यानि मुक्त्वा भगवता समं बुभुजु: ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ—बालकों ने बछड़ों को जल पिलाकर जहाँ उत्तम घास था ऐसी भूमि पर पहुँचा के आप छींके खोल कर भगवान् के साथ भोजन करने लगे ॥ ७ ॥

आभास—तेषां भोजनार्थमुपविष्टानां प्रकारमाह।

आभासार्थ—वे भोजन करने के लिए किस प्रकार बैठे वह नीचे के श्लोक में कहते हैं।

श्लोक--**कृष्णस्य विष्वक् पुरुराजिमण्डले रम्याननाः फुल्लदृशो व्रजाभेकाः।**
सहोपविष्टा विपिने विरेजुश्च्छदा यथाम्भोरुहकर्णिकायाः ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ----वन में भगवान् श्री कृष्ण चारों ओर बहुत सी पंक्तियों के मण्डल बना

बना कर सम्मुख मुख कर, साथ बैठे हुए प्रफुल्लित दृष्टि वाले ग्वाल बाल कमल की कर्णिका के पत्तों के समान शोभायमान लगते थे ।। ८ ।।

सुबोधिनी—आवरणवत् स्थिताः पुरूणि पंक्तिमण्डलानि मण्डलत्वाकारेण पौर्वापर्येणोपविष्टाः सर्व एव भगवत्सम्मुखा अत एव फुल्लदृशो व्रजबालकाः सहैं-कदैवोपविष्टा विपिनेरण्ये तत्रान्यो लौकिको न पश्यतीति विशेषेण रेजुर्यथा छदाः पत्राण्यम्भोरुहकर्णिकायाः परितो राजन्ते ।। ८ ।।

व्याख्यार्थ—ग्वाल बाल बाड़ की तरह श्रीकृष्ण के चारों ओर गोलाकार बहुत पंक्तियाँ बनाकर एक दूसरे के पीछे इस प्रकार बैठे जैसे सब भगवान् के सन्मुख रहें जिससे ग्वाल-बाल के नैत्र प्रफुल्लित हो गए थे सब ग्वाले साथ ही बन में बैठ गए, जैसे कोई दूसरा लौकिक उनको देख न सके। जैसे कमल के चारों ओर कर्णिका के पत्र शोभा देते हैं वैसे ही वे विशेष शोभायमान थे !। ८ ।।

आभास---तेषां भोजनपात्राण्याह केचिदिति ।

आभासार्थ—निम्न श्लोक में भोजन के पात्रों का वर्णन करते हैं ।

श्लोक---**केचित् पुष्पैर्दलैः केचित् पल्लवैरङ्कु रैः फलैः ।**
शिग्भिस्त्वग्भिर्बृषद्भिश्च बुभुजुः कृतभाजनाः ।। ९ ।।

श्लोकार्थ---कितने ही बालकों ने पुष्पों (बड़े बड़े कमलों) के किसी ने फूल की पंखुरियों के किन्ही बालकों ने, पत्तों के, अकुंरों के, फलों के, छीकों के, पेड़ की छालों के ओर पत्थरों के बर्तन बना कर भोजन किया ।

सुबोधिनी—पुष्पादीनि प्रसार्य तैरेव कृतभाजनाः सन्तस्तदुपर्योदनं स्थापयित्वा बुभुजुः ।। ९ ।।

व्याख्यार्थ—पुष्पादिकों का विस्तार कर (भोजन के पात्र के समान बनाकर) उनको भोजन पात्र के स्थान पर समझ उनके ऊपर भात रखकर भोजन करने लगे ।। ९ ।।

आभास---बालकानां लौकिकत्वाद् भोजने प्रकार माहसर्व इति ।

आभासार्थ—बालक लौकिक थे इसलिए उनके भोजन करने का प्रकार नीचे श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक---**सर्वे मिथो दर्शयन्तः स्वस्वभोज्यरुचि पृथक् ।**
हसन्तो हासयन्तश्चाभ्यवजह्रुः सहेश्वराः ।। १० ।।

श्लोकार्थ--सब अपने भिन्न २ भोजन करने के पदार्थों का स्वाद दिखाते हुए हँसते हुए और हँसाते हुए भगवान् के साथ भोजन करते थे ।

सुबोधिनी—स्वस्वभोज्यस्यौदनादे रुचिमन्यस्मै प्रदर्शयन्तः, पृथगिति भोज्यप्रकारविशेषाणां लड्डुकादीनां, ततः स्तोत्रनिन्दाभ्यां हसन्तो हासयन्तश्चेश्वरसहिता अभ्यवजहुर्भोजनं कृतवन्तः, एवमानन्दभोजन ईश्वरसाहित्यमेव हेतुः, सर्वैरानीतान्यन्नान्येकीकृत्याग्रभागं भगवतो दत्वा भगवत्कृपयाक्षय्यान्ना बुभुजुः ॥१०॥

व्याख्यार्थ--प्रत्येक ग्वाल बालक अपने अपने भात आदि भोज्य पदार्थों का स्वाद अन्यों को दिखाते थे । सबके पृथक पृथक भोज्य पदार्थ थे उनके विशेष प्रकार लड्डू आदि के स्वाद का वर्णन करते हुए स्वयं हँसते तथा दूसरों को हँसाते हुए श्रीकृष्णचन्द्र के साथ भोजन करने लगे । इस प्रकार के आनन्द का कारण ईश्वर के साथ ग्वालों का भोजन करना था । भोजन किस प्रकार परोसते थे वह भी बताते हैं कि सब जो कुछ लाए थे उसको इकट्ठा कर प्रथम आगे का हिस्सा भगवान् को अर्पण करते थे जिससे वह भोज्य भगवान् की कृपा से अक्षय हो जाता था । अतः वे ग्वाल बिना संकोच के पूर्ण तृप्ति से भोजन करने लगे ॥ १० ॥

आभास--भगवानपि मुक्तवानिति वदन् ध्यानार्थं तादृशं रूपमनुवर्णयति विभ्रद् वेणुमिति ।

आभासार्थ—ग्वाल-बालकों के साथ स्वयं भगवान् भी भोजन करने लगे । ध्यानार्थ उस समय के रूप का वर्णन नीचे के श्लोक में करते हैं ।

श्लोक--विभ्रद् वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे,
वामे पाणौ मसृण कवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु ।
तिष्ठन् मध्ये स्वपरि सुहृदो हासयन् नर्मभिः
स्वैः स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग् बालकेलिः॥ ११ ॥

श्लोकार्थ--भोजन के समय, श्रीकृष्ण ने बंसी कमर की फेंट में खोंस ली, सींग और बेंत को बगल में दबा रखा था, वाम हस्त में घृत मिला हुआ दही भातका कौर और अंगुलियों के मध्य में भोग्य फल लेकर कर्णिका के समान यज्ञ भोक्ता भगवान् सबके सन्मुख विराजते थे और अपने हास्य वचनों से सब सुहृद्गणों को हँसाते थे एवं स्वर्गस्थ तथा लोकस्थ देवों के देखते हुए भोजन करते थे ।

सुबोधिनी—मल्लवत् कटितटे पीताम्बरमस्ति तत्र हस्ते स्थितानां वेण्वादीनां मध्ये **वेणुं** जठरपटयोर्मध्ये स्थापितवाज् छ्रृङ्गं वेत्रं च कक्षयोः, वामे पाणौ भसृणं चिक्कणं घृतदध्यादिवेष्टितं कवलमोदनं, सर्वत्र बिभ्रदितिसम्बन्धः, तत्र दध्योदन उचितानि फलानि जम्बीरकादीन्यङ्गुलीषु सन्धिषु वा बालकानां मध्ये तिष्ठन् स्वस्य परितो वर्तमानान् सुहृदो बालकान् स्वैरसाधारणैर्नर्मभिः स्वर्गे लोके तत्रस्थितदेवेषु निघत्सु सत्सु सर्वयज्ञभोक्ता बुभुजे,बालस्येव केलिविनोदो यस्य ॥११॥

व्याख्यार्थ—भोजन करने के समय में श्रीकृष्ण ने मल्लयुद्ध करने वालों के समान अपना पीताम्बर कटि पर बान्ध रखा था, हाथ में जो वेणु आदि थे उनमें से वेणु को कमर की फेंट में खोंस रखी थी सींग और छड़ी को काख (बगल) में दबाये हुए थे वाम हस्त में चिकने पदार्थ (घृत दधि सहित चाँवल) का कोर लिए हुए दही और ओदन (भात) के साथ खाने योग्य जम्बीर आदि फलों को अंगुलियों के बीच में धारण करके बालकों के बीच में स्थित, अपने चारों और फैले हुए मित्र बालकों को अपने असाधारण हास्य वचनों से स्वर्ग और लोक में स्थित देवों के सामने सर्व यज्ञ भोक्ता भगवान् ने सन्तुष्ट होकर भोजन किया। यज्ञ भोक्ता की यह लीला बालकों की क्रीड़ा के समान है ॥ ११ ॥

आभास—एवं सर्वेषां भोजने जायमाने किञ्चिदद्भुतमिव जातं तदाह भारतेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भोजन करते समय कुछ अद्भुत घटना हुई उसका वर्णन नीचे श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**भारतैवं वत्सपेषु भुञ्जानेष्वच्युतात्मसु ।**
वत्सास्त्वन्तर्वने दूरं विविशुस्तृणलोभिताः ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! ग्वालों का इस प्रकार भोजन करने और श्रीकृष्णचन्द्र में लवलीन होने पर, बछड़े तृण के लोभ से वन के अन्दर दूर चले गए।

सुबोधिनी—वत्सपेषु भुञ्जानेष्वच्युतात्मसु विस्मृतदेहेषु सत्सु वत्साः स्वयमेवान्तर्वने वनमध्ये तृणेन लोभिता दूरं गताः ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थ—बछड़ों के पालक ग्वाल बाल भोजन करने में श्रीकृष्ण में लवलीन होने के कारण अपनी देहादि की सुधि भूल गए इतने में बछड़े अपने आप ही बन में घास के लोभ से दूर निकल गए ॥ १३ ॥

श्लोक—**तान् दृष्ट्वा भयसन्त्रस्तानूचे कृष्णोस्य भीभयम् ।**
मित्राण्याशान् मा विरमतेहानेष्य वत्सकानहम् ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ--उन (बालकों) को भयभीत देखकर, जगत् की मृत्यु जिससे डरती है, उस श्रीकृष्ण ने कहा कि हे मित्रों । भोजन छोड़ कर उठो मत, मैं बछड़ों को यहाँ ले आऊँगा ।

सुबोधिनी—ततो बालका भयसन्त्रस्ता जातास्तां स्तथाविधान् दृष्ट्वा कृष्णो भगवानूचे यतोयं निर्भयः, तत्रहेतुरस्य भीभयमिति, अस्य जगतो या भीर्मृत्युस्तस्यापि भयरूपो "भीषास्माद् वातः पवत" इतिश्रुतेः, भगवतो वाक्यमाह मित्राणीति, हे मित्राण्याशाद् भोजनान् मा विरमताहमिहैव वत्सकानानेष्ये ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थ--उसके अनन्तर डरे हुए बालकों को देख कर भय रहित भगवान् श्री कृष्ण, (जिनसे कि मृत्यु जिससे सारा जगत् डरता हैं, वह डरती है और उनके ही डर से वायु अपना कार्य पूर्ण रीति से करती है) कहते हैं कि हे मित्रों । भोजन करना बन्द मत करो मैं अभी बछड़ों को ले आऊँगा ।। १३ ।।

श्लोक---**इत्युक्त्वाद्रिदरीकुञ्जगह्वरेष्वात्मवत्सकान् ।**
विचिन्वन् भगवान् कृष्णः स पाणिकवलो ययौ ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार कहकर, कौर अभी हाथ में ही था, उसको लिए हुए, भगवान् (कृष्ण) अपने बछड़ों को पर्वतों की गुफाओं कुञ्जों तथा अन्य भयानक स्थलों में ढूढने लगे ।

सुबोधिनी—इत्युक्त्वा भगवांस्ततो गत आदौ स्ववत्सकान् विचिन्वन् स पाणिकवलसहित एवाद्रिदरीकुञ्जगह्वरेषु ययौ, आदौ कियद् दूरे गतस्तत्र वत्सानदृष्ट्वाद्रेः पर्वतस्य गोवर्धनादेर्दरीषु कन्दरासु कुञ्जेषु द्रोणीषु गह्वरेषु भयानकस्थानेषु सर्वत्रैव गतः ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थ—यों कहकर भगवान् वहाँ से चले गए पहले अपने बछडों को ढूंढ़ते हुए आगे बढ़े । उस समय आपके हाथ में कौर था, उसका त्याग न कर, हाथ में उसे लिए हुए ही पहाड एवं उनकी गुफाओं में कुञ्ज तथा भयानक स्थलों में सर्वत्र गए ।

आभास--ननु निकट एव वत्साः, सम्भवन्ति कथं दूरे गत इत्याशङ्क्य मध्ये ब्रह्मणा वत्सा हृता इत्याह ।

आभासार्थ—बछड़े तो सभीप ही मिलने चाहिए फिर इतनी दूर क्यों गए ? इसका कारण था कि ब्रह्माजी बछड़ों को चुरा ले गए थे । जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

॥ शुक उवाच ॥

श्लोक--अम्भोजन्मजनिस्तदन्तरगतो मायार्भकस्येशितुर्द्रष्टुं,
मञ्जुमहित्वमन्यदपि तद्वत्सानितो वत्सपान् ।
नीत्वान्यत्र कुरूद्वहान्तरदधात् खेवस्थितो यः पुरा,
दृष्ट्वाघासुरमोक्षणं प्रभवतः प्राप्तः परं विस्मयम् ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ--श्रीशुकदेवजी कहते हैं, हे कुरू कुलदीप ! इस अवसर में वे ब्रह्माजी जो आकाश में स्थित होकर बाल-रूप धारी भगवान् कृष्ण के किए हुए अघासुर का मोक्ष देखकर विस्मित हुए थे। वे पुनः भगवान् का विशेष पराक्रम देखने की इच्छा से यहाँ से बालकों का और वहाँ से बछड़ों का हरण कर अन्य स्थान पर लेजा के उनको छिपा दिया और स्वयं तिरोहित[1] हो गए।

सुबोधिनी—अम्भोजन्मजनिरिति, अम्भोजन्म कमलं तत्र जनिर्जन्म यस्य, नाभिकमल एवोत्पन्नस्तदन्तस्तन्मध्य एवागतः सन् मायार्भकस्य मायाबालक स्येशितुर्भगवतो मंजुमहित्वं दृष्ट्वाघसायुज्यलक्षणमन्यदपि द्रष्टुमरण्याद् वत्सान् पुलिनाद् वत्सपांश्च नीत्वान्यत्र स्थापयित्वा, हे कुरुद्वहेतिविश्वासार्थं, स्वयमन्तर्धानं कृतवान् नीत्वेत्युभयत्र सम्बन्धः, ननु किमित्येवं कृतवानित्याशङ्क्याह यः पुरा ख आकाशेवस्थितःसन्नघासुरमोक्षणं दृष्ट्वा परं विस्मयं प्राप्तः, ननु किमाश्चर्यं भगवतः सकाशान् मुच्यत एवेति तत्राह प्रभवत इति, प्रकर्षेण भवत्यस्माज् जगदिति प्रभवो भगवान्, ततस्तस्मादुत्पत्तिरेवोचिता स्वदृष्टान्तेन न तु मुक्तिरिति विस्मयः, अन्यथा स्वस्यापि मुक्तिः स्यात ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थ—जिन (ब्रह्माजी) का जन्म भगवान् की नाभि रूप कमल से हुआ है, उनने उस समय आकर माया (अपनी इच्छा) से बालक रूप धारण किए हुए भगवान् की सुन्दर महिमा को अघासुर वध से जिसकी सायुज्य मुक्ति हुई थी, उसको आकाश में स्थित होकर देखी थी, जिससे विस्मित हुए थे। फिर भी दूसरी आश्चर्यमय मनोहर लीला के दर्शन की इच्छा से यहाँ (भूमि पर) आए और आकर अरण्य[1] में से बछड़ों को और यमुना तट से ग्वाल-बालकों को लेकर दूसरे स्थान पर रखकर, आप अन्तरध्यान[2] हो गए। राजा को 'कुरूद्वह' विशेषण इस लिये दिया है कि जैसे राजा कुरू स्वयं विश्वास वाले थे वैसे ही आप भी विश्वास रखो। अघासुर की भगवान् द्वारा हुए बध से मुक्ति हुई, इसमें आश्चर्य क्यों करना चाहिए इस शंका के निवारणार्थ श्लोक में 'प्रभवतः' शब्द कहा है। उत्कृष्ट[3] रीति से जगत् का जिससे जन्म होता है उसको 'प्रभव' अर्थात भगवान् कहते हैं। इसलिये उस (भगवान्) से तो उत्पत्ति होनी चाहिऐ जैसे मेरी हुई है, वह न होकर मुक्ति क्यों हुई ? यह देखकर ब्रह्मा को आश्चर्य हुआ कि जो उत्पन्न करने

१—अन्तरध्यान। १—बन। २—छिप गए। ३—उत्तमत्ता से।

वाला है उसने नाश (मुक्ति) कैसे किया तदि वैसा है तो मेरी भी मुक्ति होनी चाहिऐ ॥ १५ ॥

श्लोक---**ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य पुलिनेपि च वत्सपान् ।**
उभावपि वने कृष्णो विचिकाय समन्ततः ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ—जब श्रीकृष्ण बछड़ों को न देख अर्थात् जब बछड़े भगवान् को नहीं मिलने पर व लौट कर जमुना तट पर आए तो वहाँ ग्वालों को भी नहीं देखा तब आप उन दोनों को वन में चारों तरफ ढूँढने लगे।

सुबोधिनी—ततो भगवान् वनाददृष्ट्वैत्य पुलिनेपि वत्सपानदृष्ट्वा प्रायेणैते वत्सपास्वयमपि वत्सानन्वेष्टु | गता इत्युभावप्युभयविधानपि वने भगवान् समन्ततो-विचकाय ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ—इसके अनन्तर, भगवान् बछड़ों को न देखकर अर्थात् प्राप्त कर बन से लौट कर आए, तो यहाँ तट पर ग्वालों को भी न देख कर समझे कि ये ग्वाले स्वयं बछड़ों को ढूँढने गए हैं। तब भगवान् इन (बछड़ों और ग्वालों) दोनों को वन में चारों तरफ ढूँढने लगे ॥ १६ ॥

श्लोक---**क्वाप्यदृष्ट्वान्तर्विपिने वत्सान् पालांश्च विश्ववित् ।**
सर्वं विधिकृतं कृष्णः सहसावजगाम ह ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ---सर्वज्ञ श्री कृष्ण ने बन में कहीं भी बछड़े और ग्वालों को न देख झट समझ लिया कि यह सब कृत्य ब्रह्मा के हैं।

सुबोधिनी—ततोन्तर्विपिने क्वापि वत्सान् वत्सपां-श्चादृष्ट्वा विचार क्रियमाणे विश्ववित् सर्वज्ञो विधिकृतं | सर्वमिति सहसा शीघ्रमेवावजगाम ज्ञातवान् हेत्याश्चर्यम् ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थ---उसके पीछे वन के भीतर कहीं भी बछड़ों और ग्वालों को न देख कर विचार किया कि वे कहाँ चले गए ? कृष्ण ने जो विश्व को जानने वाले अर्थात् सर्वज्ञ हैं। उनने झट समझ लिया कि यह कार्य ब्रह्मा का है 'ह' का अर्थ आश्चर्य है इससे यह जताया कि भगवान् को आश्चर्य इसलिये हुआ, कि जो मेरे स्वरूप को जानता है और मुझ से पैदा हुआ है, उसने यह कार्य किया है जो उसको नहीं करना चाहिये था अतः आश्चर्य है ॥ १७ ॥

श्लोक---**ततः कृष्णो मुदं कर्तुं तन्मातृणां च कस्य च ।**
उभयायितमात्मानं चक्रे विश्वकृदीश्वरः ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ—इसके अनन्तर विश्वकर्त्ता भगवान् कृष्ण, ब्रह्मा को और ग्वालों की माताओं को प्रसन्न करने के लिये आप ही सर्व वत्स और ग्वाल रूप बन गए।

सुबोधिनी—ततो भगवान् ब्रह्मणो मुदं कर्तुं बालकान् नानीतवान्, तथा सति तस्य स्वप्रयासवैयर्थ्यात् खेद एव भवेत्, तूष्णीं गृहगमने तु तन्मातृणां खेदो भवेत्, अत उभयेषां मुदं कर्तुमात्मानमुभयायितं चक्रे यतोयं विश्वकृत्, कोयं प्रयासः ननु तज्जनकानां कालकर्म-स्वभावानामभावात् कथं कृतवानित्याशङ्क्याहेश्वर इति ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ—उसके पीछे भगवान् ने विचारा कि जो मैं बछड़ों को ले आऊँगा तो ब्रह्मा, अपने परिश्रम को व्यर्थ समझ दुःख पाएगा अतः ब्रह्मा प्रसन्न हो इसलिए बछड़ों को नहीं ले आए, और बालकों को तथा बछड़ों को घर न ले चलूंगा तो बछड़ों की माताएँ (गौएँ) तथा ग्वालों की माताएँ दुःखीं (खेदयुक्त) होंगी। अतः इन दोनों को प्रसन्न करने के लिए भगवान् ने वत्स और ग्वालों के समान रूप धारण किए क्योंकि आप विश्व को बनाने वाले हैं अतः उनको इस स्वल्प कार्य में कोई परिश्रम नहीं हुआ। बछड़े और बालक जो बनाए उनके काल, कर्म और स्वभाव तो थे नहीं फिर वे कैसे बनाए ? इस शंका को मिटाने के लिए कृष्ण का विशेषण (गुण दिखाने वाला) शब्द 'ईश्वर' दिया है। ईश्वर का अर्थ है कि जिसमें सब प्रकार के कार्य करने, न करने और अन्यथा करने की शक्ति हो। अतः कृष्ण ने काल कर्म और स्वभाव का विचार न कर वे स्वयं बाल और वत्स रूप बन गए। इसलिये वे बाल वत्स लौकिक काल, कर्म और स्वभाव से बने हुए पाँच भौतिक व मायिक नहीं थे ॥ १८ ॥

आभास—इयं सृष्टिरात्मसृष्टिरेव जातेत्याह यावदिति।

आभासार्थ—यह सृष्टि ग्वाल-बाल और बछड़े आत्म-सृष्टि ही थे, अर्थात् भगवान् ही ग्वाल और बछड़े बन गए। यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**यावद्वत्सकवत्सपाल्पकवपुर्यावत्कराङ्घ्र्यादिकं**
यावद्यष्टिविषाणवेणुदलशिग् यावद्विभूषाम्बरम्।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद्विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ—जितने बालक वत्स जैसे उनके छोटे शरीर जैसे उनके छोटे-छोटे हाथ पाँव आदि अंग, जितने उनके पास सींग, छड़ी, वेणु पत्ते और छींके आदि थे जैसे उनके गहने, कपड़े थे जैसा उनका स्वभाव, गुण, नाम, रूप और अवस्था और जैसे उनके विहारादिक थे, उसी प्रमाण से 'सब जगत् विष्णुमय है' ऐसी जो प्रसिद्ध वाणी है, इसी वाणी के अनुसार, यथार्थ रूप से, सर्व स्वरूप भगवान्, शोभित हुए।

सुबोधिनी—यावन्तो वत्सा वत्सपाश्च सङ्ख्यया तावान् भगवानेव जातोल्पकानि वपूंषि जातः, यावदिति पदार्थानतिवृत्तौ, वत्सकवत्सपाल्पकवपुर्यावत् तावद्रूपो जात इत्यवधारणे वा, कराङ्घ्र्यादिकं यावत् तावदपि जातो यष्टिविषाणवेणुदलशिग् यावद् विभूषाम्बरं च यावत् तावदपि जातः, शीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद् विहारादिकं च यावत् तावद्रूपः सन् बभावितिसम्बन्धः, ननु कथमेवं जातं इत्याशङ्क्याह सर्वस्वरूप इति नन्वेकस्य कथं सर्वभावस्तत्राह "सर्वं विष्णुमयं जग" दित्यत्रवाक्ये "सर्वं विष्णुमय" मितिप्रतीकग्रहणं, "सर्वं विष्णुमय" मित्येवरूपा या गीस्तस्या अङ्गवदर्थवत् 'सर्वं विष्णुमयं जग' दितिवाक्यार्थो यथाश्रुतो यथोपपद्यत आत्मसृष्ट्याधिदैविकसृष्ट्या वा यथैवोपपद्यते तथैवैतदपि जातमिति ज्ञातव्यम् ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थ—ग्वाल-बाल और बछड़ों की जितनी संख्या थी उतने ही भगवान् स्वयं हो गए। उनके जैसे छोटे शरीर थे आपने भी वैसे छोटे रूपों को ग्रहण किया था। 'यावत्' शब्द का यही भाव है कि उनमें किसी प्रकार की घटती बढ़ती नहीं की थी। उनके जितने हाथ अंगुलियां आदि थे आप भी वैसे ही और उतने ही बन गए। उनके पास जितनी छड़ियें, सींग, वेणु, पत्ते और छींके थे आप भी उतने ही बन गए जितने और जैसे गहने और कपड़े थे वैसे ही आप हो गए। जैसा उनका स्वभाव, गुण नाम, रूप और अवस्था तथा जैसे विहारादिक थे, उसी प्रमाण बनकर भगवान् शोभित हुए। कृष्ण इस प्रकार कैसे हुए इस शंका के मिटाने के लिए श्लोक में कृष्ण का विशेषण 'सर्व स्वरूप' दिया है अर्थात् सब रूप कृष्ण के हैं। कृष्ण जब चाहें तब वह रूप ग्रहण कर सकते हैं। एक में सर्व के भाव कैसे होंगे उसका उत्तर श्लोक में 'सर्वं विष्णु मयं' पद से दिया है इसका यह तात्पर्य है कि सकल जगत् विष्णु रूप है। इस प्रकार की जो वाणी (वेदवाणी) प्रसिद्ध सुनी जाती है। तदनुसार जैसे आत्म-सृष्टि आधिदैविकी सृष्टि प्रकट होती है उसी प्रकार यह सृष्टि भी हुई है, यों समझना चाहिए ॥ १९ ॥

आभास---एवं सर्वरूपो भूत्वा रूपाणां विनियोगमाह स्वयमिति।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् ने सर्वरूप बनकर उसका जिस तरह उपयोग किया है उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक---**स्वयमात्मात्मगोवत्सान् परिवार्यात्मवत्सपैः।**
क्रीडन्नात्मविहारैश्च सर्वात्मा प्राविशद् व्रजम् ॥ २० ॥

श्लोकार्थ—आप ही निज रूप ग्वालों से, निजरूप बछड़ों को घेर कर आत्मरूप विहारों से क्रीड़ा करते सर्वात्मा भगवान् व्रज में पधारे।

सुबोधिनी—स्वयमेव भगवानात्मना स्वेनैवात्मरूपान् गोवत्सान् परिवार्यात्मरूपैरेव वत्सपैस्तत्तद्वत्सान् परिवार्य सह वात्मरूपैरेव विहारैः क्रीडन् स्वयमेव धर्मिधर्मभावं प्राप्तः सर्वात्मा व्रजं प्राविशत ॥ २० ॥

व्याख्यार्थ—आप ही भगवान् अपने ही रूपवाले बछड़ों को तथा अपने ही रूप ग्वाल-बालों से उनके बछड़ों को चारों तरफ से घेरकर, उनके साथ आत्म-रूप विहारों से खेलते हुए धर्मी और धर्म-भाव को प्राप्त कर (खिलाड़ी आप, खेल आप और खिलौने आप, होकर) वे सर्वात्मा व्रज में पधारे ॥ २० ॥

श्लोक---**तत्तद्वत्सान् पृथङ् नीत्वा तत्तदगोष्ठे निवेश्य सः ।**
तत्तदात्माभवद् राजंस्तत्तत् सद्म प्रविष्टवान् ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! उन उन बछड़ों को पृथक्-पृथक् लेकर उन उन गोष्ठों[1] में प्रविष्ट कराके वे बाल रूप भगवान् उन घरों में प्रविष्ट हुए ।

सुबोधिनी—ततस्तत्तद्वत्सान् पूर्ववदेव यावता मार्गेण यत्र गम्यते तावद् दूर एव ततस्ततः पृथङ् नीत्वा तत्तद्गोष्ठे निवेश्य स्थापयित्वा स एव भगवान् तत्तदात्मा-भवत् तत्र स्थित्यर्थं तत्तद्भावं प्राप्तवान् बन्धनादिभावं ततो वस्तरूपेण तत्तत् सद्म गृहं तेनतेन प्रकारेण प्रविष्टवान् ॥ २१ ॥

व्याख्यार्थ—उसके पीछे उन उन बछड़ों को पहले की तरह ही, जिस राह से जो जहाँ जाते थे उतनी दूर ही जाकर वहाँ वहाँ से अलग-अलग उनको लाकर व्रज को ले चले । व्रज में आकर अपने-अपने गोष्ठों में उनको स्थापित किए, वे ही वहाँ स्थित होने के लिए भगवान् वत्स और बाल-रूप हुए थे अतः बन्धनादिभाव को प्राप्त होने के लिए गोष्ठों में एवं निवासादिक करने के लिए गृहों में प्रविष्ट[2] हुए ॥ २१ ॥

आभास—एवं तेषां कार्यमुक्त्वा गोपिकानां पूर्ववदेव तेषु वृत्तिमाह तन्मातर इतिद्वाभ्यां ।

आभासार्थ—इस प्रकार उनके कार्य का वर्णन कर निम्न दो श्लोकों में कहते हैं कि गोपियाँ का उनमें पहले की तरह ही प्रेम था ।

श्लोक—**तन्मातरो वेणुरवत्वरोत्थिता उत्थाप्य दोर्भिः परिरभ्य निर्वृताः ।**
स्नेहस्नुतस्तन्यपयःसुधासवं मत्वा परं ब्रह्म सुतानपाययन् ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ—मुरली का शब्द सुनते ही त्वरा[3] से उठी, उनकी माताओं ने उनको (बालरूप परब्रह्म को) अपने पुत्र समझ अपने हाथों से उठाकर अलिङ्गन कर अत्यन्त

१—गायों के बाड़े या गौशालाओं । २—घुसे, प्रवेश हुए । ३—जल्दी ।

प्रसन्न तथा आनन्दमय हो गईं, उस आनन्द स्नेह के कारण टपकते हुए अपने स्तन्य को, जो अमृत के समान मधुर और आसव[1] के समान मादक[2] था वह पिलाने लगीं।

सुबोधिनी —वेणुरवे श्रुते त्वरयोत्थिता जाताः, उपविष्टानपि बालकान् दोर्भिरुत्थाप्य परिरभ्य निर्वृता जाता देहस्वभावोपि तदधिष्ठातृकृतस्तथैव जात इत्यत्यन्तस्नेहेन स्नुतं तनूद्भवं यत् पयस्तदेव सुधारूपमासवं मादकं च जातं तादृशं पयः परं ब्रह्म सुतान् मत्वा-पाययन्, वस्तुतस्त्वेते मुक्तस्तना भवन्ति ।। २२ ।।

व्याख्यार्थ—वेणु की ध्वनि सुनते ही माताएँ वेग से उठ खड़ी हो गईं बैठे हुए बालकों को भी हाथों से उठाकर आलिगन किया जिससे आनन्द मग्न हो गई। देह का स्वभाव भी वैसा हो गया, जैसा देह के अधिष्ठाता ने बनाया था। इस प्रकार अत्यन्त स्नेह से जो शरीर (स्तन) से उत्पन्न पय[3] टपकने लगा था, वह अमृत रूप और मादक हो गया। वैसा पय परब्रह्म को पुत्र समझ कर पिलाने लगीं। वास्तविक रीति से देखा जाय तो बालक तो बड़े थे उन्होंने माता का स्तन्यपान तो छोड़ दिया था* ।। २२ ।।

आभास—ततो बहिरपि सेवां कृतवत्य इत्याह।

आभासार्थ—अनन्तर माताओं ने बाहिर की भी सेवा की, जिसका वर्णन निम्न श्लोक में है।

श्लोक—**ततो नृपोन्मर्दनमज्जलेपनालङ्काररक्षातिलकाशनादिभिः।**
संलालितः स्वाचरितैः प्रहर्षयन् सायं गतो यामयमेन माधवः ।। २३ ।।

श्लोकार्थ—हे नृप ! माधव भगवान् काल को अपने नियम में रखकर शामको घर पधारते तब अपने चरित्रों से आनन्द देते हुए भगवान् का माताओं ने मर्दन[4] स्नान लेपन, अलङ्कार रक्षा तिलक और भोजन आदि से लालन किया।

सुबोधिनी – हे नृप, प्रथममुन्मर्दनं तैलपिष्टेनोद्वर्तनं, ततो मज्जो मज्जनं, स्नानमित्यावत्, ततो लेपनं गन्धादिना, ततोलङ्काराः, ततो रक्षा, ततस्तिलकादि, ततोशनं भोजनं, ततो वार्तासुखशयनादि, तैः सर्वैरेव संलालितः सन् स्वाचरितैर्यथापूर्वं बालका आचरन्ति तादृशचरित्रैः प्रकर्षेण हर्षयन् जातः, नन्वेतावता भूयान् कालो लगति तत् संसारव्यापृतानां प्रत्यहं कथं सम्भवतीत्याशङ्क्याह सायं गत इति, सायङ्कालेपि गतस्तावद्भावं प्राप्नोति,

---

* इससे वात्सल्यभाव की पराकाष्ठा (सब से ऊँची हद्द) दिखाई गई—अनुवादक।

१—मदिरा, मद्य। २—मस्ती लाने वाला। ३—दूध। ४—मालिश।

तत्रहेतुर्यामयमेनेति यामस्य कालस्य प्रहरात्मकस्य यमेन नियमेन, यावतैतावान् कालो भवति तावत् सूर्यगतिः कुण्ठिता भवतीत्यर्थः, कथमेवमत आह माधव इति, लक्ष्मीपतिरयमतः सर्वसम्पत्तिः, कालस्य च नियन्तातो न कालकृतानुपपत्तिरिति ।। २३ ।।

व्याख्यार्थ—प्रथम माताओं ने बालकों का तेल से मिले हुए पिष्ट[1] द्रव्यों[2] से मर्दन किया अनन्तर स्नान, गंध आदि पदार्थों से लेपन आभूषण पहना कर अलंकृत किया एवं रक्षा और तिलक किए अन्त में भोजन कराके कहानियाँ कहते हुए शयनादि कराया। उन सब से माताओं द्वारा लालन किए हुए बालक पूर्व के समान चरित्रों से विशेष हर्ष देने लगे। ये कार्य प्रतिदिन कार्य में व्यावृत होने से प्रातःकाल में नहीं कर सकती थीं अतः सायंकाल में बन से लौटते थे तब होता था यहाँ शँका होती है कि शामको लौटने के पीछे इस प्रकार लालनादि करने में तो समय बहुत लगेगा सूर्य तो अस्त हुआ होगा रात्रि हो जाती होगी। इसके प्रत्युत्तर में श्लोक में 'याम यमेन' शब्द दिया है जिसका भावार्थ है काल को नियम में रखकर (अपने आधीन कर) शाम को आते थे। क्योंकि वे जानते थे कि माताओं को इतना कार्य करना है। इसलिये सूर्य की गति (चलना) रुक जाती थी। जब माताएँ यह कार्य कर लेती थीं तब सूर्य अस्त हो जाता था। इस प्रकार कैसे हो सकता है ? इसके उत्तर में भगवान् का विशेषण 'माधव' दिया है जिसका भाव यह है कि कृष्ण, लक्ष्मी (सर्व सम्पत्ति) का पति है। और काल का भी नियामक है। अतः काल के द्वारा उसके कार्य में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध[3] नहीं हो सकता है ।। २३ ।।

आभास—एवं मातृणां बालेषु वृत्तिमुक्त्वा गवां वत्सेषु वृत्तिमाह गाव इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार माताओं की वृत्ति का वर्णन कर अब गौओं के वत्सों के प्रति, वृत्ति का वर्णन करते हैं।

श्लोक—गावस्ततो गोष्ठमुपेत्य सत्वरं हुङ्कारघोषैः परिहूतसंगतान् ।
स्वकान् स्वकान् वत्सतरानपाययन् मुहुर्लिहन्त्यन्: स्रवदौधसं पयः ।। २४ ।।

श्लोकार्थ—तत्पश्चात् गौ शीघ्र गोष्ठ में आकर, हुँकार शब्दों से बछड़ों को बुलाने लगीं, जब वे पास आ गए तब अपने अपने बछड़ों को चाटती हुई थनों में से स्रवित[4] दूध पिलाने लगीं।

सुबोधिनी—ततो वत्सप्रीत्यनन्तरं गावोपि गोष्ठमुपेत्य सत्वरं त्वरया हुङ्कारघोषैः स्वकृतैर्हुङ्कारशब्दैः परिहूता आहूताश्च ते संगताश्च, ततस्तादृशान् स्वकान् स्वकान् वत्सतरान् स्थूलवत्सानप्यपाययन् स्नेहान्

१—पिसे हुए। २—चीजों से। ३—रुकावट। ४—झरता हुआ।

मुहुर्लिहन्त्यः न चाग्रे दोहः कथं भविष्यतीत्याशङ्कनीयं, यतः स्नवदेवौधसमोधः सम्बन्धि पयो न त्वन्तःस्थितम् ॥ २४ ॥

व्याख्यार्थ——गौओं ने जो अपने अपने बछड़ों को देखा तो उनके अन्तःकरण में भी बछड़ों के लिए वात्सल्य प्रेम उत्पन्न हुआ। प्रेम उत्पन्न होने के अनन्तर वे भी शीघ्र गोष्ठ में आ गईं और अपने हुँकारो की ध्वनियों से बछड़ों को बुलाने लगीं वे आकर मिले। फिर मिले हुए उन अपने स्थूल अपने बछड़ों को स्नेह से बार-बार चाटती हुई पिलाने लगीं। यदि बछड़ों को दूध पिला दिया तो दोहन क्रिया पीछे कैसे होगी ? यह शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि जो दूध बछड़ों को पिलाने लगीं वह दूध स्नेह के कारण थनों से जो टपक रहा था वह पिलाया न कि जो भीतर थनों में दूध था वह तो भीतर ही पड़ा था। जिससे दोहन क्रिया बिना संकोच हो सकती थी ॥ २४ ॥

आभास——एवमुभयविधानां पूर्ववत् स्थितिमुक्त्वा विशेषमाहगो गोपीनामिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार वत्स और बालकों की पहले जैसी स्थिति कही अब इस श्लोक में विशेष स्थिति का वर्णन करते हैं।

श्लोक——**गोगोपीनां मातृतास्मिन् सर्वाः स्नेहर्द्धिकां विना ।**
पुरोवदास्वपि हरेस्तोकता मायया विना ॥ २५ ॥

श्लोकार्थ——गौ और गोपियों का भातृभाव तो इसमें पहले जैसा ही रहा, किन्तु अब आगे से प्रेम विशेष होने लगा। गौ और गोपियों में भगवान् का बाल (पुत्र) भाव तो वैसा ही रहा किन्तु इस समय भगवान् का बाल-भाव रूप धर्म, माया से प्रकट किया हुआ है। माया को छोड़कर तो स्वरूप से बाल-भाव तो पूर्व के समान ही है।

सुबोधिनी—गवां **गोपीनां** च **मातृता** मातृभावः सेवादिरूपः **सर्वोप्यस्मिन्** नूतन पुत्रेपि पूर्ववदेवासीत्, परं स्नेहर्द्धिकां विना स्नेहर्द्धिस्त्वधिका जाता, **आस्वपि गोगोपीषु हरेस्तोकतां** पूर्ववदेवासीत्, स्तोकेषु यादृशो भावः सा **स्तोकता** मातृविषयिणी स्तोकनिष्ठा हरेरप्यासीद् यथा पूर्वं, स्तोकानां परमिदानीं भगवति स धर्मो मायया जातः, अतो **मायया विना** मायां परित्यज्य स्वरूपतः पूर्ववदेवासीदित्यर्थः ॥ २५ ॥

व्याख्यार्थ—गौओं का तथा गोपियों का सेवा आदि करने का सर्व मातृ-भाव तो इस नए पुत्र में पूर्व के समान ही था। किन्तु अब स्नेह विशेष उत्पन्न हुआ है। हरि अपने को गोपियों का मैं बालक हूँ यह पूर्व के समान समझते थे। किन्तु यह धर्म इस समय भगवान् ने अपने में माया से उत्पन्न किया है अर्थात् माया के बिना अर्थात् माया का त्याग करने पर स्वरूपतः वास्तविक रीति से बाल-भाव पूर्व की तरह ही है ॥ २५ ॥

आभास——एवमारम्भ एव स्नेहाधिक्यमुक्त्वा तस्य वृद्धिमाह व्रजोकसामिति ।

आभासार्थ--इस प्रकार आरम्भ में स्नेह की अधिकता होना कह कर अब इस श्लोक में स्नेह की वृद्धि बताते हैं।

श्लोक—**व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्ल्याद्वमन्वहम् ।**
शनैर्निःसीम ववृधे यथा कृष्णे त्वपूर्ववत् ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ---व्रजवासियों का पहले यशोदानन्दन श्रीकृष्ण में अपने पुत्रों से भी अधिक जैसा असीम प्रेम था वैसा स्नेह इस समय एक वर्ष पर्यन्त अपने पुत्रों में बढ़ा।

सुबोधिनी—स्वतोकेषु स्वस्वबालकेषु स्नेहवल्ली शीघ्रमेव वर्धमानान्वहं ववृधे, शनैरिति वैलक्षण्याज्ञानार्थं, ततो निःसीम ववृधे, यथा कृष्णे तु पूर्ववत्, कृष्णे त्व-पूर्ववदेव, कृष्णशब्दः सप्तम्यन्तो वारद्वयमावर्तते ॥२६॥

व्याख्यार्थ--अपने-अपने पुत्रों में स्नेह रूप बेल शीघ्र ही प्रति दिन धीरे-धीरे बढ़ने लगी। धीरे-धीरे कहने का आशय यह है कि वह बढ़ते हुए प्रेम की विलक्षणता कोई समझ न सके। प्रेम बिना सीमा के बढ़ता ही गया। जैसे कृष्ण में पहले निःसीम प्रेम नित्य बढ़ता ही जाता था। वैसे ही इन अपने-अपने पुत्रों में स्नेह बढ़ने लगा ॥ २६ ॥

आभास---एवं भगवच्चरित्रं नूतनमुक्त्वोपसंहरतीत्थमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् का नवीन चरित्र वर्णन कर निम्न श्लोक में उस चरित्र की कथा का उपसंहार करते हैं।

श्लोक---**इत्थमात्मात्मनात्मानं वत्सपालमिषेण सः ।**
पालयन् वत्सपो वर्ष चिक्रीडे वनगोष्ठयोः ॥ २७ ॥

श्लोकार्थ---इस प्रकार श्रीकृष्ण वत्स पालक (ग्वाला) होकर, वत्स और पालक के बहाने से अपने ही स्वरूप को आप ही पालन करते हुए एक वर्ष पर्यन्त वन और गोष्ठों में खेलने लगे।

सुबोधिनी—आत्मा कृष्ण आत्मना वत्सरूपेणात्मानं वत्सरूपं वस्तुतः स्वयमेव वत्सः पाल इतिमिषमात्रं व्याजमात्रं, तेन स एव वत्सपो भूत्वात्मानं पालयन् वनगोष्ठयोर्वने गोष्ठे च चिक्रीडे क्रीडां कृतवान् ॥२७॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में एक ही आत्मन् शब्द तीन विभक्तियों आत्मा, आत्मना और आत्मानं में आया है। उनका अर्थ बताते हैं कि 'आत्मा' श्रीकृष्ण, 'आत्मना' वत्सरूप से 'आत्मानं' वत्स रूप को अर्थात् वास्तविक रीति से वत्स रूप (बछड़े का रूप) और ग्वाल रूप भी आप आत्मा

(श्रीकृष्ण) ही बने थे। ये सब रूप दिखावे मात्र के थे इसकहने का आशय यह है कि आप श्रीकृष्ण ही ग्वाले बनकर अपने ही रूप वत्सों (बछड़ों) का पालन करते हुए बन और गोष्ठ में क्रीड़ा करने लगे ॥ २७ ॥

आभास----इदानीं गोकुलवासिनां सर्वेषां मध्ये बलभद्रस्य भगवत एवंलीलया ज्ञानं जातमिति वक्तुमुपाख्यान मारभत एकदेति।

आभासार्थ—श्रीकृष्ण ने ग्वाल और वत्सों का रूप धारण किया है इसका ज्ञान अब तक बलरामजी को भी नहीं था अतः उनको जताने के लिये निम्न श्लोक से उपाख्यान[1] प्रारम्भ करते हैं।

श्लोक—**एकदा चारयन् वत्सान् सरामो वनमाविशत्।**
पञ्चषासु त्रियामासु हायनापूरणीष्वजः ॥ २८ ॥

श्लोकार्थ- --एक वर्ष पूर्ण होने में शेष पाँच छ रात्रि थी, तब श्रीकृष्ण, बलरामजी को साथ में लेकर बछड़ों को चराने के लिए बन में पधारे।

सबोधिनी—यदा भगवत इच्छा, **वत्सान्** पालयन् **बलभद्रसहितो वनमाशित्** यत्र गह्वरे बने गावश्चरन्ति तत्र गतः **पञ्चषासु** रात्रिषु **हायनापूरणीषु** सत्सु वत्सापहरणे वर्षमात्रं जातं पञ्च वा षड् वा रात्रयो न्यूनाः, **त्रियामा** इत्यल्पत्वं, **अज** इति वत्सपालरूपेण तन्मातृभ्यो न जातः केवलं स्वयमेव तथा वर्तत इतिज्ञापनार्थमुक्तम् ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थ—किसी समय जब भगवान् की इच्छा हुई तब बलरामजी को साथ ले बछड़ों को चराने जहाँ घना जंगल था, जहाँ गौऐं घास चरती थीं वहाँ बन में पधारे। ब्रह्मा बाल और बछड़ों को ले गया और आप बाल वत्स रूप बन गए इस लीला को पाँच छः रात्रि कम एक वर्ष पूर्ण होने आया था। श्लोक में 'त्रियामा' पद का भाव यह है कि तीन प्रहर कहने से रात्रियाँ छोटी थीं यह बताया है। श्लोक में 'अज' पद का भाव यह है कि इस समय बछड़ों की रक्षा करने वाले ग्वाले माता के गर्भ से उत्पन्न ग्वाले नहीं हैं किन्तु 'अज' हैं अर्थात् जिनका जन्म नहीं केवल वह आप भगवान् ही ग्वाल रूप हैं ॥ २८ ॥

टिप्पणी—व्याख्या में कृष्ण शब्द दो बार लिया गया है जिसका आशय है कि एक स्वयं कृष्ण और अब सर्व बाल भी कृष्ण के रूप थे। अतः बालक कृष्ण रूप होने से उनमें भी व्रजवासियों का निःसीम प्रेम प्रतिदिन वर्ष पर्यन्त बढ़ा।—अनुवादक।

१—इतिहास, कहानी, कथन।

आभास---ततो यदासीत् तदाह ।

आभासार्थ—इसके अनन्तर जो कुछ हुआ वह इस श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक---**ततो विदूराच्चरतो गावो वत्सानुपव्रजम् ।**
गोवर्धनाद्रिशिरसि चरन्त्यो ददृशुस्तृणम् ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ—गोवर्धन पर्वत के शिखर पर घास चरती हुई गौओं ने दूर से ब्रज के समीप चरते हुए अपने बछड़ों को देखा ।

सबोधिनी—विशेषेण दूराद् दूरे **चरतो वत्सानुपव्रजं** ब्रजसमीप एव स्थितान् ब्रजसमीपारण्ये स्थितानित्यर्थः, **गोवर्धनाद्रिशिरसि चरन्त्यो गावो ददृशुः ॥ २९ ॥**

व्याख्यार्थ—गौओं ने दूर दूर चरते हुए बछड़ों को ब्रज के समीप वाले अरण्य[1] में स्थित देखा । उस समय स्वयं गौ गोवर्धन पर्वत के शिखर पर घास चर रही थीं ॥ २९ ॥

आभास ---यद्यपि गवा तृणमत्यभीष्टं तथापि तत् परित्यज्य वत्सस्नेहाद् वत्ससमीपमागता इत्याह दृष्टवेति ।

आभासार्थ—यद्यपि गौओं को घास अत्यन्त प्रिय था तो भी उसको छोड़कर बछड़ों के स्नेहवश हो बछड़ों के पास आईं इस श्लोक में उसका वर्णन है ।

श्लोक—**दृष्ट्वाथ तत्स्नेहवशीस्मृतात्मा स गोव्रजोत्यात्मपदुर्गमार्गः ।**
द्विपात् ककुद्ग्रीव उदास्यपुच्छोगाद्धुङ्कृतैरास्रुपया जवेन ॥ ३० ॥

श्लोकार्थ—देखते ही सबकी सब उनके स्नेहवश हो, अपनी देह की सुध भूल गईं । उनके थनों में से दूध टपकने लगा । ग्वाल और विषम मार्ग का रंचक भी ध्यान न रख कर, ऐसी दौड़ी कि मानो दो ही पावों से चल रही हों और उनकी गर्दनें डील से मिल गई थीं सिर और पूँछ को ऊँचा कर (उठा कर) बडे वेग से हुंकार शब्द करती हुई अपन अपने बछड़ों के पास आन पहुँची ।

सुबोधिनी—पूर्वमपि पश्यन्ति कदाचित् तद्व्यावृत्त्यर्थं भिन्नप्रक्रममाहाथेति, तत्स्नेहेन वत्सस्नेहेन वशीकृतस्त**त्स्नेहवशोत एवास्मृत आत्मा** देहो येन **स** प्रसिद्धोपि **गोव्रजः** सर्वा एव गावोत्यात्मपदुर्गमार्गो जातः, अतिक्रान्ता

१—बन जंगल ।

आत्मपा गोपाला दुर्गश्च मार्गो येन, रक्षकानतिक्रम्य कण्टकादिभूयिष्ठमपि प्रदेशं मार्गव्यतिरेकेणैव। तिक्रम्यागत इत्यर्थः किञ्च द्विपाज् जातो योजितपादद्वयेनैवोत्प्लवनेनैव धावति, ककुदि, ग्रीवा यस्य, उद्ध्वंमास्ये पुच्छं यस्यैतादृशः सन्नगाद् वत्ससमीपे समागतो हुङ्कृतैः सह, अ समन्तात् स्रवतीत्यास्रु, आस्रु पयो यस्य स आस्रुपया जवेनागतः ॥३०॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में कहे हुए 'अथ' शब्द का भाव बताते हैं कि गौएं अपने बछड़ों को पहले भी देखती थीं किन्तु अब का देखना अन्य प्रकार का है इसलिये 'अथ' शब्द 'आरम्भ में' के अर्थ में दिया गया है। अर्थात् इस प्रकार देखने से नया विशेष प्रेम उत्पन्न होने से गौओं ने विशेष प्रकार की क्रिया की जैसे कि अबकी बार देखते ही उनमें ऐसा प्रेम उत्पन्न हुआ जो उनके वश में हो गईं, जिससे अपने देहादि को भी भूल गईं। सब गौओं ने अपने पालक गोपों का तथा कांटे वाले मार्ग और कठिन मार्ग का भी ध्यान नहीं किया और शीघ्र ही उनका अतिक्रमण करती हुई दो पैरों से उछलती कूदती दौड़ती हुई जा रही थीं। उस समय उनकी ग्रीवाएँ हुड्डों में मिली हुई सी दीखने में आती थीं तथा उनकी पूछें लम्बी और ऊंची हो रही थीं, इसी तरह जाते समय हुङ्कार करती हुई, और अपने थनों से दूध को टपकाती हुई बछड़ों के पास आ गईं ॥ ३० ॥

श्लोक---**समेत्य गावोधोवत्सान् वत्सवत्योप्यपाययन् ।**
गिलन्त्य इव चाङ्गानि लिहन्त्यः स्वौधसं पयः ॥ ३१ ॥

श्लोकार्थ----बछड़ों वाली इन गौओं ने गोवर्धन से नीचे आकर जिन बछड़ों ने दूध पीना भी छोड़ दिया था उनके अंगो को इस तरह चाटती हुई, मानों उनको निगल जाएगी (पेट में ही रख लेंगी) उनको दूध पिलाने लगी।

सुबोधिनी—ततः समेत्य वत्सवत्योप्यधोवत्सांस्त्यक्तवत्सानप्यपाययन्, तत्राप्यङ्गानि गिलन्त्य इव लिहन्त्यः स्नेहमुद्विरन्त्यस्तथा कुर्वन्ति, नात्र तासां कश्चन दोषो यतः स्वौधसं स्वस्यैवौधसि स्थितं पयः ॥ ३१ ॥

व्याख्यार्थ—अनन्तर नीचे आकर बछड़ों से मिलीं यद्यपि उन्होंने दूध पीना छोड़ भी दिया था और गौओं के दूसरे छोटे बछड़े भी थे तो भी उनको दूध पिलाने लगीं दूध पिलाते समय स्नेह प्रकट करती हुई बछड़ों को इस प्रकार चाटती थीं मानो उनको निगल रही हैं। ऐसा करने में इनका कोई दोष नहीं था क्योंकि जो दूध इनके थनों में भरा हुआ था वह पिलाया ॥ ३१ ॥

आभास—एवं गवां स्नेहाधिक्यमुक्त्वा गोपानां स्नेहाधिक्यमाह गोपा इति।

आभासार्थ---इस प्रकार गौओं के स्नेह की अधिकता का वर्णन कर अब निम्न तीन श्लोकों से बालकों पर गोपों के प्रेम की विशेषता का वर्णन करते हैं।

श्लोक----गोपास्तद्रोधनायासमौढ्यलज्जोरुमन्युना ।
दुर्गाध्वकृच्छ्रतोभ्येत्य गोवत्सैर्ददृशुः सुतान ।। ३२ ।।

श्लोकार्थ----धेनुओं के रोकने का प्रयास व्यर्थ होने से गोप पहले 'किंकर्त्तव्यमूढ़' (क्या करना चाहिये इसका निर्णय नहीं कर सके) हो गए और लज्जित हुए जिससे क्रोध से भरे हुए ग्वाल विषम मार्ग में क्लेश पाकर भी नीचे आए वहाँ गौओं के बछड़ों के साथ अपने पुत्रों को भी देखा ।

सुबोधिनी—प्रथमत तस्य गोव्रजस्य रोधनार्थ योयमायासस्तस्मिन् विफले जाते यत् **मौढ्य**मितिकर्तव्यताज्ञानाभावो जातस्तस्मिञ् जाते पश्चाल्लज्जा जाता, एवं दोषत्रयेणोरुमन्युर्जातः, तेन मन्युनाविचारितक्लेशा एव **दुर्गाध्वनि** यः **कृच्छ्रः** क्लेशस्ततोपि समेत्य क्लेशं प्राप्यापि मिलित्वा **गौवत्सैः** सह मिलितान् **सुतान्** ददृशुः ।।३२।।

व्याख्यार्थ--पहले गोप, गौओं को रोकने का प्रयास निष्फल होने से, 'किंकर्त्तव्यमूढ़' बने जिससे लज्जित हुए । निष्फलता मूढ़ता और लज्जित होना इन तीन प्रकार के दोषों से गोप बहुत क्रुद्ध हुए । उस क्रोध के कारण, पर्वतीय मार्ग के क्लेश की चिन्ता न कर उनको सहन कर भी जहां नीचे गौएँ थीं वहां आकर बछड़ों के साथ मिले हुए अपने पुत्रों को देखा ।। ३२ ।।

आभास----क्लेशः कोपो लज्जा मौढ्यमायासश्चेतिपञ्चदोषयुता अपि वस्तुनाशमपि दृष्ट्वा पश्चात् पुत्रदर्शने सर्व विस्मृतवन्त इत्याह तद्वीक्षेति ।

आभासार्थ----दुःख, क्रोध, लज्जा, मूढता और परिश्रम इन पांच दोष वाले भी हुए तथा वस्तु (दूध) का नाश* भी देखा किन्तु अनन्तर पुत्रों के दर्शन से ये सब दुःखादि एवं वस्तु नाश को भूल गए इसका वर्णन नीचे के श्लोक में करते हैं ।

श्लोक--तद्वीक्षणोत्प्रेमरसाप्लुताशया जातानुरागा गतमन्यवोर्भकान ।
उदूह्य दोर्भिः परिरभ्य मूर्ध्नि घ्राणैरवापुः परमां मुदं ते ।। ३३ ।।

श्लोकार्थ--उनको देखते ही, वे गोप प्रेम रस से भरे अन्तःकरण वाले हो गए और अनुराग विशेष होने से उनका क्रोध शान्त हो गया; अतः अपने पुत्रों को हाथों से उठाकर छाती से लगाया तथा उनके मस्तक सूंघने से परमानन्द को प्राप्त हुए ।

---

* गौओं ने दूध बछड़ों को पिला दिया था ।

सुबोधिनी—तेषां पुत्राणां वीक्षणेन यत् प्रेम जातं तस्य रसेनाप्लुताशया व्याप्तान्तःकरणाः प्रथमतोपि जातानुरागा अतो गतमन्यवो जाताः, ततोर्भकान् बालकानुदुह्योर्ध्वमुत्थाप्य दोर्भिः परिरभ्य, बहुवचनं समुदायाभिप्रायं, मूर्ध्नि घ्राणैराघ्राणनैः कृत्वा ते परमां मुदमवापुः ॥ ३३ ॥

व्याख्यार्थ—गोपों के अपने पुत्रों को देखने से जो प्रेम उत्पन्न हुआ उसके रस से उनके अन्तःकरण भर गए पहिले से ही अनुराग होने से अब क्रोध रहित हो गए तब अपने बालकों को हाथों से ऊँचा उठाकर छाती से लगा कर उनके मस्तकों को सूंघकर परमानन्द को प्राप्त हुए ॥ ३३ ॥

आभास—ततो निर्गमनेप्यशक्ता जाता इत्याह तन इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार प्रेम मग्न होने के कारण वहाँ से जाने की भी इच्छा शक्ति गोपों में न हुई यह निम्न श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**ततः प्रवयसो गोपास्तोकाश्लेषसुनिर्वृताः ।**
कृच्छ्राच्छनैरपगतास्तदनुस्मृत्युदश्रवः ॥ ३४ ॥

श्लोकार्थ—अनन्तर बालकों के आलिङ्गन से परम आल्हादित बड़े गोप धीरे-धीरे अत्यन्त कठिनता (दुःख) से वहाँ से (उन बालकों के पास से) गए किन्तु उन (बालकों के) स्मरण से उनके आँखों में आँसू भर आए थे ।

सुबोधिनी— प्रवयसो वृद्धा अपि गोपास्तोकानां बालानामाश्लेषेण सुष्ठु निर्वृता जाताः कृच्छ्रादेव शनैस्ततोपगतास्तेषां बालकानामनुस्मृत्योदश्रवोपि जाताः ॥ ३४ ॥

व्याख्यार्थ—बूढे गोप भी बच्चों के आलिङ्गन करने से अत्यन्त आनन्द को प्राप्त हुए । दुःख से ही धीरे-धीरे वहां से रवाना होने लगे । बालकों की स्मृति से उनके नैत्र जल से पूर्ण हो गए ॥ ३४ ॥

आभास—एवं दृष्ट्वा रामस्य शङ्का जातेत्याह व्रजस्येति ।

आभासार्थ—यह प्रकार (नमूना) देखकर बलदेवजी को शङ्का हुई उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**व्रजस्य रामः प्रेमर्द्धेर्वीक्ष्यौत्कण्ठ्यमनुक्षणम् ।**
मुक्तस्तनेष्वपत्येष्वप्यहेतुविदचिन्तयत् ॥ ३५ ॥

श्लोकार्थ--जिनने स्तन से दूध पीना छोड़ दिया है ऐसे बच्चों पर भी क्षण क्षण में होती व्रज के प्रेम की वृद्धि देखकर, उसके कारण को न जानने से बलरामजी विचार में पड़ गए ।

सुबोधिनी— व्रजस्य प्रेमर्द्धि दृष्ट्वा मुक्तस्तनेष्वप्यपत्येष्वौत्कण्ठ्यमनुक्षणं लालसतां दृष्ट्वाहेतुवित् सन् हेतुमज्ञात्वाचिन्तयत् ॥ ३५ ॥

व्याख्यार्थ—व्रज की अर्थात् व्रजवासी गोप गौ आदि की, प्रेम की वृद्धि देख कर, जिनने स्तन से दूध पीना छोड़ दिया है, उन बच्चों को भी प्रति क्षण दूध पिलाने की लालसा देख इसका कारण न समझ बलरामजी विचार में पड़ गए ॥ ३५ ॥

आभास--चिन्तामाह किमेतदिति ।

आभासार्थ--निम्न श्लोक में बलदेवजी के विचार का वर्णन करते हैं ।

श्लोक--**किमेतदद्भुतमिव वासुदेवेखिलात्मनि ।**
व्रजस्य सात्मनस्तोकेष्वपूर्वं प्रेम वर्धते ॥ ३६ ॥

श्लोकार्थ--सब की आत्मा भगवान् वासुदेव के स्थित होते हुए भी यह अपूर्व प्रेम मेरे सहित व्रज का बालकों में बढ़ रहा है, यह अचम्भे के समान क्या है ।

सुबोधिनी—एतद् गवां गोपानां च स्वतोकेषु भावलक्षणं किमेतद् यल्लोकयुक्तिप्रमाणैर्विरुध्यते ? अत एवाद्भुतं भवितुमर्हति, तदपि न भवति, वासुदेवेखिलात्मनि सति किं भगवत्सान्निध्यादेवाहोस्विन् निमित्तान्तरमस्तीतिसन्देहः, व्रजस्य सात्मन इति, स्वसहितस्य सर्वस्यैव व्रजस्य स्तोकेषु बालकेष्वपूर्वमभूतपूर्वं प्रेम वर्धत इति यदेतदद्भुतमिवेतिसम्बन्धः ॥ ३६ ॥

व्याख्यार्थ--गौओं और गोपों का अपने सन्तति पर इस प्रकार का भाव होना, क्या यह लोक, युक्ति और प्रमाण से विरुद्ध है ? इस कारण से ही यह अद्भुत होना चाहिये । वह भी नहीं हो सकता है सब की आत्मा भगवान् वासुदेव के सान्निध्य से इन बालकों में यह प्रेम बढ़ रहा है वा कोई दूसरा कारण है ? यह सन्देह है । केवल व्रज का हो सो नहीं, किन्तु मेरा भी इन बालकों में जो आगे कभी नहीं हुआ वैसा प्रेम बढ़ रहा है । इससे यह जो कुछ हो रहा है अद्भुत जैसा, यह सम्बन्ध है ॥ ३६ ॥

आभास--तर्हि काचिन् माया भविष्यतीत्याशंक्याह केयंवेति ।

आभासार्थ--निम्न श्लोक में विचार करते हैं कि यह कोई माया होगी ।

श्लोक----केयं वा कुत आयाता दैवी वा नार्युतासुरी ।
प्रायो मायास्तु मे भर्तुर्नान्या मेपि विमोहिनी ॥ ३७ ॥

श्लोकार्थ--क्या यह माया देवताओं की है ? या मनुष्यों की है ? अथवा दैत्यों की है ? यह माया कैसी है ? कहाँ से आई है ? दूसरों की तो नहीं हो सकती है, क्योंकि इसमें मैं भी मोहित हो गया हूँ इसलिए बहुधा यह माया मेरे स्वामी की ही होनी चाहिए ।

सुबोधिनी—इयं वेति, इयं का वा माया ? कुतो वायाता ? तत्र स्वरूपे सम्बन्धिभेदेन भेदान् निर्दिशति, दैवी देवसम्बन्धिनी नारी नरसम्बन्धिन्यासुर्यसुरसम्बधिनी वा ? एते पूर्वपक्षाः, प्रायेण मम भर्तुरेव मायास्तु, सिद्धान्तोयं भविष्यति, तत्र हेतुर्यतो मे ममापि विमोहिनी, अतो नान्या ॥ ३७ ॥

व्याख्यार्थ—यह कौनसी माया है ? कहाँ से आई है । माया के स्वरूप वर्णन करते हुए सम्बन्धियों के भेद से उसके स्वरूप के भेदों को कहते हैं कि, यह माया देवों से सम्बन्ध वाली दैवी माया है ? वा मनुष्यों से सम्बन्ध वाली मानवीय माया है । अथवा आसुरों से सम्बन्ध वाली आसुरी माया है । ये तीन भेद पूर्व पक्ष से (शङ्का से) कहे हैं । अब इसके उत्तर पक्ष में कहते हैं कि मैं समझता हूँ कि यह माया उपरोक्त सम्बन्ध वाली माया नहीं हैं किन्तु प्रायः मेरे स्वामी की यह माया होनी चाहिये क्योंकि यह माया मेरे अन्तःकरण में भी मोह उत्पन्न कर रही है, मेरे स्वामी की माया के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की माया मुझे मोहित नहीं करती हैं अतः निश्चित है कि यह माया मेरे स्वामी की है ॥ ३७ ॥

श्लोक----इति सञ्चिन्त्य दाशार्हो वत्सान् सवयसानपि ।
सर्वानचष्ट वैकुण्ठं चक्षुषा वयुनेन सः ॥ ३८ ॥

श्लोकार्थ--इस तरह सोच विचार कर बलरामजी ने ज्ञान-दृष्टि से देखा तो सब बछड़े और अपने मित्र गोप-बालक उनको श्रीकृष्ण रूप से दर्शन देने लगे ।

सुबोधिनी—एवं सञ्चिन्त्य दाशार्हो बलभद्रो निदिध्यासनेन वत्सान् वयस्यसहितान् सर्वानपि स्वव्यतिरिक्तान् वैकुण्ठमचष्ट, अयं सर्वोपि गणः केवलं भगवानिति, तत्र प्रमाणं वयुनेन चक्षुषा ॥ ३८ ॥

व्याख्यार्थ--इस प्रकार विचार कर बलराम जीनिदिध्यासन (पूर्ण विचार) से अपने अतिरिक्त सकल वयस्य (मित्रों) तथा बछड़ों को श्रीकृष्ण रूप देखा अर्थात सब रूप श्रीकृष्ण के हैं ऐसा निश्चय से जाना कि ये सब रूप श्रीकृष्ण के हैं ॥ ३८ ॥

आभास--एवं दृष्ट्वा सन्दिहानो भगवन्तं पृच्छति नैते सुरेशा इति ।

आभासार्थ—जब इस प्रकार देखा तब मन में कुछ संशय हुआ उस संशय निवारण के लिए निम्न श्लोक में भगवान् से पूछने लगे।

श्लोक—**नैते सुरेशा ऋषयो न वैते त्वमेव भासीश भिदाश्रयेपि।**
सर्वं पृथक्त्वं निगमात् कथं वदेत्युक्तेन वृत्तं प्रभुणा बलोवैत् ॥ ३९ ॥

श्लोकार्थ—बलरामजी ने जब इस प्रकार देखा तब भगवान् से पूछने लगे, हे ईश! ये (बालक) इन्द्र नहीं हैं, और ये बछड़े ऋषि नहीं हैं। आश्रय पृथक् पृथक् होने पर भी ये सब आप (आपके रूप) ही हैं अतः जो कुछ है वह स्पष्ट वेद से बताइये। भगवान् के बताने पर बलरामजी ने सब समझा।

सुबोधिनी —हे भगवन् पूर्वमस्माभिज्ञायत एते वत्सपाः सुरेशा इन्द्रादय एते च वत्सा ऋषय इति वेदार्थद्रष्टारः, इदानीं तु पुनर्नैते सुरेशा न वैत ऋषयः किन्तु त्वमेव तत्तद्रूपेण भासि, ननु सत्यमेव ब्रह्मवादस्तथैवेतिचेत् तत्राह **भिदाश्रयेपीति**, अभेदाश्रये सर्वं भगवानेव नात्र सन्देहः, भेदाश्रयेपि स एवेत्याश्चर्यं, अतोत्र वेदानामभावात् **सर्वं पृथक्त्वं कथं ?** तन् **निगमाद् वद** वेदवाक्याद बोधय भेदपक्षे श्रुतिः कथं सर्वंब्रह्मतां वदतीति, तदा भगवतोक्तोर्थात् पूर्ववृत्तान्तं **बलो** बलभद्रोवैत् ॥३९॥

व्याख्यार्थ—हे प्रभु! पहले तो हम जानते थे कि ये बछड़ों के पालक इन्द्रादिक देव थे और ये बछड़े वेदज्ञ ऋषि थे अब तो ये न इन्द्रादिक देव हैं और न वेदज्ञ ऋषि हैं। किन्तु आप ही इस रूप से प्रकाशित हो रहे हैं।

ब्रह्मवाद सिद्धान्त के अनुसार यह सत्य है यों कहो तो कहते हैं कि अभेद आश्रय में तो सब भगवान् हीं हैं। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं हैं किन्तु भेद आश्रय (सब अलग अलग रूप) होते हुए भी वह (भगवान्) ही एक हैं। यह आश्चर्य है। अतः इस विषय में वेद वचनों का अभाव है। अर्थात् वेद भिन्न-भिन्न आश्रय होते हुए भी सब भगवद्रूप हैं ऐसा नहीं कहते हैं तो आप इसको वेद के वचनों से समझाओ कि भेद होते हुए भी सब भगवद्रूप कैसे हो सकते हैं ? तब भगवान् ने बलरामजी को सारा चरित्र कह सुनाया। तब बलरामजी ने इसको समझा ॥ ३९ ॥

आभास—एवं बलभद्रं ज्ञापयित्वा ब्रह्माणमपि ज्ञापितवानिति च ब्रह्मणः समागमनमाह तावदेत्येति।

आभासार्थ—इस प्रकार बलदेवजी को समझाने के अनन्तर आए हुए ब्रह्माजी को भी समझाया। इसका वर्णन नीचे श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**तावदेत्यात्मभूरात्ममानेन त्रुट्यनेहसा।**
पुरोवदब्दं क्रीडन्तं ददृशे सकलं हरिम् ॥ ४० ॥

श्लोकार्थ--यहाँ तो इस प्रकार क्रीड़ा करते हुए एक वर्ष बीत गया पर ब्रह्माजी का तो एक त्रुटि[1] जितना ही काल हुआ था इतने ही काल में ब्रह्माजी ने लौटकर आके जो देखा तो जैसे आगे खेलते थे वैसे ही अपनी कला से भगवान् ग्वाल-बाल और बछड़ों से खेल रहे हैं।

सुबोधिनी—आत्मभूरयं ब्रह्मा, अन्यथा सापराधो नष्टो भवेदेव तावदेव शीघ्रमेवैत्यागत्य पुरोवदेवाब्दमब्द-पर्यन्तं क्रीडन्तं सकलं पालकवत्ससहितं हरिं ददृशे, ननु ब्रह्मा कथमेतावद्विलम्बं कृतवान् ? तत्राहात्ममानेन त्रुट्यनेहसेति, अनेहा काल आत्मनो ब्रह्मणो मानेन, त्रुटिस्त्राङ्गुलिस्फोटनमात्रं विवक्षितं न तु तृतीयस्कन्ध-गणितत्रुटिकालः, अतः शीघ्रमेवागतोपि स्वकालवशाद् वर्षानन्तरमागतः ॥ ४० ॥

व्याख्यार्थ--ये ब्रह्माजी स्वतः उत्पन्न होने से जन्म-रहित अर्थात् अजन्मा हैं यदि अजन्मा न होते तो इस अपराध के करने से नष्ट हो जाते। किन्तु नष्ट न होकर शीघ्र लौटकर आए और आकर पूर्ववत् अपनी कला से ग्वाल-बाल तथा बछड़ों के साथ वर्ष पर्यन्त क्रीडा करते हुए हरि को देखा।

ब्रह्मा इतने समय के अनन्तर देखने को क्यों आये ? इस शंका को मिटाने के लिये श्लोक में 'त्रुटि' शब्द देकर यह बताया है कि ब्रह्मा की दृष्टि में वा उसकी गणना में तो अब एक 'त्रुटि'* समय ही बीता है। अतः ब्रह्माजी तो अपने किए हुए कार्य की सफलता वा निष्फलता देखने के लिये शीघ्र ही आ गए हैं। ब्रह्माजी तो शीघ्र ही आगए किन्तु भूलोक की गणना से एक वर्ष के अनन्तर आए ॥ ४० ॥

आभास---आगतस्य दृष्टवतो विचारमाह यावन्त इतिद्वाभ्यां।

आभासार्थ—अब दो श्लोकों से आए हुए ब्रह्माजी के विचारों का वर्णन करते हैं।

श्लोक--**यावन्तो गोकुले बालाः सवत्साः सर्व एव हि।**
मायामये शयाना मे नाद्यापि पुनरुत्थिताः ॥ ४१ ॥

श्लोकार्थ---गोकुल में जितने भी बालक, बछड़ों सहित थे उन सबको मैंने माया-मय लोक में सुलाया है। अभी तक भी वे उठे नहीं हैं।

---

* यहाँ तृतीय स्कन्ध में 'त्रुटि' काल की गणना नहीं ली गई है—(श्री सुबोधिनीजी)

१—चुटकी बजाने जितना समय।

सुबोधिनी—गोकुले यावन्तो बाला वत्साश्च ते सर्व इतो मया नीता मायामये लोके मया स्थापिता: शयाना एव तिष्ठन्त्यद्यापि पुनर्नोत्थिता: ॥ ४१ ॥

व्याख्यार्थ----गोकुल में जितने भी बालक और बछड़े थे वे सब यहाँ से लेकर मायामय लोक में उनको स्थापित किया वे आज तक (अभी तक) सो रहे हैं उठे नहीं हैं ॥ ४१ ॥

श्लोक---**इत एतेत्र कुत्रत्या मन्मायामोहितेतरे ।**
तावन्त एव तत्राब्दं क्रीडन्तो विष्णुना समम् ॥ ४२ ॥

श्लोकार्थ---मेरी माया से मोहितों से इतर (दूसरे) ये यहाँ कैसे आए ? स्वतः उत्पन्न हुए, वा दूसरे कहाँ से आए ? वर्ष भर उतने ही (बालक और बछड़े) विष्णु के साथ खेल रहे हैं ।

सुबोधिनी—एते चात्र पुनर्दृश्यन्त इत एवैते उत्पन्ना उद्भूता वा भवितुमर्हन्ति न तु तत आगन्तुं, अन्यथात्र कुत्रत्या: ? वैलक्षण्यं च दृश्यत इत्याह मन्मायामोहितेभ्य इतर एते, आश्चर्यं च तावन्त एव तत्रैव स्थाने तद्रूपा एव, विष्णुना सममब्दं क्रीडन्त एते कुत्रत्या इतिसम्बन्ध: ॥ ४२ ॥

व्याख्यार्थ—वे (बालक और बछड़े) जो यहाँ देखने में आते हैं, ये यहाँ ही उत्पन्न हुए दिखते हैं वहाँ से आए ऐसा तो बन नहीं सकता है यदि यहाँ उत्पन्न नहीं हुए तो ये कहाँ के हैं। मैं जो ले गया था उनमें मैं और ये जो दिख रहे हैं इनमें विलक्षणता[1] देखने में आती है। अतः मेरी माया से मोहित हुए हैं उनसे ये दूसरे हैं। अचम्भा है उतने ही 'वहाँ (उस स्थान पर) ही, वैसे ही रूप वाले विष्णु के साथ वर्ष भर से क्रीडा करते हुए ये कहाँ' के हैं ॥ ४२ ॥

आभास—अत्र ब्रह्मण उभयथाबुद्धिः किं भगवन्मायया तदानीमेव निर्मिता बाला मयानोता आहोस्वित् सत्या एवेत्येते वा सत्या निर्मिता वेतियुक्तिभिरनुचिन्तने क्रियमाणे निर्धारो न जात इत्याहैवमिति ।

आभासार्थ—इस विषय में ब्रह्माजी की बुद्धि अनिश्चित हो गई है एक विचार आया कि क्या मैं जिन (बालक और बछड़ों) को ले गया हूँ वे भगवान् ने अपनी माया से बनाये थे अथवा जो असल सत्य थे उनको मैं ले गया अथवा ये माया से बनाये हुए हैं वा ये सच्चे हैं इस प्रकार युक्तियों से विचार करते हुए ब्रह्माजी कुछ भी निर्णय न कर सके। उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

१—भेद ।

श्लोक---**एवमेतेषु सुचिरं ध्यात्वा सर्वात्मनात्मभूः ।**
सत्याः के कतरे नेति ज्ञातुं नेष्टे कथञ्चन ॥ ४३ ॥

श्लोकार्थ----इस प्रकार बहुत समय तक विचार करते हुए भी सब के सम्बन्धी स्वयंभू ब्रह्माजी नहीं जान सके कि इनमें सत्य कौन से हैं और माया से बने असत्य कौन से हैं।

सुबोधिनी—एतेषु बालेषूभयविधेषु चिरं ध्यात्वाप्यात्मभूरपि के सत्याः कतरे नेति ज्ञातुं नेष्टे न समर्थो जातः | **कथञ्चन** युक्त्यापि ॥ ४३ ॥

व्याख्यार्थ—इन दो प्रकार के (यहां स्थित और आप जो ले गए) बालकों और बछड़ों में कौन से सत्य और कौन से झुठे हैं यह बहुत ध्यान विचार करते हुए भी स्वयं ब्रह्मा किसी युक्ति से जानने में भी असमर्थ हुए ॥ ४३ ॥

आभास--तर्हि किं जातमित्याकाङ्क्षायामाहैवमिति ।

आभासार्थ—जब ब्रह्माजी भी नहीं जान सके तब क्या हुआ इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**एवं सम्मोहयन् विष्णुं विमोहं विश्वमोहनम् ।**
स्वयैव माययाजोपि स्वयमेव विमोहितः ॥ ४४ ॥

श्लोकार्थ--इस प्रकार ब्रह्माजो, विश्व को मोहित करनेवाले और किसी से भी मोहित न होने वाले भगवान् श्रीकृष्ण को अपनी माया से मोहित करने चले थे परन्तु स्वयं ब्रह्माजी अपनी माया से आप ही मोहित हो गए ।

सुबोधिनी—विष्णुं विमोहयन् विष्णुविमोहार्थं प्रवृत्तः स्वयमेव विमोहितो जातः, तत्र हेतुर्विमोहं विश्वमोहनमिति, भगवान् स्वयं मोहरहितोन्यांश्च विमोहयति, | अतो भगवतामोहितोपि **स्वयैव माययाजोपि** सन् **स्वयमेव विमोहितः** ॥ ४४ ॥

व्याख्यार्थ—विष्णु (श्रीकृष्ण) को मोहित करने में प्रवृत्त ब्रह्माजी स्वयं मोहित हो गए ऐसा क्यों हुआ ? उसमें कारण बताते हैं कि विष्णु को कोई भी मोहित नहीं कर सकता है किन्तु आप सकल विश्व को मोहित कर सकते हैं । यहां भगवान् ने ब्रह्माजी को मोहित नहीं किया, तो भी ब्रह्माजी अजन्मा होते हए भी अपनी ही माया से स्वयं मोहित हो गए ॥ ४४ ॥

आभास---तद् युक्तमेवेत्याह तम्यामिति ।

आभासार्थ—ब्रह्माजी का मोहित होना योग्य ही था। यह निम्न श्लोक में बताते हैं।

श्लोक----**तम्यां तमोवन् नैहारं खद्योतार्चिरिवाहनि ।**
महतीतरमायैश्यं निहन्त्यात्मनि युञ्जतः ॥ ४५ ॥

श्लोकार्थ----जैसे अंधेरी रात्रि में नीहार[1] के अन्धकार, का और दिन में जुगुनूं के प्रकाश का पता नहीं चलता है वैसे ही बड़े पर साधारण पुरुष अपनी माया महा-पुरुष पर चलाना चाहें तो उनकी वह माया बड़ों की कुछ भी हानि नहीं कर सकती है। प्रत्युत बडों की माया उनका और उनकी माया का, नाश करती है।

सुबोधिनी—तमिस्रा रात्रिस्तमी तस्यां नैहारतमोवल् लोकस्य व्यामोहार्थं नीहारादप्यन्धकारो जायते स चेद् रात्रौ भवेत् सोपि न दृश्येत, लोकानामदर्शनं त्वन्यथैव सिद्धमतो महामायायुक्ते भगवत्यन्या माया स्वपदमेव न प्राप्नोति किं पुनः कार्यं प्राप्स्यति ? एवं मोहकसाधर्म्येण ब्रह्ममायाया अप्रयोजकत्वमुक्त्वा भगवदग्रे ब्रह्मणोप्यप्रयोजकत्वमाह **खद्योतार्चिरिवाहनीति**, अहनि खद्योतार्चिः स्वयमपि न प्रकाशते कुतो घटादीन् प्रकाशयिष्यति ? दूरे सूर्यप्रकाशनाशा अत एवं **महतीतरस्य माया वैश्यमीशत्वं वा युंजतः** पुरुषस्य महतो **मायैश्यं प्रयुंजतो** मायामैश्यं च **निहन्तीत्यर्थः** ॥ ४५ ॥

व्याख्यार्थ—लोगों को प्रातः कुहरे का अन्धकार भी मोहित कर देता है कि अभी तक रात्रि है किन्तु वही कुहरा अन्धेरी रात्रि में जो अन्धकार करे, तो वह अन्धकार देखने में नहीं आता है, व्यर्थ है। लोग तो अन्धेरी रात्रि में यों ही पदार्थों को नहीं देख सकते हैं इस प्रकार महामायी भगवान् में दूसरे की माया को स्थान ही नहीं मिलता है। तब वह वहां क्या कार्य कर सकेगी अर्थात् कुछ नहीं। इसी तरह दोनों, ब्रह्मा और कृष्ण की मोह उत्पन्न करने वाली माया का धर्म (मोहित करना) समान होते हुए भी ब्रह्मा की माया की निरर्थकता बताकर, अब भगवान् के आगे ब्रह्मा भी किसी गिनती में नहीं है अतः उनका भी अप्रयोजकत्व सिद्ध करने के लिये श्लोक में 'खद्योतार्चिरिवाहनि' शब्द दिए हैं। जैसे जुगुनू दिनको आप ही प्रकाश नहीं दे सकता है तो घटादिकों को कैसे प्रकाशित करेगा सूर्य को प्रकाशित करने की आशा तो दूर रही। इसी प्रकार जब भगवान् के आगे ब्रह्माजी स्वयं कुछ नहीं कर सकते तो उनकी माया क्या करेगी अतः महान् पर माया अथवा ईशपना डालने वाले दूसरे (छोटे) पुरुष की माया और ईशपने (ऐश्वर्य) को उस बड़े की माया नाश कर देती है ॥ ४५ ॥

आभास—एवं चिन्ताकुलिते ब्रह्मणि भगवान् स्वरूपं प्रदर्शितवानित्याह तावदिति,

आभासार्थ—ब्रह्माजी जब इस प्रकार चिन्तातुर हुए तब भगवान् ने ब्रह्माजी को अपना स्वरूप दिखाया यह नीचे के श्लोक में कहते हैं।

१—कुहरा।

श्लोक--तावत् सर्वे वत्सपालाः पश्यतोजस्य तत्क्षणात् ।
व्यदृश्यन्त घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः ॥ ४६ ॥

श्लोकार्थ----इतने में ब्रह्माजी के देखते हुए उसी समय बछड़े और उनके पालक (ग्वाल-बालक) मेघ जैसे श्याम वर्ण वाले और पीतवस्त्र धारण किए हुए देखने में आये ।

सुबोधिनी —यावदयं विचारयति तावत् पश्यत एवाजस्य सतस्तत्क्षणादेव सर्वे वत्सा पालाश्च घनश्यामा व्यदृश्यन्त नीलमेघश्यामा भाता ब्रह्मणा वा दृष्टाः सर्वे च पीतपट्टाम्बरधारिणः ॥ ४६ ॥

व्याख्यार्थ—ब्रह्माजी विचार ही कर रहे थे तो उसी क्षण में ब्रह्माजी के देखते देखते सब बछड़े और पालक (ग्वाल-बालक) मेघ जैसे श्याम वर्ण वाले और सब पीतवस्त्र धारण किए हुए थे यों ब्रह्माजी को दिखने लगे ॥ ४६ ॥

श्लोक—चतुर्भुजाः शङ्खचक्रगदाराजीवपाणयः ।
किरिटिनः कुण्डलिनो हारिणो वनमालिनः ॥ ४७ ॥

श्लोकार्थ----चतुर्भुज, हाथों में शंख, चक्र, गदा और कमल धारण किए हुए, मुकुट वाले, कुण्डल, हार और वनमाला पहने हुए (ब्रह्माजी ने देखे) ।

सुबोधिनी—चतुर्भुजाः, यस्य यस्य धर्मस्य प्राकट्यार्थं यादृशो वैकुण्ठमूर्तिस्तादृशा एत इति भुजादयो निरूप्यन्ते, चत्वारो भुजाः प्रत्येकं येषां, शङ्खचक्रगदाराजीवानि प्रत्येकं पाणिषु येषां, राजीवं कमलं, सर्वे किरीटिनः किरीटाभरणयुक्ताः कुण्डलाभरणयुक्ताः मुक्ताहारयुक्ता वनमालायुक्ताश्च ॥ ४७ ॥

व्याख्यार्थ---वैकुण्ठ में जिस जिस धर्म को प्रकटनार्थ जैसी मूर्ति (स्वरूप) हैं वैसे ये हैं जैसे कि चार भुजा वाले, और हाथों में शंख चक्र, गदा और पद्म धारण किए हुए सब ने किरीट (मुकुट) धारण कर रक्खे थे । कानों में कुण्डल आभूषण पहिने थे, मोतियों की मालाओं से तथा बन मालाओं से सुशोभित थे (ऐसे ब्रह्माजी को दिखाई देने लगे) ॥ ४७ ॥

आभास----सारूप्यं गतानामप्येतद् भवतीत्यसाधारणाञ्छ्रीवत्सादिधर्मानाह ।

आभासार्थ—ये उपरोक्त चार भुजायें और मुकुटादि आभूषण सायुज्य मुक्तों को भी होते हैं किन्तु जो श्रीवत्स आदि असाधारण आभूषण उनको नहीं होते हैं वे भी इनको थे उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**श्रीवत्साङ्गददोरत्नकम्बुकङ्कणपाणयः ।**
नूपुरैः कटकैर्भाताः कटिसूत्रांगुलीयकैः ॥ ४८ ॥

श्लोकार्थ—श्रीवत्स, भुजाओं में भुजबन्द, रत्नमय आभूषण तथा हाथों में शंख के समान तीन धारा वाले कंकण, नूपुर, कटक, (कड़े) कटिमेखला और अंगूठियों से सुशोभित (देखने में आए) ।

सुबोधिनी—श्रीवत्सो दक्षिणावर्तरोमरेखा, अङ्गदं बाहुवलयं, दोरत्नानि दोषां बाहूनां रत्नानि बाहव एव वा रत्नानि, कम्बुसदृशानि कङ्कणानि, एतत्सहिताः प्रत्येकं पाणयो येषां, नुपूरैश्चरणाभरणैः कटकैर्हस्ताभरणैश्च भाताः कटिसूत्रेणाङ्गुलीयकैश्च भाताः ॥ ४८ ॥

व्याख्यार्थ—श्रीवत्स (दक्षिण ओर आवर्त (गोल चक्कर वाली) रोम की रेखा) भुजबन्द, भुजाओं के रत्न, अथवा भुजाएं ही रत्नों जैसी थीं, शंख के समान तीन धारा वाले कङ्कण, प्रत्येक के हाथ में ये आभूषण थे, चरणों के आभूषण नूपुरों से, हाथों के आभूषण कड़ों से, और कटिमेखला (करधनी) तथा अंगूठियों से शोभायमान हो रहे थे (ऐसे देखने में आए) ॥४८॥

श्लोक—**आङ्घ्रिमस्तकमापूर्णास्तुलसीनवदामभिः ।**
कोमलैः सर्वगात्रेषु भूरिपुण्यवदर्पितैः ॥ ४९ ॥

श्लोकार्थ—अति पुण्यवान् पुरुषों द्वारा अर्पण की हुई कोमल तुलसी की नवीन मालाओं से पाँव से शिर तक परिपूर्ण भरे हुए (दिखाई दिये) ।

सुबोधिनी—तुलसीनूतनमालाभिराङ्घ्रिमस्तकं नखशिखाग्रपर्यन्तमासमन्तात् पूर्णास्तानि च दामानि कोमलतुलसीनिर्मितानि, सर्वगात्रेषु च पृथक्पृथक् समर्पितानि, समर्पकाश्च भूरिपुण्यवन्तः ॥ ४९ ॥

व्याख्यार्थ—तुलसी की नवीन मालाओं से चरण से मस्तक तक अर्थात् नख से लेकर चोटी तक भरे हुए, (देखने में आए) वे मालाएँ कोमल तुलसी की बनाई हुई थीं । सकल अङ्गों में पृथक्-पृथक् अर्पण की हुई थीं । समर्पण करने वाले अत्यन्त पुण्यात्मा हैं ॥ ४९ ॥

आभास—असाधारणं भगवद्भावं तत्र वर्णयति ।

आभासार्थ—उनमें भगवान् के असाधारण भाव का निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**चन्द्रिकाविशदस्मेरैः सारुणापाङ्गवीक्षितैः ।**
स्वकार्थानामिव रजःसत्त्वाभ्यां स्रष्टृपालकाः ॥ ५० ॥

श्लोकार्थ--चन्द्रिका के समान स्वच्छ मन्द हास्यों से अपने भक्तों के मनोरथों का मानो सतोगुण से पालन करते हैं और अरुण जैसे कटाक्ष सहित विशेष ईक्षणों से मानों रजोगुण से अपने भक्तों के मनोरथों को उत्पन्न करते हुए (दिखाई देने लगे)

सुबोधिनी—चन्द्रिकेति, चन्द्रिकावद् विशदाः स्मेरा मन्दहासा अरुणान्यपाङ्गवीक्षितानि स्मेरैर्वीक्षितैश्च स्वकार्यानां भक्तपुरुषार्थानां स्रष्टृपालका जाताः, वीक्षितैः पुरुषार्थानामुत्पत्तिः स्मेरैः पालनं, तत्रोपपत्तिं वदन् दृष्टान्तमाह रजःसत्त्वाभ्यामिवेति, अरुणवर्णत्वाद् वीक्षितं रजस्तुल्यं, शुभ्रत्वात् स्मेरं सत्त्वतुल्यं, रजसोत्पाद्यते सत्त्वेन परिपाल्यते ॥ ५० ॥

व्याख्यार्थ—चन्द्रिका (चान्दनी) के समान स्वच्छ मन्दहासों (मुसक्यानों) से और अरुण (लाल) जैसे कटाक्षों के ईक्षणों से भक्तों के पुरुषार्थों की रचना और पालना करने लगे। इसको हेतु देकर सिद्ध करने के लिये दृष्टान्त देते हैं, जैसे रजोगुण से उत्पत्ति होती है तथा सतोगुण से पालन होता है वैसे ही यहाँ मन्दहास स्वच्छ होने से सतोगुण के समान है अतः इनसे पालन किया, तथा कटाक्ष लाल होने से रजोगुण के समान है इनसे रचना उत्पत्ति की है ॥ ५० ॥

श्लोक--**आत्मादिस्तम्बपर्यन्तैर्मूर्तिमद्भिश्चराचरैः ।**
नृत्यगीताद्यनेकार्हैः पृथक्पृथगुपासिताः ॥ ५१ ॥

श्लोकार्थ----ब्रह्माजी से लेकर स्तम्ब[1] पर्यन्त, सब स्थावर और जंगम मूर्तिमान होकर, नृत्य और गायन आदि अनेक प्रकार की पूजाओं से उनकी भिन्न-भिन्न उपासना कर रहे थे (ऐसे देखने में आए)।

सुबोधिनी—किञ्चात्मा ब्रह्मास्तम्बस्तृणस्तम्बो ब्रह्मादितृण स्तम्बपर्यन्तैराधिदैविकैर्मूर्तिमद्भिर्विग्रहवद्भिश्चराचरैः स्थावरैर्जङ्गमैश्च पृथक्पृथगुपासिता इतिसम्बन्धः, पृथुगुपासने हेतुर्नृत्यगीताद्यनेकार्हैर्यथाधिकारं स्वस्य धर्मा भगवत्सेवोपयिकाः पृथक् पृथक् सन्तीति सर्वेषां पृथगुपासनम् ॥ ५१ ॥

व्याख्यार्थ—ब्रह्माजी से लेके तृणों की झाड़ी आदि सब जड़ और चेतन अपने अपने आधिदैविक मूर्तिमान् स्वरूपों से उनकी पृथक् पृथक् उपासना कर रहे थे। पृथक् पृथक् उपासना का कारण यह है कि जैसा जिसका अधिकार था उसी अधिकारानुसार नृत्य गीत आदि विविध प्रकारों से पृथक् पृथक् सेवा की ॥ ५१ ॥

श्लोक—**अणिमाद्यैर्महिमभिरजाद्याभिर्विभूतिभिः ।**
चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वैः परीता महदादिभिः ॥ ५२ ॥

१—तृण, तिनका।

श्लोकार्थ---अणिमा आदि आठ सिद्धियों, माया आदि विभूतियों और महत्तत्व आदि चौबीस तत्व, इनसे वेष्टित[1] थे ।

सुबोधिनी—अणिमाद्यष्टैश्वर्यैरपि सेविताः,अणिमादीनां महित्वं माहात्म्यरूपत्वं, अजाद्या विभूतयः, उत्पत्तिव्यतिरेकेणैव स्वस्योत्पत्तिभावमन्येषां चोत्पत्ति सम्पादयति या शक्तिः साजा, सादिर्यासां लक्ष्म्यादीनां, ताभीरपि प्रत्येकमुपासिताश्चतुर्विंशतितत्त्वाभिमानिन्यो देवताः ।। ५२ ।।

व्याख्यार्थ—अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यों से सेवित, अर्थात् अणिमादिकों के माहात्म्य रूप से सेवित, अजा (योगमाया) आदि विभूतियों से सेवित, अजा का स्वरूप बताते हैं कि जो स्वयं उत्पन्न न हो, किन्तु उत्पन्न होने का केवल भाव दिखाती हो और दूसरों को उत्पन्न करती हो उसको 'अजा' कहते हैं । लक्ष्मी आदि शक्ति में यह अजा शक्ति मुख्य है इन अजादि शक्तिओं से प्रत्येक पृथक् पृथक् उपासित हो रहे थे, एवं चौबीस तत्त्वों के अभिमानी देवता भी प्रत्येक की पृथक् पृथक् उपासना कर रहे थे । (ऐसा देखने में आता था) ।। ५२ ।।

श्लोक---**कालस्वभावसंस्कारकामकर्मगुणादिभिः ।**
स्वमहिध्वस्तमहिभिर्मूर्तिमद्भिरुपासिताः ।। ५३ ।।

श्लोकार्थ---काल, स्वभाव, संस्कार, काम कर्म और गुणादिक पदार्थ, मूर्त्तिमान होकर, प्रत्येक की सेवा करते थे । इन सबकी महिमा भगवान् की महिमा के सामने नष्ट हो गई ।

सुबोधिनी—कालादयोप्यभिमानिदेवाः, गुणा सत्त्वरजस्तमांसि, आदिशब्देन नामसृष्टिवर्गः सर्वोप्यासन्यादयश्च, तेषां माहात्म्यमाह **स्वमहिध्वस्तमहिभिरिति**, स्वमहिम्नैव ध्वस्तो महिमान्येषां यैः, भगवन्महिम्ना वा ध्वस्तमहिमानः, ते च सर्वे मूर्तिमन्तः, तैरपि 'पृथक्पृथ' गुपासिताः ।। ५३ ।।

व्याख्यार्थ---काल आदि देवगण भी अभिमानी देव हैं । सतोगुण रजोगुण और तमोगुण ये तीन गुण कहे और आदि शब्द से सम्पूर्ण नाम सृष्टि का वर्ग तथा आसन्य आदि प्राण कहे हैं । श्लोक में आए हुए 'स्वमहिध्वस्तमहिभिः' पद के दो अर्थ करते हैं—(१) इन अभिमानी देवगणों ने अपनी महिमा से दूसरों की महिमा नाश कर दी है अथवा भगवान् के माहात्म्य से जिनकी (कालादिकों की) महिमा नष्ट हो गई है। वे सब कालादिक मूर्तिमान (आधिदैविक रूप वाले) हैं उनसे भी जिनकी प्रथक् प्रथक् उपासना हो रही है (ऐसे दीखे) ।। ५३ ।।

आभास---धर्मानुक्त्वा स्वरूपमाह सत्येति ।

१—सेवित ।

आभासार्थ--इस प्रकार धर्मों का वर्णन कर अब स्वरूप का वर्णन करते हैं।

श्लोक--**सत्यज्ञाना नन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः ।**
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम् ।। ५४ ।।

श्लोकार्थ--य सब (बछड़े और ग्वाल बालक) सत्य, ज्ञानरूप, अनन्त, आनन्द मात्र एक रस मूर्ति वाले, आत्म-ज्ञान रूप नेत्र वाले, महात्मा लोग भी जिनके माहात्म्य को नहीं जान सकते हैं (ऐसे देखने में आए)।

सुबोधिनी --सत्यंज्ञानमनन्तशब्देन दोषाभावः, इतरान्यत्वमानन्दश्च स्वरूपे दोषाभावोप्यवश्यं वक्तव्यः, तन्मात्रा एकरसा मूर्तयो येषां, रसभेदस्तु विजातीयसं श्लेषाद् भवति, उत्कर्षमाहास्पृष्ट भूरीति, **उपनिषद्**-दृग्भिरपि न स्पृष्टं भूरि माहात्म्यं येषाम् ।।५४।।

व्याख्यार्थ--ये सब सत्य, ज्ञान, आनन्दमात्र, एक रस वाले मूर्तिमान थे। अनन्त शब्द से बताया है कि इनमें दोषों का अभाव है तथा ये दूसरों (लौकिकों) से दूसरे प्रकार के (अलौकिक) थे और 'आनन्द' शब्द से यह बताया है कि किसी भी रूप में दोष नहीं है, यह सर्व रूपों में निर्दोषता भी अवश्य कहनी चाहिये। रस स्वरूप में भेद तब होता है जब उसमें विजातीय पदार्थ (रस रहित पदार्थ) का मिलन होता है। यहाँ किसी का भी मेल नहीं है उसकी स्पष्टता करते हुए कहते हैं कि उपनिषद् प्रोक्त ज्ञान दृष्टि वाले भी जिनकी महिमा को नहीं जान सकते हैं (ऐसे वे दीख रहे थे) ।। ५४ ।।

आभास--एवं सर्वमेव भगवत्स्वरूपं वर्णयित्वोप संहरंस्तस्य दर्शनमाह।

आभासार्थ--इस प्रकार सब ही भगवत्स्वरूप हैं ऐसा वर्णन कर अब ब्रह्माजी को भी वैसे दर्शन हुए उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक--**एवं सकृद ददर्शाजः परब्रह्मात्मनोखिलान् ।**
यस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरम् ।। ५५ ।।

श्लोकार्थ--इस प्रकार ब्रह्माजी ने एकबार सबको परब्रह्म मय देखा, जिस पर ब्रह्म के प्रकाश से यह सब जगत् प्रकाशित होता है।

सुबोधिनी--**अजो** ब्रह्माप्येवं **सकृदेव ददर्श** सर्वानेव **परब्रह्मात्मनः** परब्रह्मरूपान्, एकं हि परब्रह्म प्रसिद्धं दृश्यते त्वनन्तरूपमिति, नन्वेकेन ब्रह्मणा कथमेतावन्तो दृष्टास्तत्राह **यस्येति**, यस्य भगवतो **भासेदं सर्वमेव-सचराचरं विभाति**, अतो भगवदिच्छयैव भगवद्भासा सर्वज्ञो जातः ।। ५५ ।।

व्याख्यार्थ—ब्रह्माजी ने भी सबको इस प्रकार परब्रह्म रूप देखा। पर ब्रह्म एक ही है यह प्रसिद्ध है, एक होते हुए भी उनके अनेक रूप हैं। ब्रह्माजी एक थे, एक ने इन सबको किस प्रकार देखा ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि भगवान् के प्रकाश से यह सर्व जड़ चेतन प्रकाशित हो रहा है। अतः भगवान् की इच्छा से ही ब्रह्माजी को वह रूप प्रकाशित हुआ जिससे वह सर्वज्ञ हुए और उनने देखा तथा समझा ॥ ५५ ॥

श्लोक—**ततोतिकुतुकोद्वृत्य स्तिमितैकादशेन्द्रियः ।**
तद्धाम्नाभूदजस्तूष्णीं पूर्देव्यन्तीव पुत्रिका ॥ ५६ ॥

श्लोकार्थ—उनके तेजस ब्रह्म की एकादश ही इन्द्रियाँ जड़ हो गईं। तब ब्रह्माजी दृष्टि को फिराकर चुपचाप खड़े हो गए जैसे नगर के अधिष्ठात्री देवी के पास पुतली शान्त होकर खड़ी रहती है।

सुबोधिनी—**ततोतिकुतुकेनातिसन्तोषेणोद्वृत्य** दृष्टीः परावृत्त्य **स्तिमितान्येकादशेन्द्रियाणि** यस्य तादृशो जातः, तेन हर्षादपि स्तोत्रे न समर्थो जातः, अशक्यं च स्तोत्रं, प्रदर्शितस्य मनसाप्याकलयितुमशक्यत्वात् हेत्वन्तरमप्याह **तद्धाम्नाभूदिति**, भगवत्तेजसा निष्प्रतिभो ब्रह्मा तूष्णीमासीत्, तत्र दृष्टान्तो लौकिकः **पूर्देव्यन्ती पुत्रिकेव**, पूर्देवी सर्वैरेव पुरवासिभिः पूज्यते न तु तन्निकटस्था पुत्रिका, न हि समानदेशस्थितिमात्रेण पूजार्हता भवति, अतस्तदानीं दृष्टैः सर्वैरेवायमुपेक्षित इति निष्प्रतिभत्वमुचितमेव ॥ ५६ ॥

व्याख्यार्थ—इसके अनन्तर क्रिया करने में असमर्थ हुई एकादश इन्द्रियों वाले ब्रह्माजी ने अति सन्तोष से दृष्टि को बदल दी। अति सन्तोष (हर्ष) के कारण भगवान् की स्तुति भी नहीं कर सके। स्तुति न कर सके इसका दूसरा कारण यह था कि ब्रह्माजी भगवान् के तेज से शक्ति-हीन हो गए थे अतः ब्रह्माजी कुछ भी कह नहीं सके और शान्त रहे। कैसे शान्त रहे इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे नगर की अधिष्ठात्री देवी के पास पुतली केवल खड़ी रहती है। नगर की अधिष्ठात्री देवी का तो सब नगरवासी पूजन करते हैं किन्तु वह पुतली पास में केवल खड़ी रहती है उसकी कोई पूजा नहीं करता है। केवल समान देश में स्थिति[1] करने से कोई भी पूजा के योग्य नहीं बनता है अतः सब ने इन ब्रह्माजी को देखा किन्तु देखने पर भी इन ब्रह्माजी की उपेक्षा करदी थी। इससे ब्रह्माजी का तेज हीन होना उचित ही जचता है ॥ ५६ ॥

आभास----एवम प्रयोजके ब्रह्मणि जाते भगवांस्तद्रूपमुपसंहृतवानित्याहेतोरेश इति ।

१—निवास ।

आभासार्थ—इस प्रकार जब यह लीला देखकर ब्रह्माजी का तेज नष्ट हो गया कारण कि उनका किया हुआ कार्य निष्फल हो गया था, तब भगवान् ने अपने उन रूपों को तिरोहित कर लिया। इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक---**इतीरेशेतर्क्ये निजमहिमनि स्वप्रमितिके**
परत्राजातोतन्निरसनमुखब्रह्मकमितौ ।
अनीशेपि द्रष्टुं किमिदमिति वा मुह्यति सति
चछादाजो ज्ञात्वा सपदि परमोजाजवनिकाम् ॥ ५७ ॥

श्लोकार्थ---इस प्रकार अतर्क्य, (जो तर्क विचार में न आ सके) स्वप्रकाश, प्रकृति से पर और ब्रह्म से भिन्न वस्तुओं का निषेध करते हुए उपनिषद्, जिनके स्वरूप का ज्ञान कराते हैं वैसे असाधारण महिमा वाले स्वरूप में 'यह क्या ?' ऐसे ब्रह्माजी मोहित हो गए और उनकी दर्शन करने की शक्ति भी जब चली गई तब भगवान् ने माया रूप पड़दा डाल दिया।

सुबोधिनी—इत्यमुना प्रकारेणेरेशे वाक्पतौ ब्रह्मणि द्रष्टुमप्यनीशे मुह्यति च सति तस्य मोहादिक्लेशं ज्ञात्वाजाजवनिकां मायारुपतिरस्करिणीं चछादाच्छादितवान्, तदुपरि प्रसारितवान, यथा ब्रह्मणो दर्शनं न भयति, उद्घाटितमाययैव तेषां दर्शनं न तु निर्माणमत आच्छादनेदर्शनं युक्तमेव, सनु ब्रह्मणो मोहेदर्शने च को हेतुस्तत्राह निजमहिमन्यतर्क्ये सति, भगवतोसाधारणमहिमान्येषां तर्कविषयोपि न भवति, अतः कथं द्रष्टुं शक्यते ज्ञातुं वा ? तदेव कुतस्तत्राह स्वप्रमितिक इति, स्वस्यैव भगवत एव प्रमितिर्यस्य, केवलं स्वसंवेद्यमेव तन् न त्वन्यसंवेद्यं, तत्रापि हेतुरजातः परत्रेति, प्रकृतेः परः सः, प्रकृतौ चान्ये, अतो यत्र भगवांस्तत्राव्यो नास्तीति भगवत्संवेद्यमेव भगवनमाहात्म्यं, ननु श्रुत्वा कथं न ज्ञायते ? तत्राहातन्निरसनमुखब्रह्मकमितावितिं, ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य निरसनद्वारैवोपनिषदो ब्रह्मस्वरूपं बोधयन्ति न तु साक्षादाहत्य, सङ्केतग्रहाभावात्, वैदिकव्यवहारेपि यावदयं बहिर्मुखस्तत्र प्रविशति तावद्बहिर्निरसनेनैव प्रवेशनीयः प्राविष्टस्तु तद्भावमेव प्राप्स्यतीति स्वसंवेद्य एव भविष्यति, अतः प्रथमाधिकारे श्रुतिस्तथैवा 'हाथात आदेशो नेति नेती'ति, अतः श्रुतयोप्याहत्य न वदन्तीति युक्तमेव तस्य द्रष्टुमशक्तिर्मोहश्च ततो दुःखं चेति॥ ५७ ॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार जब ब्रह्माजी मोह को प्राप्त हुए और देख भी न सके तथा दुःखी हुए। ब्रह्माजी की यह दशा जानकर भगवान् ने इस लीला को माया के पड़दे से ढक दिया अर्थात् जैसे उन (ब्रह्माजी) को भगवद्रूप के दर्शन न हो सके। पहले ब्रह्माजी को बछड़े और बालक भगवद्रूप देखने में इसलिये आए थे जो भगवान् ने माया का पड़दा हटा दिया था। बछड़े और बालक कल्पित[1] नहीं थे किन्तु वास्तविक ब्रह्म-स्वरूप थे। अब माया फैलाने से वे (बछड़े और बालक) ब्रह्मरूप नहीं देखने में आए, यह योग्य ही है।

१—बनाये हुए।

ब्रह्माजी को मोह हुआ और देख भी न सके इसका यह कारण है कि भगवान् का माहात्म्य ऐसा है जिससे उनको कोई नहीं जान सकता है। इतना ही नहीं, किन्तु उसकी महिमा कितनी है ? इसका तर्क[1] भी कोई नहीं कर सकता है। अतः वे कैसे देखे जा सकते हैं अथवा जाने जा सकते हैं।

भगवान् की ऐसी महिमा किस कारण से है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'स्वप्रमितिकः' है। भगवान् ही अपने को जान सकते हैं कि मैं कैसा हूँ मेरी महिमा कितनी एवं कैसी है अर्थात् भगवान् 'स्व संवेद्य' अपने से ही जानने योग्य हैं उनको अन्य कोई नहीं जान सकता है। दूसरा उनको क्यों नहीं जान सकता है उसमें दो हेतु देते हैं—

१. 'अजातः' जिसका जन्म नहीं अर्थात् जो अनादि है। अन्य सब जन्मे हुए हैं 'आदि' वाले हैं, आप सब से पहले है अतः आपको कोई नहीं जान सकता है।

२. 'परत्र' वे प्रकृति से परे हैं अन्य सब प्रकृति के भीतर है इसलिये प्राकृत अप्राकृतक को नहीं जान सकते हैं। क्योंकि जहां (प्रकृति से परे) भगवान् हैं वहां अन्य (प्राकृत) नहीं है। इत्यादि से भगवान् का माहात्म्य स्व संवेद्य ही है।

भगवत्माहात्म्य सुनकर तो जाना जा सकता है ? नहीं। इसके लिये श्लोक में 'अतन्निरसन मुखब्रह्मकमितौ' पद दिया है अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप का उपनिषद् भी साक्षात् वर्णन नहीं करते हैं किन्तु ब्रह्म भिन्न जो वस्तु दृष्टि में आती है उनका निषेध करते हुए ही ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान कराते हैं ब्रह्म स्वरूप ऐसा ही है यों उपनिषद् भी कहते हैं कारण कि ब्रह्म स्वरूप के साक्षात् बताने के लिये किसी प्रकार का कोई भी संकेत नहीं है। वैदिक व्यवहार में भी जब यह बहिर्मुख जीव ब्रह्म में प्रवेश× करता है तब बहिर्मुखता को निकाल कर (मैं देहादि हूँ, इसका त्याग कर) उसमें प्रवेश† योग्य होता है। प्रवेशानन्तर* ब्रह्म भाव को प्राप्त होता है अर्थात् अक्षर ब्रह्मरूप हो जाता है, भगवान् का माहात्म्य वही जान सकता है। अतः प्रथम अधिकार (जब तक अविद्या ग्रसित है) में श्रुति 'इति न इति न' यह नहीं यह नहीं इस प्रकार उपदेश करती है। इससे श्रुतियाँ भी जानकर ब्रह्मस्वरूप नहीं कहती हैं। अतः ब्रह्माजी भगवान् के स्वरूप का दर्शन न कर सके और मोह को प्राप्त हुए तथा दुःखी हुए, यह कहना योग्य ही था ॥ ५७ ॥

आभास—भगवतैवं कृते मूर्छित एव ब्रह्मा पतितस्ततः कियत्कालानन्तरभुत्थितः।

× अपने में आनन्दांश को प्रकट करता है—अनुवादक।

† आनन्दांश प्रकट करने के—अनुवादक।

* आनन्दांश की अभिव्यक्ति (प्राकट्य) के अनन्तर—अनुवादक।

१—विचार, बहस।

आभासार्थ—भगवान् ने माया का पड़दा डाल दिया तब ब्रह्माजी मूर्छित होकर गिर गए कुछ समय के अनन्तर उठे। यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**ततोर्वाक् प्रतिलब्धाक्षः कः परेतवदुत्थितः।**
कृच्छ्रदुन्मील्य वै दृष्टीराचष्टेदं सहात्मना ॥ ५८ ॥

श्लोकार्थ—तदनन्तर मर कर पीछे उठे हों ऐसे ब्रह्माजी ने बाह्य दृष्टि को प्राप्त कर बड़ी कठिनता से आँखे खोल अपने को और जगत् को देखा।

सुबोधिनी—अर्वागेव प्रतिलब्धमक्षं ज्ञानं येन, लोकदर्शनार्थमेवोत्थितो न तु भगवद्दर्शनार्थमिति व्यर्थमस्योत्थानमिति दृष्टान्तमाह परेतवदिति, यथा मृत उत्तिष्ठति केनचिन्निमित्तेन तथायमप्युत्थितः पूर्वं मृतो मूर्छितः पश्चादुत्थित इति वा, कृच्छ्रादतिकष्टेनैव दृष्टीरुन्मील्येदं जगदेव दृष्टवान् ॥ ५८ ॥

व्याख्यार्थ—कितनेक समय के अनन्तर ज्ञान प्राप्त कर ब्रह्माजी उठे। लोक के देखने के लिये ही उठे न कि भगवान् के दर्शन के लिये। अतः उनका उठना[1] व्यर्थ था। इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे मरा हुआ किसी कारण से जीवित हो‡ उठता है वैसे ये भी उठे अथवा पहले मरे (मूर्छित हुए) पीछे उठे। अत्यन्त कष्ट से नेत्र खोल कर इस जगत् को ही देखने लगे ॥५८॥

श्लोक—**सपद्येवाभितः पश्यन् दिशोपश्यत् पुरः स्थितम्।**
वृन्दावनं जनाजीव्यं द्रुमाकीर्णं समप्रियम् ॥ ५९ ॥

श्लोकार्थ—उसी समय चारों ओर दृष्टि डाल कर देखा तो सामने विद्यमान, चारों तरफ प्रिय पदार्थों से भरा हुआ और मनुष्यों की जीविका के साधन रूप वृक्षों से व्याप्त वृन्दावन देखने में आया।

सुबोधिनी—ततः सपद्येवाभितः पश्यन् दिशोपश्यत् ततः पुरःस्थितं वृन्दावनं चापश्यत् ततस्तस्मिन् वने जीवनार्थमागतांल्लोकानप्यपश्यत्, तदाह जनाजीव्यमिति, द्रुमाकीर्णमिति द्रुमैर्व्याप्तं न तु शून्यारण्यं, समं च तदासमन्तात् प्रियं च ॥ ५९ ॥

व्याख्यार्थ—इसके अनन्तर, उस क्षण में ही चारों ओर देखते हुए ब्रह्माजी ने दिशाएँ देखीं। पश्चात् सामने स्थित वृन्दावन को देखा। उसके अनन्तर उस वन में जीवन के लिये आए

---

‡ मरा हुआ जीवित होने के अनन्तर भी संसार में आसक्त होता है भगवद् भजन नहीं करता है अतः उसका जीवित होना जैसे व्यर्थ है वैसे ही ाजी का उठना भी व्यर्थ था—अनुवादक।

१—जगना।

हुए लोगों को देखा। लोग जीवन के लिये वृन्दावन में क्यों आए? इसके उत्तर में वृन्दावन की विशेषता बतलाते हैं कि यह बन वृक्षों से व्याप्त है शून्य अरण्य नहीं है, तथा समभूमि वाला है जिससे सब प्रकार से प्रिय है ॥ ५९ ॥

आभास--ततस्तत्रत्यान् मृगानपि दृष्टवानित्याह।

आभासार्थ--इसके पीछे ब्रह्माजी ने वन के रहने वाले पशुओं को भी देखा जिसका वणन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक--तत्र नैसर्गदुर्वैराः सहासन् नृमृगादयः।
मित्राणीवाजितावासगतरुट्तर्षकादिकम् ॥ ६० ॥

श्लोकार्थ---वहां परस्पर स्वाभाविक गाढ वैर वाले मनुष्य एवं सिंहादिक भी आपस में मित्रों के समान रहते थे। कारण कि वहां भगवान् निवास करते थे जिससे उस बन एवं उनके निवासियों में से क्रोध लोभ आदि निकल गये थे।

सुबोधिनी—तत्र नैसर्गदुर्वैरा इति. स्वभावत एव दुष्टवैरा अप्यश्वमहिषादयः सहैवासन्नरा मृगाश्च, मित्राणीव, तत्र हेतुरजितस्य भगवत आवासेन गता रुद् तर्षा तृष्णान्येपि कामादयो दोषाः, गतरुट्तर्षादिकं यथा भवति तथा सहासन्निति सम्बन्धः ॥ ६० ॥

व्याख्यार्थ--स्वाभाविक दुष्ट वैर वाले होते हुए भी घोड़े, भैंसे आदि और मनुष्य तथा पशुगण भी साथ ही रहते थे। वे सब परस्पर मित्रों के समान रहते थे। उसका कारण यह था कि जिसको किसी (काम क्रोधादि) ने भी नहीं जीता है ऐसे भगवान् वहाँ विराजते थे जिससे वहाँ से द्वेष, तृष्णा तथा दूसरे काम आदि दोष भाग गए थे इससे वह वन तथा वनवासी निर्वैर होकर प्रेम से हिलमिल कर रहते थे ॥ ६० ॥

आभास--तस्मिन् वने भगवन्तमपि पूर्ववद् दृष्टकानित्याह तत्रोद्वहदिति।

आभासार्थ—ब्रह्माजी ने उस वन में भगवान् को भी पहले के समान देखे। यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक--तत्रोद्वहत्पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं ब्रह्माद्वयं परमनन्तमगाधबोधम्।
वत्सान् सखीनिव पुरा परितो विचिन्वदेकं सपाणिकवलं परमेष्ठ्यचष्ट ॥६१॥

श्लोकार्थ—वहाँ ग्वालवंश को बालक भाव का नाटक करते हुए ब्रह्माजी ने जैसे पहले देखा था वैसे ही अब हाथ में ग्रास लिए हुए श्रीकृष्ण को देखा। जो द्वैत भाव

रहित, पर, अनन्त तथा अगाध ज्ञानवान होते हुए भी, बछड़ों और मित्रों को पूर्व की तरह चारों ओर ढूँढते थे ।

सुबोधिनी —तत्र वृन्दावन उद्वहत्पशुपवंशशिशुत्व-नाट्यं येन वस्तुतस्त्वद्वैतं, ब्रह्मैव, परंकालादिनियन्तृ, अनन्तमत एवापरिच्छिन्नं, अगाधो बोधो यस्य, उद्वहदिति भिन्नपदं वा विचिन्वदित्यनेन सम्बध्यते, सखीन् वत्सांश्च परितो विचिन्वन्तं, विचिन्वन् यो वर्तते तमितियोजना एकमेव वर्षात् पूर्वमेव गृहीतं कवलं हस्ते यस्य, पाणौ कवलं तेन सहितमचष्ट दृष्टवान् ॥ ६१ ॥

व्याख्यार्थ—जो वास्तविक अद्वितीय[1] ब्रह्म हैं, केवल गोपवंश में बाल भाव का जिसने नाट्य किया है, और जो 'पर' (कालादिकों का नियन्ता) है तथा अनन्त[2] एवं अगाध बोध[3] है वैसे बालकृष्ण को पूर्ववत् ब्रह्माजी ने देखा। श्लोक में "उद्वहत्"× और 'विचिन्वत्' ये परस्पर सम्बन्ध वाले दो पद ब्रह्माजी के विशेषणों के रूप में लिये गए हैं, जिनका अर्थ 'विचिन्वत्' बछड़ों को ढूंढते हुए और 'उद्वहत्' ग्रास वाले हस्त को धारण करते हुए श्रीकृष्ण को ब्रह्माजी ने देखा, जैसे एक वर्ष पहले भगवान् को बछड़ों को ढूंढते तथा हाथ में ग्रास लिए हुए देखा था अब भी वैसे ही देखा ॥ ६१ ॥

श्लोक—दृष्ट्वा त्वरेण निजधोरणतोवतीर्य पृथ्व्यां वपुः कनकदण्डमिवा निपात्य ।
स्पृष्ट्वा चतुर्मुकुटकोटिभिरङ्घ्रियुग्मं नत्वा मुदश्रुसुजलैरकृताभिषेकम् ॥६२॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार के भगवान् के दर्शन कर (ब्रह्माजी ने) शीघ्र अपने वाहन हंस से उतर कर, कनक दण्ड के समान अपने शरीर से साष्टाङ्ग प्रणाम कर, चारों मुकुटों की कोटि[1] से चरण युगल को छू कर आनन्दाश्रुओं के जल से अभिषेक किया ।

सुबोधिनी—ततो भगवन्तं दृष्ट्वात्वरेण निजधोरणतो विनानादवतीर्य विनानं परित्यज्य भूमौ समागत्य पृथिव्यां स्वस्य वपुः कनकदण्डमिवा समन्तात् पातयित्वा परिवर्तनेन चतुर्मुकुटकोटिभिरङ्घ्रियुगं स्पृष्ट्वा पुनर्वाचापि नत्वाश्रुजलैः प्रेमाश्रुभिः पादयुग्मस्यैवाभिषेकमकृत ॥ ६२ ॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् भगवान् को देखकर, शीघ्र ही अपने विमान (हंसरूप वाहन) से उतर कर भूमि पर आके पृथ्वी के ऊपर अपने शरीर को स्वर्ण के दण्ड के समान सम्पूर्ण गिराकर, उलटे होके चारों मुकटों की कोटि[4] से भगवान् के चरणों का स्पर्श कर, पुनः वाणी से भी प्रणाम कर प्रेम के आँसुओं से भगवान् के चरण युगल का अभिषेक किया ॥ ६२ ॥

× 'उद्वहत्' यह पद श्लोक में 'पशुपवंशशिशुत्व नाट्य' पद में मिला हुआ आया है । उसका अर्थ ऊपर किया गया है । आचार्य श्री ने इसको पृथक् कर यह अर्थ भी बताया है—अनुवादक ।

१—द्वैत रहित । २—सीमा रहित । ३—जिसका ज्ञान बहुत गहरा हो । ४—अग्रभाग ।

श्लोक--उत्थायोत्थाय कृष्णस्य चिरस्य पादयोः पतन् ।
आस्ते महित्वं प्राग्दृष्टं स्मृत्वा स्मृत्वा पुनः पुनः ॥ ६३ ॥

श्लोकार्थ--जैसे जैसे प्रथम देखी हुई महिमा को बार बार स्मरण करते थे वैसे वैसे ही बार बार उठकर बहुत देर तक भगवान् के चरणों में पड़ते थे ।

सुबोधिनी —ततोपि पुनः पुनरुत्थाय कृष्णस्य पादयोः पतन् स्तब्ध इवास्ते, तत्र हेतुः प्राग्दृष्टं महित्वं पुनः पुनः स्मृत्वा स्मृत्वा ॥ ६३ ॥

व्याख्यार्थ—वहाँ से भी बार-बार उठकर कृष्ण के चरणों में पड़कर स्तब्ध हो जाते थे कारण कि भगवान् की देखी हुई पूर्व की महिमा ज्यों-ज्यों याद आती थी त्यों-त्यों बार-बार चरणों में पड़कर ब्रह्माजी स्तब्ध हो जाते थे ॥ ६३ ॥

श्लोक----शनैरथोत्थाय विमृज्य लोचने मुकुन्दमुद्वीक्ष्य विनम्रकन्धरः ।
कृताञ्जलिः प्रश्रयवान् समाहितः सवेपथुर्गद्गदयैडतेलया ॥ ६४ ॥

श्लोकार्थ--फिर धीरे से उठ, आँखे पोंछ, भगवान् को देखकर गर्दन नीची कर हाथ जोड़, विनय सहित सावधान ब्रह्माजी कांपते कांपते गद्गद् वाणी से स्तुति करने लगे ॥ ६४ ॥

सुबोधिनी—ततः पुनर्मूर्छां परित्यज्य शनैरुत्थाय नेत्रे विमृज्य ततो निर्मलचक्षुषा मुकुन्दमुद्वीक्ष्य विशेषेण नम्रा कन्धरा यस्य तादृशो जातः, ततः कृताञ्जलिः प्रश्रयवान् विनयसहितः समाहितः सावधानः सवेपथुः कम्पमानो गद्गदयैलया सरस्वत्यैडत स्तोत्रं कृतवान् ॥ ६४ ॥

व्याख्यार्थ—इसके अनन्तर मूर्छा को छोड़कर धीरे-धीरे उठकर, निर्मल नेत्रो से मुकुन्द भगवान् के दर्शन कर नीची गर्दन कर विनय-पूर्वक हाथ जोड़ सावधान होके कांपते हुए ब्रह्माजी गद्गद् वाणी से स्तुति करने लगे ।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, दशम-स्कन्ध (पूर्वार्ध) के तेरहवें अध्याय को
श्रीमद् वल्लभाचार्य चरणकृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के तीन प्रक्षिप्त
अध्यायों में का द्वितीय अध्याय (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित हरि–लीला का अवगाहन निम्न पद से कीजिए

राग बिलावल

हरष भये नंदलाल बैठ तरु छांह की ॥ ध्रुव ॥
बंशी बट अति सुखद और द्रुम पास चंहू हैं ।
सखा लये तहां गये धेनु बन चरत कहूँ है ॥
बैठि गये सुख पाय के ग्वाल बाल लये साथ ।
कांवरि झोरी लये सखा हो आन नबायो माथ ॥ १ ॥ बैठि तरु छांह को,
आनन्द दये मधु छाक तुरत वृन्दावन आये ।
बिजन सहस प्रकार जशोदा बने पठाये ॥
श्याम कह्यो बन जात हों माता सों समुझाय ।
उतते वे आये सबे हो देखत ही सुख पाय ॥ २ ॥ बैठि तरु छांह की,
कान्ह देख मधु छाक पुलक अंग अंग बढायो ।
हरि हंसि बोलत बैन प्रेम जननी पहुँचायो ॥
नीके पहुँचे आय तुम भलो बन्यो संयोग ।
बार बार कहि सखनि सों हो आजु करें सुख भोग ॥ ३ ॥ बैठि तरु छांह की,
बन भोजी विधि करत कमल के पात मंगाये ।
तोरे पान पलास सरस दोना बहु लाये ॥
भाँति भाँति भोजन धरे दधि लवनी मिष्टान ।
बन फर लये मंगाय के हो लागे रुचि करि खान ॥ ४ ॥ बैठि तरु छांह की,
बन भोजन हरि करत संग मिलि सुबल सुदामा ।
श्याम कँवर प्रसेन महर सुत अरु श्रीदामा ॥
कान्ह सबन मिल खात हैं ले ले कौर छिड़ाय ।
औरनि देत बुलाय के हो डहकि आपु मुख नाय ॥ ५ ॥ बैठि तरु छांह की,
ब्रह्मा देख विचार सृष्टि को उनई चलाई ।
मोहि पठयो जेहि सोंपि ताहि कह के हो जाई ॥
देखो धों यह कौन है बाल बच्छ हर लेऊं ।
ब्रह्म लोक लै जाउँगो हो यहि बुधि कर दुख देऊं ॥ ६ ॥ बैठि तरु छांह की,
अन्तर्यामी नाथ तुरत विधि मन की जानी ।
बालक ढ़ै दिये पठे धेनु बन कहां हिरानी ॥
जहां तहां बन ढूंढि के फिरि आये हरि पास ।
सखा सबनि बैठारि के हो, आपुन गये उदास ॥ ७ ॥ बैठि तरु छांह की,
हरि ले बालक बच्छ ब्रह्म लोक हि पहुँचायो ।
फिरि आवे जो कान कहूँ को उनही बतायो ॥
जान्यो यह मन में तबही विधि ले गयो हराय ।
प्रभु तबही तेहि रंग रूप के हो बालक बच्छ बनाय ॥ ८ ॥ बैठि तरु छांह की,
तातें कीने और ब्रह्म हृदि नाल उपायो ।
अपनों करि तेहि जानि कियो ताको मन भायो ॥

उच्चाटन मारन समर्थ मन हरि कीन्हों ज्ञान ।
अनजानें विधि यह करी हो नये रचे भगवान् ॥ ९ ॥ बैठि तरु छांह की,

उहे बुद्धि उहे प्रकृति उहे पौरुष तन सब के ।
वहे नाम वहे भेष धेनु बछरा मिलि रबके ॥

श्याम कहे सब सखनि को ल्यावहु गोधन फेरि ।
संध्या को आगम भयो हो व्रज तन हांको घेरि ॥ १० ॥ बैठि तरु छांह की,

सुनत ग्वाल लै धेनु चले व्रज वृन्दावन ते ।
कांन्हहिं बालक जानि डरे सब ग्वालहिं मन ते ॥

मध्य किये ले श्याम को सखा भये चहुं पास ।
बच्छ धेनु आगे दिये हो आवत करत विलास ॥ ११ ॥ बैठि तरु छांह की,

बाजत वेणु विषान सबै अपने रंग गावत ।
मुरली धुनि गोरंभि चलत पग धूरि उड़ावत ॥

मोर मुकट सिर सोहंई मनहु चंदकन शीत ।
आस पास नाचत सखा हो बिच २ हरिगावत गीत ॥ १२ ॥ बैठि तरु छांह की,

देखि हरखि व्रज नारि श्याम पर तन मन वारति ।
एक टक रूप निहारि रही मेटति चित्त आरति ॥

कहा कहें छबि आजु की मुख मंडित खुर धूरि ।
मानहु पूरन चन्द्रमा हो कुहू रह्यो आपूरि ॥ १३ ॥ बैठि तरु छांह की,

गोकुल पहुंचे जाय गाय बालक अपने घर ।
गोसुत अरु नर नारि मिलि अति ही करि आदर ॥

प्रेम सहित वे मिलत हैं जे उपजाये आजु ।
जशुमति मिलि सुत सों कहति है रैनि करत किहिं काजु ॥१४॥ बैठि तरु छांह की,

मैं घर आवन कह्यौ सखा संग कोउ नहि आवै ।
देखत बन अति अगम डरावें मोहि डरपावै ॥

बार बार उर लायके लै बलाय पछिताय ।
कालिहुतें वेई सबे हो ल्यावहि गाय चराय ॥ १५ ॥ बैठि तरु छांह की,

यह सुनि के हरि हंसे काल्हि मेरि जाय बलैया ।
भूख लगी मोहि बहुत तुरत ही दे कछु मैया ॥

माखन दीनों हाथ पै वह तब लो तुम खाहु ।
तातो जल है घाम को हो तनक तेल सो न्हाहु ॥ १६ ॥ बैठि तरु छांह की,

तब जशुमति गहि बांह वहीं हरि लै अन्हवाये ।
रोहिनि करि जेवनारि श्याम बलराम बुलाये ॥

जेंवत अति रुचि पाव हो परुसति माता हेतु ।
जेंय उठे अचवन लीयो हो दुहुं कर बीरा देतु ॥ १७ ॥ बैठि तरु छांह की,

श्याम उनिदे देखि मात रचि सेज बिछायो ।
तापे पौढे लाल अतिहि मन हरष बढायो ॥

अघमर्दन विधि गर्व हरत करत न लागी बार ।
सूरदास प्रभु चरित को हो पावत कोऊ न पार ॥ १८ ॥ बैठि तरु छांह की,

॥ श्री कृष्णायनमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभायनमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्योनमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य – विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

कौतुक लीला निरूपक

प्रक्षिप्त तृतीय अध्याय

दशम स्कन्धानुसार : चतुर्दशो अध्याय

कारिका––स्तुतिर्ब्रह्मप्रसादश्च वत्सानां पुनरागतिः ।
स्नेहोपपत्तिः श्रवणे फलं चेति निरूप्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ––इस अध्याय में पांच विषयों का निरूपण है––

(१) ब्रह्मा ने भगवान् की स्तुति की है, (२) प्रसन्नता, (३) भगवान् बछड़ों को ले आए, (४) भगवान् में स्नेह होना, (५) इस कथा के श्रवण से प्राप्त फल का निरूपण ।

आभास––प्रथमं व्याकुलो ब्रह्मा दृष्टं रूपं वर्णयन् नमस्यति ।

आभासार्थ––प्रारम्भ में व्याकुल हुए ब्रह्मा ने जैसा रूप देखा उसका वर्णन करते हुए स्तुति करते हैं ।

॥ ब्रह्मोवाच ॥

श्लोक––नौमीड्य तेभ्रवपुषे तडिदम्बराय गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणुलक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥ १ ॥

श्लोकार्थ—ब्रह्माजी कहने लगे कि, हे स्तुति करने योग्य मेघ श्याम वर्ण वाले बिजली के समान चमकीले पीताम्बरधारी, गुंजा के कर्णभूषण और मयूर पिच्छों के मुकट से शोभायमान, वन मालाओं से विभूषित, ग्रास, बेंत, सींग और वंशी के चिन्हों से सुशोभित शरीर वाले तथा कोमल चरणों वाले गोपाल के पुत्र आपकी स्तुति करता हूँ ।

सुबोधिनी—नौमीति "णु स्तुतौ" स्तौमि भगवन्तं, तत्र हेतुं सम्बोधनेनाह हे ईड्येति, सर्वैरेव स्तूयतेतो मयापीति, "प्रयोजनमनुद्दिश्य कोपि न प्रवर्तत" इति किमर्थं स्तोत्रमित्याशङ्क्याह त इति, तुभ्यमेव, त्वमेव फलं न त्वहं, ब्रह्मप्राप्तिश्च तपोज्ञानादिभिः किं स्तोत्रेणेति चेत् तत्राहाभ्रवपुष इति, नास्माकं फलं शब्दविषयकं ब्रह्म किं त्वेतदेव प्रत्यक्षतो दृश्यं तदपि प्राकृतचक्षुषैव तत्रापि सर्वाभरणभूषितं तत्रापि प्राकृतालङ्कारसहितं तत्राप्येतदवस्थापन्नमिति वक्तुं तथाविशेषणान्याहाभ्रवन् मेघवद् वपुर्यस्य नीलमेघश्यामाय, तडिद्वत् पीतमम्बरं यस्य, गुञ्जाफलानामवतंसः परितो मयूरपिच्छानि तैर्लसन् मुखं यस्य, वनोद्भवानां पुष्पाणां स्रग् यस्य, कवलं दध्योदनो हस्ते, वेत्रविषाणे कक्षयोः, वेणुर्जठर-पटयोः, एतान्येव यानि लक्ष्माणि चिह्नानि तैः श्रीः शोभा यस्य, मृदू पादौ यस्य, पशुपस्य नन्दस्याङ्गाच्च जातो नन्दसूनुः, अनेन यथैव व्यवहारो लौकिकस्तद्विषय एव भगवानस्माकं फलरूपोस्त्वित्यर्थः ॥ १ ॥

व्याख्यार्थ—मैं (ब्रह्मा) आप (भगवान्) की स्तुति[1] करता हूँ कारण कि आपकी सब स्तुति करते हैं आप स्तुति करने योग्य हो अतः मुझे भी स्तुति करनी चाहिये । स्तुति करने की क्या आवश्यकता है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि मूर्ख भी प्रयोजन के बिना कोई कार्य प्रारम्भ नहीं करता है तो मैं बिना प्रयोजन के कैसे स्तुति करूंगा । प्रयोजन बताते हुए कहते हैं कि 'ते' तेरे लिये ही स्तुति करता हूँ कारण कि आप (जो इन नेत्रों से दिख रहे हो वह) ही फलरूप हो, न कि मैं फलरूप हूँ । ब्रह्म की प्राप्ति तो तप ज्ञानादि से होती है स्तुति करने से क्या लाभ ? इस शङ्का के निवारण के लिये कहते हैं कि 'अभ्रवपुषे' मैं उस स्वरूप की स्तुति करता हूँ जो आपका स्वरूप घनश्याम है । हम लोगों के लिये जिसका केवल शब्द से इंगित वर्णन किया जाता है वह फलरूप नहीं है किन्तु यह ही फलरूप है जो प्रत्यक्ष देखने में आ रहे हैं और जो इन प्राकृत नेत्रों से ही दृश्य हो रहे हैं, तथा प्राकृत अलङ्कार पहिने हुए और इसी अवस्था में स्थित हैं—इसको बताने के लिये दूसरे विशेषण देते हैं । अभ्र (आकाश) के समान नील, (मेघश्याम) बिजली के समान पीले वस्त्र वाले, गुञ्जाफल के आभूषण पहने हुए मोर पिच्छ से शोभित मुख वाले, वन-मालाओं से विभूषित, दहि से मिश्रित भात के ग्रास को हाथ में लिए हुए जठर (पेट) पर लपेटे वस्त्र में वंशी धारण किए; इतने पदार्थों से जिनकी शोभा हो रही है और कोमल चरण वाले, नन्दनन्दन उनका जैसा ही लौकिक व्यवहार देखने में आता है, वैसे विषय वाले भगवान् ही हमारे फलरूप है ।

१—श्लोक में 'नौमि' पद 'णु' स्तुतिवाचक धातु का रूप है ।

ब्रह्म-स्तुति

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर

कारिका--**लौकिके प्राकृते भावे यस्य भावः स भक्तिमान् ।**
हीनभावं तं विदित्वा योन्यथा वेद सोधमः ॥ १ ॥
यद् गृह्णाति यथैवायं रोधयत्यत्र लौकिके ।
तत् प्रमाणमिहास्माकं नान्यद् भिन्नाधिकारतः ॥ २ ॥

कारिकार्थ--लौकिक और प्राकृत भाव वाले स्वरूप में जिस मनुष्य (भक्त) का प्रेम है वह ही भक्तिवाला है। और जो इस प्राकृत भाववाले स्वरूप को हीन समझता है वह पुरुष अधम है।

भगवान् लोक में जिस प्रकार के स्वरूप को ग्रहण करते हैं एवं जैसा भी जनाते हैं, वही स्वरूप हमारे भक्ति मार्ग में प्रमाण है। अन्य प्रकार का रूप दूसरों (जो भक्ति मार्ग के अधिकारी नहीं हैं उन) के लिये प्रमाण है।

व्याख्या--आचार्य श्री दोनों कारिकाओं से यह शिक्षा देते हैं कि भगवान् स्वइच्छा से जो भी रूप धारण कर भक्तों को दर्शन देते हैं वह स्वरूप लौकिक प्राकृतवत् है तो भी हमारे (भक्तों के) वह ही फलरूप परमतत्त्व* है। जो इस स्वरूप को नीची श्रेणी का मानते हैं वे अधम हैं।

आभास--नन्वेतदेव फलत्वेंन किमिति प्रार्थ्यते ? प्रदर्शनार्थमेवैतदतः श्रुतिसिद्धमेव फलत्वेन प्रार्थ्यतामित्याशङ्क्याहास्यैवेति।

आभासार्थ--इस दृश्यरूप को ही फलरूप कैसे कहते हो ? यह तो केवल दिखावा (मायिक) है, अतः श्रुति प्रमाण सिद्ध स्वरूप को फलरूप समझ उसकी प्रार्थना करो। इस शङ्का को मिटाने के लिये निम्न श्लोक कहते है।

श्लोक--**अस्यैव देव वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य तनुभूतमयस्य कोपि ।**
नेशे महि त्ववसितुं मनसान्तरेण साक्षात् तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः ॥ २ ॥

श्लोकार्थ--हे देव ! मुझ पर अनुग्रह करने वाली, स्वइच्छानुसार स्वरूप धारण करने वाली यह आपकी मूर्ति की जो पञ्चभूतों से बनी हुई नहीं है उसको कोई भी विचारयुक्त मन से जान नहीं सकता है तो आपके साक्षात् स्वतः पुरुषार्थ रूप स्व अनुभूति स्वरूप की महिमा को कौन जान सकेगा ?

---

* जैसे गोपियों ने कहा है कि 'अक्षण्वतां फलमिदं' इन्द्रियवानों का यही फल है कारण कि भक्त को वह स्वरूप तथा उसके आभूषणादि आनन्द रूप ही दीखते हैं। और अभक्त को प्राकृत व मायिक, अतः वे अधम हैं--अनुवादक।

सुबोधिनी—एतदप्यस्माकं महत् फलं यस्य हि स्वरूपानुभावौ ज्ञायेते तत् फलमिष्टं भवति, अस्माकं त्वेतस्यापि स्वरूपानुभावौ न बुद्धिगोचरावत इदमेव फलत्वेन धार्ष्ट्यादेव प्रार्थ्यते, देवेतिसम्बोधनमुपास्यत्वाय, अस्यापि वपुषो महि महिमानमन्तरेणापि मनसान्तर्मुखेन विचारयुक्तेनापि मनसाहं ब्रह्मापि नेशे "कश्चिद धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षु" रितिपक्षं व्यावर्तयति, यद्यपीदं वपुर्मदनुग्रहं मय्यनुग्रहो यस्य, ब्रह्मकृपयैवावतारो ब्रह्मवचनाच्च गोकुले समागमनं ब्रह्मणि कृपयैवेदानीं प्रादुर्भाव इति, अत इदं रूपं ब्रह्मार्थमेव, तर्हि कथं न माहात्म्यं ज्ञायत इत्याशङ्क्याह स्वेच्छामयस्येति, स्वस्य येच्छा तन्मयोयं, इच्छा त्वपराधेन्यथा भवतीति न नियमो मय्यनुग्रहमेव करिष्यतीति, न च कालकर्मस्वभावानां नियामकत्वं, तथा सति ब्रह्मणस्तेनुकूला इत्यनुग्रहमेव करिष्यतीति कल्पयितुं शक्यते, अतः कालाद्यधीनत्वाभावे हेतुमाह तनुभूतमयस्येति, कोप्यहमपि, यत्रास्य रूपस्यैव महिमा न ज्ञायते तत्र साक्षात्तवैव श्रुत्यैकसमधिगम्यस्यात्मसुखानुभूतेः स्वत एव बोभूयमानाशेषपुरुषार्थस्वरूपस्य सच्चिदानन्दरूपस्य वा, यद्यप्येतदेव तत् तथाप्यप्रतीयमानमपि फलत्वेन भिन्नतया निर्दिष्टम् ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ—यह प्रत्यक्ष देखने में आनेवाला स्वरूप भी हमारे लिये महान् फल है। जिसके स्वरूप और प्रभाव जानने में आवे वह स्वरूप ही फल, अभिलषित तथा प्यारा होता है। हम लोगों को तो इसके भी प्रभाव और स्वरूप समझ में नहीं आते हैं अतः इसकी भी फलरूप से धृष्टता कर ही प्रार्थना करते हैं। श्लोक में 'हे देव' शब्द से बताया गया है कि यह स्वरूप ही उपासना करने योग्य है। इस वपु[1] की महिमा विचारयुक्त मन से भी मैं ब्रह्मा भी नहीं जान सकता हूँ। 'किसी अन्तर चक्षुधारी धीर ने प्रत्यगात्मा को देखा' इस पक्ष को यहाँ स्वीकार नहीं करते हैं। जो कि यह स्वरूप मेरे पर अनुग्रह वाला है अर्थात् मेरी प्रार्थना से मुझ पर कृपा कर यह स्वरूप धारण किया है। मेरे कहने से गोकुल में पधारे, अब भी मुझ पर कृपा कर प्रकटे हैं अतः यह रूप ब्रह्मा के (मेरे) लिये ही है। तो इसका माहात्म्य ब्रह्मा क्यों नहीं जान सकते हैं? इसके उत्तर में कहते हैं कि यह अवतार 'स्वेच्छामय' है। अपनी इच्छा वाला है इच्छा में तो कोई अपराध करे तो भी उसके ऊपर कृपा की जा सकती है वहाँ कोई भी नियम लागू नहीं हो सकता है। अतः मेरे पर अनुग्रह ही करेगा ऐसा नियम नहीं है। इस पर काल कर्मादिकों का भी नियामकत्व नहीं है उनके नियामकत्व न होने से जाना जाता है कि भगवान् की इच्छा ब्रह्मा के अनुकूल है, इससे अनुग्रह ही करेंगे यह कल्पना की जा सकती है। ऐसा क्यों कहते हो कि कालादि के आधीन यह स्वरूप नहीं है? इसके उत्तर में कहते हैं कि कालादि के आधीन वह होता है जो पञ्चभूतों से बना हुआ शरीर हो। यह पाँच भूतों से बना हुआ नहीं है, किन्तु स्वेच्छामय है। अतः कोई भी एवं मैं भी जहाँ इस रूप की महिमा नहीं जान सकते हैं तो साक्षात् अशेष[2] पुरुषार्थ रूप, सच्चिदानंद स्वरूप की महिमा को कौन जान सकेगा। यद्यपि (जोकि) वह भी यही है तो भी प्रतीति न होने से उसको पृथक् फलरूप से वर्णन किया गया है ॥ २ ॥

आभास—नन्वेवं सति कथं ज्ञानार्थं यतन्ते? तत्राह ज्ञाने प्रयासमिति।

१—शरीर। २—सर्व।

आभासार्थ—यदि ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान होना अशक्य है तो उसके लिये प्रयत्न क्यों करते हैं ? इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक द्वारा करते हैं।

श्लोक----ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् ।
स्थाने स्थिताःश्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये प्रायशोजित जितोप्यसितैस्त्रिलोक्याम् ।।

श्लोकार्थ----हे अजित[1] ? ज्ञान प्राप्ति के लिये परिश्रम का त्याग कर, जो लोग सत्पुरुषों के मुख से गाई हुई आपकी कीर्त्ति कान में आते ही शरीर, वाणी तथा मन से नमन करते हुए जीते हैं उनने आपके स्थान (तीर्थ, मन्दिर आदि) में स्थित ही आप अजित को प्रायः जीत लिया है अर्थात् अपने वश में कर लिया है।

सुबोधिनी—ज्ञानं द्विविधं भगवतः स्वस्य च, तत्र स्वज्ञानमपि भक्त्यैव भवतीति वक्तव्यं, भगवज्ज्ञानं तु न कस्यापि भवति, न ह्यापाततो दृष्टो भगवान् ज्ञातो भवति नापि श्रुतः, भक्त्यापि तत्त्वं ततो ज्ञानमिति प्रवेशोपयोग्येव तावदेवापेक्ष्यत इति, अतो ज्ञाने प्रयासमुदूर्ध्वमेवापास्य दूरीकृत्य तव द्वारकादिस्थानेषु स्थिता देशदोषाभावाय यत्र क्वाप्युपविष्टा वा सद्भिर्मुखरितां भगवदीयवार्तां स्वस्य श्रुतिगतां कर्णगतां तनुवाङ्मनोभिर्नमन्तो ये जीवन्ति ते प्रथमतः प्रसिद्धा भवन्ति, किं बहुना ? तैरजितोपि भवान् जितः अयमेको मार्गः सर्वेषां पुरुषार्थसिद्ध्यर्थं प्रसिद्धः सुगमः, आदौ स्थानस्थितानां जीविकोपद्रवाभावादिः स्वतःसिद्धः, सन्तश्च सर्वत्र भगवदाज्ञया परिभ्रमन्ति, तेषां चैतदेव कृत्यं, भगवद्गुणगाने ते मुखरा एव भवन्ति, तत्रापि कथायां ज्ञात्वा वक्तव्यमिति न नियमः, केवलं भगवदीया भगवत्सम्बन्धिनी वार्ता भवतु न तूपपन्नानुपपन्ना वेति, तत्राप्यनायासेन स्वकर्णे समागता भवति, परं कायवाङ्मनोभिर्नमस्या सा, तदनुगुणतयाकायवाङ्मनांसि स्थापनीयानि, न तु तत्र विरोध आचरणीयः, एतावदेव कृत्यमत्र साधनं जीवनमेव न तु कर्मकरणादिकमपि, प्रायश इति ते चेद् भावान्तरं न कुर्युः कालादयः प्रतिबन्धकत्वाद्वा, अतोनेनैव प्रकारेणाग्रिमतनानां निस्तारो मम त्वनेनैव स्वरूपेणेति स्वतन्त्र पक्षो निरूपितः ।।३।।

व्याख्यार्थ—ज्ञान दो प्रकार का है। १—भगवान् के स्वरूप का ज्ञान, २—अपने (जीव) स्वरूप का ज्ञान। इन दोनो में अपने (जीव) स्वरूप का ज्ञान भी भक्ति से प्राप्त होता है। भगवान् के स्वरूप का ज्ञान तो किसी को भी नहीं होता है। कारण कि भगवान् के दर्शन से वा उनके स्वरूप का वर्णन श्रवण करने मात्र से उसका पूरा ज्ञान नहीं होता है। भक्ति से भी तत्त्व हृदय में आ जाता है, उससे प्रवेश उपयोगी जितना ज्ञान अपेक्षित है उतना ज्ञान हो जाता है, अतः ज्ञान के लिए परिश्रम करना छोड़कर देश के दोष विघ्नकारक न हों इसलिये आपके द्वारका आदि स्थानों में स्थित अथवा जहाँ कहीं भी स्थित सत्पुरुषों के द्वारा कही गई भगवान् की कथा जब अपने कान में आती है तब शरीर, वाणी और मन से आपको ही प्रणाम करते हुए जो लोग जीवित

१—किसी से भी नहीं जीते गए।

रहते हैं वे पहले से ही प्रसिद्ध हैं। बहुत क्या कहें ? उन्होंने अजित आपको भी जीत लिया है। यह एक ही सरल मार्ग सबके लिए पुरुषार्थ सिद्ध करने वाला प्रसिद्ध है। आरम्भ में ही आपके स्थान में रहने वालों को भोजन आदि का कष्ट नहीं होता है यह स्वतः सिद्ध है। सत्पुरुष सर्वत्र[1] भगवदाज्ञा से परिभ्रमण करते हैं उनका यही कर्त्तव्य है। भगवान् के गुणगान करने में वे अगुए ही होते हैं। उसमें भी कथा जानकर ही कहनी वैसा नियम वहां नहीं है। केवल भगवान् से सम्बन्धित कथा ही होनी चाहिये। युक्ति-युक्त वा अनुपपन्न हो उसका विचार नहीं करना चाहिये। वह बिना प्रयास कान में आ जाती है किन्तु वह काया, वाणी और मन से नमन योग्य है। उस वार्ता को शरीर, मन तथा वाणी में इस प्रकार स्थान देना जैसे उसमें दुर्भावना उत्पन्न न होने पावे। उसके विरुद्ध विचार न करने चाहिये इतना ही कृत्य है। यहाँ (भक्ति मार्ग में) जीवन† ही साधन है न कि कर्म करने आदि साधन है। श्लोक में आए हुए 'प्रायशः' का भाव बताते हैं कि वे (भक्ति पथिक) यदि अन्य भाव न लावें अथवा कालादिक प्रतिबन्धक हैं केवल जीवित रहकर श्रवण से क्या होगा ? इस प्रकार के भाव न लावें तो यही (जीवन) एक सरल साधन सर्व सिद्धि कारक है। अतः इस प्रकार (जीवित रहकर भगवद्गुण श्रवण से) होने वालों (जीवों) का मोक्ष होगा। मेरा तो प्रथम श्लोक में कहे हुए भगवान् के स्वरूप से ही मोक्ष होगा। इस प्रकार स्वतन्त्र (प्रत्यक्ष दर्शन के) पक्ष का निरूपण किया है ॥ ३ ॥

आभास ये तु पुनः स्वज्ञानार्थं यतन्ते तेन च पुरुषार्थं साधयितुं ते भ्रान्ता एवेत्याह श्रेयः स्रुतिमिति।

आभासार्थ—जो लोग आत्म-ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं और उससे पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिए प्रयास करते हैं वे भ्रान्त[2] हैं। यह निम्न श्लोक में दृष्टान्त देकर समझाते हैं।

श्लोक **श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो यतन्ति ये केवलबोधलब्धये।**
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ—हे विभो ! कल्याण के प्रवाह को प्रकट करने वाली आपकी भक्ति को छोड़कर, जो लोग केवल आत्मबोध की प्राप्ति के लिये क्लेश करते हैं उनको केवल यह क्लेश ही फलरूप में प्राप्त होता है जैसे भूसा कूटने वाले को दुःख के अतिरिक्त कोई लाभ नहीं है।

† जीवन को साधन कहने का आशय यह है कि भगवद्गुण श्रवण जीवन में हो सकते हैं—अनुवादक।

१—सब स्थानों में। २—भूले हुए।

सुबोधिनी—श्रेयसः स्रुतिः प्रस्रवः, सृतिर्गतिर्वा, यया भक्तिर्हि चिन्तामणिरूपा प्रार्थ्यते चेदन्यदिवात्मज्ञानमपि प्रयच्छति तादृशीमपि परित्यज्य केवलं स्वरूपज्ञानमेवास्त्विति ये यतन्ते तेषामसौ यत्नः क्लेशल एव शिष्यते, क्लेशयुक्तः क्लेशलो न तु फलयुक्तोपि, तेन प्रयत्नेन गौणमपि फलं साधितं भविष्यतीतिशङ्कां वारयति नान्यदिति, अन्यत् फलं प्रासङ्गिकमपि न भवतीत्यर्थः, ननु तपस्यादिना यत्ने कथं नान्यफलसिद्धिरन्तःकरणशुद्धिर्वा भवेदित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह स्थूलतुषावघातिनामिति, महता कष्टेनाप्युत्पादिताः स्थूलतुषा अवहता अपि स्वरूपत एव परं नश्यन्ति न तु कश्चन तेषु सारांशोस्ति, अतः सत्त्वमूर्तेरस्वीकारे सत्त्वाभावाच् छुद्धिज्ञानादिकं न भवत्येव, मौढ्यात् प्रवृत्ताः क्लिष्टा एव भवन्तीत्यविवादम् ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ—जिससे कल्याण के झरने बह रहे हैं ऐसी चिन्तामणि रूप से, आत्म-ज्ञान की प्राप्ति होती है उसको त्याग कर केवल यही चाहते हैं कि स्वरूप का ज्ञान ही हो इस प्रकार जो लोग प्रयत्न करते हैं उनका यह प्रयत्न केवल क्लेशकारक ही होता है। क्लेश के अतिरिक्त कुछ भी फल नही मिलता है। उस प्रयत्न से मुख्य फल नहीं होगा किन्तु गौण फल तो मिलेगा ? इस शंका निवारणार्थ कहते हैं कि दूसरा प्रासंगिक फल भी नहीं होता है। तपस्यादि प्रयत्न करने से दूसरे फल की सिद्धि क्यों नहीं होगी ? अथवा अन्तःकरण की शुद्धि तो होगी ? इसके उत्तर में कहते हैं कि जैसे भूसा कूटने से किसी प्रकार का फल तो नहीं मिलता है किन्तु वह भूसा ही नष्ट हो जाता है। वैसे ही सत्त्वमूर्ति की भक्ति का स्वीकार किए बिना तथा सत्वगुण का अभाव रहने से, अन्तःकरण की शुद्धि वा ज्ञानादिक की प्राप्ति नहीं होती है। मूर्खता से उसमें प्रवृत हुए लोग दुःखी ही होते हैं। इसमें किसी प्रकार का वाद नहीं अर्थात् यह निश्चय ही है ॥ ४ ॥

आभास–अस्मिंश्च मार्गे फलसिद्धिर्बहूनां जातेत्याह पुरेति।

आभासार्थ—इस मार्ग में आए हुए बहुतों को फल प्राप्ति हुई है। यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**पुरेह भूमन् बहवोपि योगिनस्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया।**
विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया प्रपेदिरेऽञ्जोच्युत ते गतिं पराम ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ----हे भूमन् ! हे अच्युत ! इस लोक में पहले बहुत से योगीजन अपनी चेष्टा और कर्मों को आप में अर्पण कर, उन अर्पित कर्मों से प्राप्त, कथा श्रवण से उत्पन्न भक्ति-द्वारा ही, आत्मज्ञान को प्राप्त कर अनायास से आपकी परागति को प्राप्त हुए हैं ॥ ५ ॥

सुबोधिनी – हे भूमन् व्यापक, पूर्वमपि विद्यमान, इहास्मिन् बहवोपि सङ्ख्यशो योगेनावधृतभक्तिसामर्थ्याः, अत एव त्वय्यर्पितेहा चेष्टा यस्तेनैव समर्पणलक्षणेन कर्मणा त्वत्सेवालक्षणकर्मणा वा लब्धया भक्त्यैव विबुध्य स्वरूपं ज्ञात्वा हेच्युत केनापि प्रकारेण च्युतिरहित ते गतिं मार्गं येन प्रकारेण त्वं गच्छसि तां प्रपेदिरे, पश्चात् त्वदनुगानां न कापि चिन्ता, अक्लेशायासेनैव परां लोकातीतां प्रपेदिरे प्राप्तवन्तः, अत आत्मज्ञानापेक्षायामप्ययमेव मार्ग उचितः ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ—हे भूमन् ! (पहले भी विद्यमान ! सर्वव्यापक !) इस (भक्ति) मार्ग में बहुत संख्या वाले योगीजन जिन्होंने योग से भक्ति के माहात्म्य को जान लिया है इस कारण से ही अपनी चेष्टाएँ एवं सर्व कर्म अर्पण कर दिये हैं उससे अथवा आपकी सेवा रूप कर्म से प्राप्त भक्ति द्वारा ही आत्म स्वरूप को जानकर हे अच्युत[1] जिस प्रकार से आप जाते हो उसी गति[2] को वे प्राप्त हुए हैं। अनन्तर आपके अनुयायियों को किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती है। अनायास[3] से ही परम अलौकिक गति को प्राप्त होते हैं अतः आत्मज्ञान की अपेक्षा[4] से भी यही मार्ग उचित है ॥ ५ ॥

आभास—एवं लौकिकप्रकारं समर्थयित्वा वैदिकं च व्यवस्थया निरूप्य पौराणिकप्रकारेणापीदमेवोपास्यं न त्वन्तर्यामिरूपमिति वक्तुं तदपेक्षयास्य माहात्म्यं वदिष्यन्नन्तर्यामिरूपं सुकरत्वेन निरूपयत्यथापीति ।

आभासार्थ—इस तरह लौकिक प्रकार का समर्थन कर तथा वैदिक प्रकार की व्यवस्था (शास्त्र की मर्यादा) से निरूपण कर एवं पुराणों में कहे हुए प्रकार से भी यह बताया कि यह स्वरूप ही उपासना करने योग्य है। अन्तर्यामी रूप उपास्य नहीं है। यों कहने के लिए भी इस (श्रीकृष्ण स्वरूप) के माहात्म्य का वर्णन करने के पहले सरल रीति से अन्तर्यामी रूप का निरूपण निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**अथापि भूमन् महिमागुणस्य ते विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः ।**
अविक्रियात् स्वानुभवादरूपतो ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ—हे भूमन् ! (हे सर्वत्र व्यापक !) यों तो आपके सगुण और निर्गुण दोनों रूपों का ज्ञान होना कठिन है तो भी आपके निर्गुण स्वरूप की महिमा तो विकार रहित आत्मानुभव युक्त अन्तःकरण से ही अहम्रूप ज्ञानियों को अनन्य भाव से अनुभव में आती है परन्तु दूसरे प्रकार से नहीं।

१—किसी प्रकार की भी हानि या पतन से रहित। २—मार्ग। ३—बिना परिश्रम। ४—तुलना में।

सुबोधिनी—हे भूमन् ? अगुणस्य गुणातीतस्य ते महिमामलान्तःकरणैर्बोद्धुं बोधगोचरीभवितुमर्हति योग्यो भवति, हेतौ तृतीया, बोधविषयो महिमा भवति, यथा बोधे कर्ता योग्यो भवत्येवं कर्मापि "ग्रामो गन्तुमर्हती" तिवत्, अन्तःकरणनैर्मल्येगुणस्य महिमा चिते प्रकाशते दर्पणे मुखवत् प्रयासाभावात्, चित्तं हि सत्त्वाकारं तद गृह्णाति, अग्रहणे हेत्वभावात्, तत्र विकारं हेतुत्वेनाशङ्क्य परिहरत्यविक्रियादिति, न विक्रिया यस्मिन्, विकारे हि सति शुद्धचित्तेन न गृह्यते, किञ्च शुद्धं चित्तमात्मगाम्यात्मस्थितमेव पदार्थं गृह्णाति, महिमा पुनरात्मनिष्ठ एव, अतोपि ग्रहणयोग्यो भवतीत्याह स्वानुभवादिति, स्वस्यानुभव एवानुभवो यस्य, आत्मग्रहणेनैव गृह्यत इति स्वशब्देनात्मा, महिम्न एव स्वशब्दावाच्यत्वे महिम्न एवानु पश्चाद् भव उद्भवो यस्मान् महिमसम्बन्ध्यनुभवोन्तःकरणे भवति, गुणातीतस्य चेत् तथा महिमा न भवति तदान्तःकरणे ज्ञानं न भवेदेव, अत एवात्मानमपि गृह्णन् स्वजनकं ज्ञापयत्येव, स्वस्यायं महिमानुभवरूप एव वा, स्वयमेवानुभवस्तथा सति स्वप्रकाश एव, किञ्च शुद्धे ह्यन्तःकरणे ब्रह्माकारेण परिणते रूपवत्पदार्था एव न गृह्यन्ते महिमा तु ब्रह्मभूत एवेति भिन्नरूपत्वाभावाद् बोद्धुमर्हति, तदाहानन्यबोध्यात्मतयेति, अन्येन बोध्य आत्मा स्वरूपं यस्य तादृशभिन्नोयमात्मत्वेनैव भासमानत्वात्, अन्तःकरणधर्मा वा एते निर्दिष्टाः, सर्वविकारं परित्यज्य ज्ञानरूपेण परिणतं सप्रापञ्चिकविषयग्रहणहेतुभूतवासनारहितं सत् स्वत एव स्फुरज् ज्ञानरूपमन्तःकरणं भगवन्महिमानं गृह्णातीति ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ—हे सर्वत्र व्यापक ! गुण रहित, आपकी महिमा का शुद्ध ज्ञान, ज्ञानियों को अन्तःकरण ही कराता है। 'अन्तःकरण' शब्द श्लोक में तृतीया विभक्ति में (अमलान्तरात्मभिः) आया है, साधारण रीति से तृतीया विभक्ति 'करण' कारक में आती है किन्तु यहाँ वह हेतु में दी गई है, अर्थात् महिमा को जानने में ज्ञानियों का शुद्ध अन्तःकरण कारण है। 'महिमा' ज्ञान का विषय है अर्थात् 'महिमा' जानने के योग्य है। अतः जानने के लिए जैसे कर्ता योग्य होता हैं वैसे ही कर्म भी योग्य होना चाहिये। इसको यों समझना चाहिये, कि जैसे 'महिमा' स्वयं जान नहीं सकती है, किन्तु उसको जानने वाला शुद्ध अन्तःकरण, उसका योग्य कर्त्ता है। वैसे ही गांव भी जड़ होने से वहाँ भी जा नहीं सकता है अतः 'ग्रामो गन्तुमर्हति' वाक्य का अर्थ होगा, मनुष्य गांव को जाता है तब कर्म की योग्यता सिद्ध हो जाएगी, आशय समझ में आ जाएगा। जैसे निर्मल दर्पण में विना प्रयास के मुख स्वयं प्रकाशित होता है वैसे ही अमल[1] अन्तकरण में महिमा स्वतः प्रकाशित हो जाती है। शुद्ध अन्तःकरण सत्त्व[2] रूप होने से महिमा का ग्रहण कर लेता है, शुद्ध अन्तःकरण महिमा के ग्रहण नहीं करने में किसी प्रकार का कोई कारण नहीं है। यदि कोई कहे कि शुद्ध सतोगुण रूप अन्तःकरण विकार वाली वस्तु को ग्रहण नहीं करता है। तो इस शङ्का के मिटाने के लिये श्लोक में 'अविक्रियात्' शब्द दिया है कि उसमें (महिमा में) किसी प्रकार का विकार नहीं है। शुद्धचित्त आत्मगामी[3] होने से आत्मा में स्थिर पदार्थ को ही ग्रहण करता है। महिमा[4] आत्मा में ही स्थित है इस कारण से भी महिमा ग्रहण करने के योग्य है। इसको सिद्ध करने के लिये श्लोक में 'स्वानुभवात्'

१—मल रहित साफ। २—सतोगुण। ३—आत्मा की तरफ आकृष्ट (खिचा हुआ)। ४—माहात्म्य।

पद दिया है। आत्मा के अनुभव से ही महिमा का अनुभव होता है। यदि 'स्व' शब्द का अर्थ 'महिमा' लिया जाए तो भी महिमा का अन्तःकरण में अनुभव होने से आत्मा का भी अनुभव हो जाता है। जो निर्गुण की ऐसी महिमा न होवे तो अन्तःकरण में ज्ञान ही न हो सके। इस कारण से आत्मा का ग्रहण करते हुए वह अनुभव अपने उत्पन्न कर्त्ता का ज्ञान कराता है अथवा आत्मा की यह महिमा अनुभव रूप ही है। आत्मा ही अनुभव रूप है। आत्मा अनुभव रूप होने से आप ही अपने को प्रकाश करता है और जब अन्तःकरण शुद्ध होकर ब्रह्मरूप हो जाता है तब रूप वाले पदार्थों को वह ब्रह्मरूप अन्तःकरण ग्रहण नहीं करता है किन्तु महिमा तो ब्रह्मरूप ही है। ब्रह्म से प्रथक् महिमा का कोई रूप नहीं अतः उसको ब्रह्मरूप अन्तःकरण जान सकता है। इसलिए श्लोक में 'अनन्य बोध्यात्मतया' पद आया है, जिसका भावार्थ यह है कि 'महिमा' का स्वरूप दूसरे से (अन्तःकरण से) जाना जा सकता है क्योंकि इसका स्वरूप आत्म रूप से प्रकाशित होते हुए भी भिन्न प्रतीत होता है उसका कारण है कि ये अन्तःकरण के धर्म ही बताए गए हैं। तात्पर्य यह है कि सर्व प्रकार के विकारों का त्याग कर, प्रपञ्च के विषयों को ग्रहण करने वाली वासना रहित हो के, ज्ञान रूप हुआ, स्वतः प्रकाशमान् स्वरूप अन्तःकरण, भगवान् की महिमा को ग्रहण करता है।

आभास---गुणात्मनस्तु महिमा ज्ञातुं न शक्यत इत्याह गुणात्मनस्त इति।

आभासार्थ—निम्न श्लोक में बताते हैं कि आपके सगुण स्वरूप की महिमा को कोई भी नहीं जान सकता है।

श्लोक---**गुणात्मनस्तेपि गुणान् विमातुं हितावतीर्णस्य क ईशिरेस्य।**
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पैर्भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः॥ ७॥

श्लोकार्थ---जगत के हितार्थ, सगुण स्वरूप से प्रादुर्भूत, आपके गुणों की गणना कौन करने में समर्थ है? जो अति निपुण[1] पुरुष, विशेष समय लगाकर पृथ्वी के रजःकण, आकाश में के हिमकण और नक्षत्र आदि के किरणों के परमाणु भी गिन सके, वे भी आपके गुणों को नहीं गिन सकते हैं॥ ७॥

सुबोधिनी—सर्वगुणरूपो भगवानेव जातस्ते च गुणा अनन्तास्तेषां विमानेपि कश्चिन्न शक्तः, यतः सर्वजगद्धितार्थमवतीर्णः, बहवोपि मिलित्वा नेशिरे, महतापि कालेन सुकल्पैरतिसमर्थैर्भूपांसवो विमिता भवन्ति पंचाशत्कोटिघनस्य गणनायां घनान्तरवत् तदपि गणयितुं शक्येत, ख आकाशे मिहिका हिमकणाः, द्युभासो ज्योतिश्चक्रतेजोंशाः एते तामसा राजसाः सात्त्विकाः सर्वहितार्थं प्रवृत्ताः परिमितत्वात् गणितुं शक्याः, अपरिमितास्तु भगवदगुणा गणितुं न शक्याः।

१—समर्थ।

व्याख्यार्थ—सर्व गुण रूप भगवान ही प्रकट हुए हैं। वे गुण अनन्त हैं, उनकी गणना करने में कोई भी शक्तिमान नहीं है। कारण कि सर्व जगत् के हितार्थ अवतार धारण किए हैं। बहुत मिल कर भी गुणों की गणना नहीं कर सकते हैं। विशेष सामर्थ्य वाले पुरुष भी, बहुत समय से भूमि के रजःकण गिनते है। पचास करोड़ समुहों की गणना में एक दूसरे समूह के समान वह (रजःकण समूह) भी कदाचित् गिना जा सके, आकाश में के हिम कण और नक्षत्र आदि के किरणों के परमाणु कदाचित् गिनने में भी आ जावें क्योंकि वे तामस, (भूमि के रजःकण) राजस (हिम कण) और सात्त्विक (नक्षत्रादि) सर्व हितार्थ प्रवृत्त होने के कारण परिमित[1] हैं अतः वे गिने जा सकते है किन्तु भगवान् के गुण अपरिमित[2] है इससे वे गिनने में नहीं आ सकते हैं।

आभास—अतो ये सगुणोपासकास्ते गुणज्ञानाग्रहं परित्यज्यास्मदुक्तानुसारेण चेत प्रवृत्तास्तदा कृतार्था भवन्तीत्याशयेनाह तत्।

आभासार्थ—आप के गुण असीम हैं, अतः गुणों के ज्ञान का आग्रह छोड़ कर, जो सगुणोपासक हमारे कहे हुए प्रकार से यदि प्रवृति करते हैं, तो कृतार्थ होते हैं। यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**तत् तेनुकम्पां प्रसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।**
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन् नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ—इसलिए आपकी कृपा को राह देखता हुआ, अपने कर्म फल भोगता हुआ, मन, वाणी और शरीर से आपको प्रणाम करता हुआ जीवन धारण करता है वह मुक्ति पद का दायभागी[3] होता है।

सुबोधिनी—तस्मात् कारणात् तेनुकम्पां कृपाभेव प्रकर्षेण समीक्षमाणः कदा कृपां करिष्यतीति तावत्पर्यन्तमात्मकृतमेव विपाकं कर्मविपाकं भुञ्जानो हृदयमेव मनो वाङ्मनोवपुर्भिस्ते नमो विदधद् यो जीवेत स मुक्तिपदे दायभाग् भवति, यथा पितृद्रव्ये जीवन् पुत्र एव भागी ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थ—इस कारण से, आपकी कृपा की राह देखता रहता है, कि कब कृपादृष्टि होगी ? तब तक अपने किए हुए कर्मानुसार प्रारब्ध भोगों को भोगता हुआ, हृदय ही मन है। वाणी, मन और शरीर से आपको प्रणाम करता हुआ जो जीवन यापन करता है, वही मुक्ति में, इस प्रकार भागीदार होता है, जैसे पिता के द्रव्य में जीवित पुत्र होता है।

१—हद्दवाले। २—असीम, विनामाप वाले। ३—हिस्सेदार।

आभास--एवम्रूपम्यैव भगवतः सर्वोपास्यत्वमुक्त्वा स्वापराधं क्षमापयितुमनुवदति पश्येति ।

आभासार्थ--इस प्रकार का भगवद्रूप ही उपासना के योग्य है, यों कह कर अब निम्न श्लोक में ब्रह्माजी अपने अपराध की क्षमा याचना करते हैं ।

श्लोक----**पश्येश मेनार्यमनन्त आद्ये परात्मनि त्वय्यपि मायिमायिनि ।**
मायां वितत्येक्षितुमात्मवैभवं ह्यहं कियानैच्छमिवार्चिरग्नौ ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ----हे ईश्वर ! मेरी दुर्जनता[1] तो देखिए कि आप, जो आदि और अन्त रहित हो, तथा मायावियों को भी मोहित करने वाले, तथा सब से 'पर' आत्मा हो, उन पर अपनी माया फैलाकर आपके ऐश्वर्य को देखने की इच्छा की । जैसे अग्नि के आगे उसकी किरण क्या चीज है ? कुछ नहीं । वैसे ही आपके सामने मैं क्या हूँ ? कुछ नहीं हूँ ।

सुबोधिनी--हे ईश **मेनार्यं** दुष्टत्वं पश्य, **अनार्यमेवाहानन्त** उत्तरावधिरहित **आद्ये** पूर्वावधिरहिते **परमात्मनि** नियामकात्मरूपेन्तर्बहिःस्थित एतादृशे **त्वय्यपि मायिनामपि मायिनि** मोहके, प्रकृतोपयोगि विशेषणमेतत्, तादृशे **मायां वितत्यात्मवैभवमीक्षितुमैच्छं**, अनेन प्रदर्शनार्थमेवैतदित्यपराधाभावोपि सूचितः, परमेतदप्यनुचितं, तत्र हेतुमाह **कियानहमिति**, को वाहं वराकः ? तत्र दृष्टान्तोनार्वाचिरिवेति, न ह्यग्नेर्ज्वालाविशेषोग्निमेवं कर्तुमर्हति ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ--हे ईश ! मेरी दुष्टता को देखो । अपनी दुष्टता बताते हैं कि आप जो अनन्त[2] तथा आद्य[3] हो, अन्दर बाहर सर्वत्र नियामक रूप 'पर' आत्मा हो और मायावियों[4] को भी मोहित करने वाले* हो उन पर अपनी माया फैलाकर आपका वैभव[5] देखने की इच्छा की । इस प्रकार कहने से ब्रह्मा ने यह बताया कि मैंने यह कार्य आपका ऐश्वर्य देखने के लिये किया हैं, अतः मैं निरपराधी[6] हूँ । किन्तु तो भी ऐसा करना भी मेरे लिये उचित नहीं था । उचित न होने में दृष्टान्त देकर कारण बताते हैं कि मैं छोटा (बिचारा) कौन ? जैसे अग्नि के कण को अग्नि के

---

* यह विशेषण इस प्रकरण में उपयोगी है । अर्थात् जो मैं ब्रह्मा मायावीं हूँ उसको भी आपने मोहित कर दिया है । इसलिये श्री सुबोधिनीजी में यहाँ आचार्यश्री ने 'प्राकृतोपयोगी विशेषण मेतत्' पंक्ति दी है ।

१--दुष्टपन । २--जिसका अन्त कहां और कब होगा जिसका पता न हो ।
३--जिसका आदि कब है अर्थात् कब उत्पन्न हुआ जिसका भी पता न हो ।
४--मोह में डालने वालों । ५--ऐश्वर्य । ६--निर्दोष ।

प्रकाश (वैभव) को देखने की इच्छा करना योग्य नहीं है। वैसे ही मुझे भी ऐसा करना योग्य नहीं था ॥ ९ ॥

श्लोक—**अतः क्षमस्वाच्युत मे रजोभुवो ह्यजानतस्वत्पृथगीशमानिनः ।**
अजावलेपान्धतमोन्धचक्षुष एषोनुकम्प्यो मयि नाथवानिति ॥ १० ॥

श्लोकार्थ—हे अच्युत ! इसलिए आप मेरे पर दया करो। मैं तो रजोगुण से हूँ, उत्पन्न, अनजान हूँ। इस कारण से मैं अपने को आप से पृथक्, अजन्मा, जगत्कर्ता ईश्वर समझता हूँ ऐसे मद के गाढ अन्धकार से अन्धदृष्टि हो गया हूँ। परन्तु आपको यों समझना चाहिये कि यह मेरा दास है, दास समझ कर क्षमा ही करनी चाहिये।

सुबोधिनी—अतोनुचितं यद्यपि तथापि क्षमस्व यतस्त्वमच्युतस्तव न काचित् क्षतिः. मम चायं सहजो दोषो यतोहं रजोभूा, तत्राप्यजानतः, अर्थात् तव माहात्म्यं, तत्र हेतुस्त्वजः पृथगेवाहमीश इत्यभिमानयुक्तः, हेत्वन्तरमप्याहाजोहं न कस्मादप्युत्पन्न इति योयमवलेपो गर्वो वस्तुतस्त्वज एव, तेनावलेपेनान्धं चक्षुर्यस्य, क्षमायां हेतुमाहैषोनुकम्प्यो मयि नाथवानिति, एष ब्रह्मानुकम्प्यः, कुतः ? मय्येव सत्ययं नाथवान् अन्यथा त्वनाथ एव स्यात्, अतो ब्रह्मण एतावत्त्वं मत्त एवेति क्षमोचिता ॥१०॥

व्याख्यार्थ—मैंने जो कुछ किया है वह अनुचित ही है तो भी आप क्षमा करो। क्योंकि आप 'अच्युत' हो दुष्ट किसी प्रकार का भी आपके प्रति अनुचित करे तो भी आपकी कोई क्षति[1] नहीं होती है। मेरा यह स्वाभाविक दोष है क्योंकि रजोगुण से पैदा हुआ हूँ। रजोगुणी को अभिमान होता ही है। रजोगुण के साथ आपके माहात्म्य का अज्ञान मिल जाने से मस्तिषक में यह गर्व आ गया कि मैं पृथक् ही ईश हूँ। केवल इतना ही नहीं किन्तु दूसरा भी अभिमान का कारण यह हुआ कि मैं 'अजन्मा' हूँ किसी से भी उत्पन्न नहीं हुआ हूँ। इस गाढ गर्व से मैं चक्षुहीन हो गया, देख नहीं सका (समझ नहीं सका) कि मैं कौन हूँ। वास्तविक में तो मैं अज[2] हूँ, अतः क्षमा करे। आप जानते ही हैं कि ब्रह्मा का इतना महत्त्व मेरे कारण ही है। मुझ से ही यह (ब्रह्मा) सनाथ[3] है। यदि मैं क्षमा न करूंगा तो ब्रह्मा अनाथ जैसा हो जाएगा, अतः मुझे अनाथ न बताते हुए क्षमा करें मैं दास हूँ अतः क्षमा के योग्य हूँ ॥ १० ॥

आभास—एवमाधिभौतिकब्रह्माण्मात्मानं तिरस्कृत्याधिदैविकमपि तिरस्करोति क्वाहमिति ।

१—हानि। २—बकरा। ३—स्वामी।

आभासार्थ—इस प्रकार ब्रह्माजी अपने आधिभौतिक स्वरूप का तिरस्कार कर अब निम्न श्लोक में आधिदैविक रूप का भी तिरस्कार करते हैं।

श्लोक—**क्वाहं तमोमहदहङ्खचराग्निवार्भू संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः ।**
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥ ११॥

श्लोकार्थ—प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से वेष्टित ब्रह्माण्ड रूप घट में सातवितस्ति[1] प्रमाण शरीरकाला मैं कहाँ ? और इस प्रकार के अनेक ब्रह्माण्ड रूप जिनके रोमकूप झरोखों में फिरा करते हैं वैसे आपकी महिमा कहाँ।

सुबोधिनी—तमः प्रकृतिर्महन् महत्तत्त्वमहमहङ्कारः खमाकाशश्वरो वायुरग्निर्वार्जलं भूमिश्चेत्यष्टावरणानि तैः सम्यग् वेष्टितो योग्यमण्डरूपो घटस्तस्मिन् घटे सप्तवितस्तिपरिमितः कायो देहो यस्य, वितस्तिमात्रं शिरः परित्यज्य कायः सप्तवितस्तिर्भवति, ईदृग्विधानाम विगणितानामण्डपरमाणूनां गतिर्यत्र तादृशो वाताध्वो गवाक्षः, गवाक्षे हि सूर्यकिरणेषु त्रसरेणूनां गतिर्दृश्यत इति गवाक्षवद् रोमविवराणि यस्य, तादृशस्य ते महत्त्वं क्वाहं च क्वेति सर्वथा परीक्षायामयोग्यता ॥ ११॥

व्याख्यार्थ—प्रकृति, महत्तत्व, अहङ्कार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवि इन आठ आवरणों से वेष्टित ब्रह्माण्ड रूप घड़े में सातवितस्ति[2] प्रमाण शरीर वाला मैं हूँ यह नाप मस्तक को छोड़कर शेष शरीर का है। और इस प्रकार के असंख्य ब्रह्माण्डरूप परमाणुओं, जिनके रोम कूप रूप झरोखों में इस प्रकार फिरा करते हैं जैसे झरोखों में सूर्य किरणों के त्रसरेणु* फिरा करते हैं। वैसे महान् आपका महत्त्व कहाँ ? और मैं कहाँ इस प्रकार अपने स्वरूप का वर्णन कर यह बता दिया कि आपकी परीक्षा करने की मुझ में योग्यता नहीं ॥ ११ ॥

आभास—आध्यात्मिकस्यापि ब्रह्मणः स्वरूपमाश्रित्यापराधक्षमापनामाहोत्क्षेपणमिति।

आभासार्थ—ब्रह्मा अपने आध्यात्मिक स्वरूप द्वारा अपराध की क्षमा याचना निम्न श्लोक से करते हैं।

---

* झरोखों से आने वाले सूर्य की किरणों के रजःकण को त्रसरेणु कहते हैं। उसका तीसवां भाग 'परमाणु' होता है।

१—बारह अंगुली का नाप।

श्लोक—उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे ।
किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ—हे अधोक्षज ! गर्भ में स्थित बालक का पादों को उछालना क्या माता का अपराध गिना जाता है ? भाव और अभाव (स्थूल सूक्ष्म वा कार्य कारण) नाम से भूषित (प्रसिद्ध हुआ) हुआ यह सर्व जगत् आपके उदर से कुछ भी बाहिर है ? नहीं है ।

सुबोधिनी—गर्भगतस्य पादयोरुत्क्षेपणं मातुरागसे किं भवति ? अपराधाय न कल्पते, ननु विषमो दृष्टान्त इति चेदस्तिनास्तिव्यपदेशाभ्यां भावाभाव शब्दाभ्यां भूषितमलङ्कृतं जगत् तव कुक्षेरनन्तर्बहिः किम् ? सर्वं हि तव कुक्षौ, अतो ममापि सर्वमध्ये पातान् नापराध इत्यर्थः, अनेनापि प्रकारेणापराधक्षमापनं, अयं साधारणः पक्ष इति ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थ—गर्भ में स्थित बालक का पादों को उछालना क्या माता के अपराध के लिये होता है ? पैरों का उछालना अपराध नहीं गिना जाता है× । यदि कहो कि यह दृष्टान्त विषम* है तो उसके उत्तर में दूसरा अर्ध श्लोक कहते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत् जो भाव (स्थूल) और अभाव (सूक्ष्म) नाम से भूषित[२] है क्या वह आपके उदर से बाहिर है क्या ? सब (जगत्) निश्चय से आपके उदर में है । मैं भी सब में आ जाने से आपके उदर में ही हूं इसलिये आपको यह मेरा अपराध न समझना चाहिये । इस प्रकार से ब्रह्मा ने जो अपराध नहीं समझना चाहिये । इस प्रकार से ब्रह्मा ने जो अपराध क्षमा कराने की प्रार्थना की है वह साधारण पक्ष है ॥ १२ ॥

आभास—विशेषप्रकारेण स्वस्य पुत्रत्वं भगवतः पितृत्वं चाह जगत्त्रयेति ।

आभासार्थ—अब निम्न श्लोक में विशेष प्रकार से अपना पुत्र-पन और भगवान् का पिता-पन बताते हैं ।

श्लोक—जगत्त्रयान्तोदधिसम्प्लवोदे नारायणस्योदरनाभिनालात् ।
विनिर्गतोऽस्त्यतिवाङ् न वै मृषा किन्त्वीश्वर त्वन्न विनिर्गतोस्मि ॥१३॥

× अपराध इसलिये नहीं गिना जाता है कि वह बालक का सहज धर्म है, यों समझ माता उसको अपराध नहीं समझती है । उस दुःख को सहन कर मातृ-धर्म का पालन करती है—अनुवादक ।

* आप ब्रह्मा ईश हो और वह छोटा बालक उसके साथ आपकी बराबरी नहीं हो सकती है । इसलिये आपका दिया यह दृष्टान्त विषम है—अनुवादक ।

१—बराबर नहीं । २—प्रसिद्ध । ३—इकट्ठे ।

श्लोकार्थ----हे ईश्वर ! प्रलय समय में एकत्रित[1] हुए समुद्रों के जल में, नारायण के उदर के नाभि नाल में से ब्रह्मा उत्पन्न हुआ है। यह कहना निश्चय से झूठा नहीं है। क्या मैं आप से पैदा नहीं हुआ हूँ।

सुबोधिनी—जगत्त्रयस्यान्ते प्रलये य उदधिसम्भव उदधीनां संश्लेषस्तस्मिन् प्रलयोदके नारायणस्योदरनाभिनालात् कमलादजो विनिर्गत इतिवाङ् न मृषा, उपाख्यानानामपि सत्यार्थप्रतिपादकत्वात्, अत एव हे ईश्वर किं त्वत्तोहं न निर्गतः ? अपि तु निर्गत एवास्मि ।। १३ ।।

व्याख्यार्थ—तीनों जगत् के प्रलय समय में जो समुद्र इकट्ठे हो जाते हैं उस इकट्ठे हुए प्रलय जल में नारायण की नाभि कमल से ब्रह्मा प्रकट हुआ है यह वाणी बिलकुल झूठी नहीं है क्योंकि उपाख्यान (इतिहास) भी सत्य अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। इसीसे हे ईश्वर ! क्या मैं आपसे पैदा नहीं हुवा हूं ? निश्चय से उत्पन्न हुवा ही हूं ।। १३ ।।

आभास----ननु नाहं नारायण इति चेत् तत्राह नारायणस्त्वमिति ।

आभासार्थ—यदि कहो कि 'मैं नारायण नहीं हूं' तो निम्न श्लोक में सिद्ध करते हैं कि आप ही नारायण हो।

श्लोक---नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिनामात्मास्यधीशोखिललोकसाक्षी ।
नारायणोङ्गं नरभूजलायनात् तच्चापि सत्यं न तवैव माया ।। १४ ।।

श्लोकार्थ----क्या आप नारायण नहीं हो ? सर्व प्राणियों के आत्मा तथा अधीश्वर हो। और अखिल[2] लोक के साक्षी हो। नर से उत्पन्न जिसका आश्रय स्थान है वह नारायण आपका अंग है, वह भी सत्य नहीं है किन्तु आपकी ही माया है।

सुबोधिनी—त्वं किं नारायणो न हि ? यतो नारायणत्वसाधका हेतवः सन्ति तानाह सर्वदेहिनामात्मेति, नारं जीवसमूहस्तदयनं यस्येति, आत्मा हि सर्वभूतेषु तिष्ठति, "अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थिति" इतिवाक्यात्, किञ्च नारमयते प्रेरयतीति नारायणः, अस्मिन्नपि पक्षेधीश्वरत्वाद् भवान् नारायणो "नराज् जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधास्तेषामधीश्वरः साक्षान् नारायण इतिस्मृत" इतिवाक्यात्, नारं जीवसमूहमयते जानातीति चेत् तथापि भवान् नारायणो यतोखिललोकसाक्षी, ननु नैवं नारायणशब्दो व्युत्पन्नः किं "न्त्वापो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृत" इतिवाक्यान् नरोत्पन्नजलायनान् नारायण इति चेत् तत्राह नारायखोङ्गमिति, नरभूजलायनाद् यो नारायणः स तवाङ्गं पुरुषत्वात् "पुरुषोह वै नारायणोकामयते" तिश्रुतेः, "विष्णोस्तु त्रीणी रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो

१—इकट्ठे । २—सम्पूर्ण ।

विदुः प्रथमं महतः स्त्रष्टृ द्वितीयं खण्डसंस्थितं तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यत" इतिवाक्यान् नारायणस्तवाङ्गमवतारः, किञ्च नारायणशब्दो वस्तुतस्तथा न व्युत्पन्न एव, यतो जलवासस्य प्रदर्शनमात्रपरत्वात्, न ह्यवस्तुना शब्दो व्युत्पद्यते, अन्यथा रजतदाने शुक्तिकामपि दद्यात्, अतो जलस्थितेः प्रदर्शनमात्रपरत्वात् तेन न नारायणयोगार्थः सिध्यति, तदाह तच्चापि सत्यं नेति, जलाधिकरणत्वं न सत्यं किन्तु तव मायैव ।। १४ ।।

व्याख्यार्थ—तो क्या आप नारायण नहीं हो ? ऐसा नहीं है आप नारायण ही हो । क्योंकि आपके नारायणत्व को सिद्ध करने वाले अनेक कारण हैं । वे कारण बताते हैं ।

(१) सकल देहधारियों की आत्मा हो ।

(२) 'नार' शब्द का अर्थ जीव समूह है उस (जीव समूह) में निवास करते हो । आत्मा सर्व भूतों में रहती है जैसा कि गीता में आपने ही कहा है कि हे गुड़ाकेश ! हे अर्जुन ! मैं जो आत्मा हूं वह सर्व भूतों के अन्तःकरण में रहता हूं ।

(३) 'नारं' (जीव समूह) को अयते जो प्रेरणा* करता है वह नारायण है ।

(४) 'नार' शब्द का अर्थ यह भी होता है कि 'नर'[1] से उत्पन्न तत्व 'नार' है उनका अधीश्वर साक्षात् नारायण है । ज्ञानी इस प्रकार जानते हैं ।

(५) नारं (जीव समूह) को 'अयते' जो जानता है इस अर्थ से भी आप नारायण हो क्योंकि अखिल लोक के साक्षी[2] हो । यदि कहो कि आपके ये अर्थ यथार्थ नहीं हैं नारायण§ का अर्थ तो 'जल' है जिसे नार कहते हैं, ये जल नर के पुत्र हैं, वे जल पहले उसके निवास-स्थान थे इस कारण से यह नारायण है । इस वास्ते नर से उत्पन्न जल जिसका घर है वह नारायण है । मैं तो नारायण नहीं हूँ इसके उत्तर में कहते हैं कि 'नारायणोऽङ्गं' वह नारायण आपका ही अंग है । क्योंकि पुरुष है । श्रुति कहती है कि निश्चय से प्रसिद्ध है कि पुरुष नारायण है उसने कामना[3] की । विष्णु के पुरुष नाम से तीन रूप प्रसिद्ध हैं । प्रथम रूप महत्तत्व को उत्पन्न करने वाला है । द्वितीय ब्रह्माण्ड में स्थित । तृतीय सर्व भूतों में वास करने वाला । इनको जान लेने पर मुक्त होता है इस वाक्य से नारायण आपका अंग (अवतार) है और नारायण शब्द की वास्तविक व्युत्पत्ति[4] इस प्रकार हो नहीं सकती है । कारण कि जल में निवास तो केवल दिखावे मात्र है । जो वस्तु है ही नहीं उससे शब्द उत्पन्न नहीं होता है जो यों न होवे तो चांदी के दान के बदले में शुक्ति[5] दी जावे । वैसा नहीं होता है । इससे नारायण शब्द का यह यौगिक अर्थ सिद्ध नहीं होता है ।

---

* आप प्रेरक हो इससे नारायण हो—अनुवादक ।

§ आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नर सूनवः । अयनं तस्य ताःपूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ।।

१—पुरुष । २—जानने वाले । ३—इच्छा । ४—अर्थ । ५—सीप ।

उसको स्पष्ट करते हैं कि वह भी सत्य रूप नहीं है। जल आपका निवास-स्थान है यह सत्य नहीं है क्योंकि यह सब आपकी माया ही है।

आभास----तस्य मायिकत्वार्थे तर्कमाह तच् चेज् जलस्थमिति।

आभासार्थ—वह निवास-स्थान जल मायिक था उसकी सिद्धि के लिये निम्न श्लोक में तर्क[1] देते हैं।

श्लोक----**तत् चेज् जलस्थं तव सत् जगद्वपुः किं मे न दृष्टं भगवंस्तदैव।**
किं वा सुदृष्टं हृदि मे तदैव किं नो सपद्येव पुनर्व्यदर्शि ॥ १५॥

श्लोकार्थ—हे भगवन्! यदि आपकी वह जगदाश्रय रूप मूर्त्ति जल में ही स्थित होती तो मैंने उस समय* क्यों न देखी? अथवा हृदय में क्यों न देखने में आई? और फिर तत्क्षण क्यों न देखने में आई?

सुबोधिनी—तद् वपुश्चेत् सज् जलोपरि च वर्तते तदा मे मया किं तदैव न दृष्टं? यो हि स्थूलपदार्थः परिच्छिन्नो योग्ये वर्तते स दृश्यते यथा घटः, अतस्तदा मया न दृष्टमिति न तज् जले तिष्ठति, नन्वयोग्यत्वान्न दृश्यते न त्वविद्यमानत्वादित्याशङ्क्याह किं वा सुदृष्टं हृदि मे तदैवेति? न हि हृदये जलमस्ति, अतो जलस्थितिर्न नारायणशब्दप्रवृत्तिप्रयोजिका, किञ्च सपद्येव पुनः किं नो व्यदर्शि? अस्मभ्यं कथं न दर्शितवान्? यद्यहं तस्य नारायणस्यैव पुत्रः, लोके हि पितापुत्रावन्योन्यं प्रत्यक्षसिद्धौ भवतः, न हि तयोरन्यतरोयोग्यो भवितुमर्हति, वस्तुतो भवानेव नारायणो न तु सः, नारं सर्वमेवायते प्रविशति यमिति नारायणः सर्वजगदाधारः, स भवानेव न तु सः॥ १५॥

व्याख्यार्थ--वह तनु यदि सत्य हो और जल के ऊपर विराजमान होता तो मैंने उस समय क्यों न देखा? जो स्थूल पदार्थ परिच्छिन्न[2] योग्य, स्थल पर होता है वह देखने में आ जाता है जैसे घड़ा देखने में आता है उस समय मैंने नहीं देखा इससे जाना जाता हैं कि वह (शरीर) जल पर नहीं है यदि कहें कि शरीर तो था किन्तु आप उसके दर्शन करने के योग्य अधिकारी नहीं थे इसलिए नहीं देखा। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि यदि मैं अयोग्य था तो उसी समय मेने हृदय में आपका दर्शन क्यों किया? हृदय में तो जल नहीं है, अतः नारायण शब्द का तात्पर्य जल में स्थिति दिखाने का नहीं है। और फिर तत्क्षण क्यों नहीं देखने में आए? जबकि मैं उस नारायण का पुत्र हूँ तो मुझे क्यों दर्शन नहीं किए? पिता और पुत्र दोनों आपस में प्रत्यक्ष दिखते हैं। उन

---

* कमल नाल में बैठ अन्वेषण करते समय।

१—दलील। २—हद्दवाला।

दोनों में परस्पर देखने की अयोग्यता नहीं होती है। अतः वास्तविक नारायण तो आप ही हैं न कि वह है। नारायण शब्द की व्युत्पत्ति[1] वास्तविक यह है कि 'नारं[2] अयते प्रविशति यं इति नारायणः' सर्व जीव समूह जिसमें प्रविष्ट होकर रहता है वह जगदाधार नारायण है। जगत् का आधार आश्रय आप ही हो न कि वह (जल में स्थित रूप) नारायण है ॥ १५ ॥

आभास----तस्योदर एवाहं स्थितो जगत् कृतवाञ्, यदि जगत् तत्र सहजं तिष्ठेत् मम कृतिर्व्यर्था स्यादत्र तु तिष्ठतीत्याहात्रैवेति ।

आभासार्थ—उस (जलस्थ नारायण) के उदर में स्थित होकर मैंने जगत् रचना की होती तो वह मेरी कृति व्यर्थ हो जाती क्योंकि उसके उदर में जगत् सहज नहीं है जगत् तो इस आपके स्वरूप में ही है। इसका निरूपण इस निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक----**अत्रैव मायाधमनावतारे ह्यस्य प्रपञ्चस्य बहिःस्फुटस्य ।**
कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे जनन्यामायात्वमेव प्रकटीकृतं ते ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ----हे मायानाशक ! इस ही अवतार में आपने बाहिर प्रकट, इस समग्र जगत् को, अपनी माता को, अपने उदर में दिखला कर यह सिद्ध कर दिखाया है कि यह प्रपञ्च मायिक नहीं है।

सुबोधिनी—हे मायाधमन मायानिवारक, अनेन मायासम्बन्धो भगवति निराकृतः, अस्य प्रपञ्चस्य बहिःस्फुटस्य कृत्स्नस्याप्यन्तर्जठरे ते जनन्यामायात्वमेव प्रकटीकृतं, "अथो अमुष्ये" तिवाक्यात्, अतः सत्यप्रपञ्चाधारत्वाद् भवानेव नारायणः ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ—हे माया निवारक ! हे माया को मिटाने वाले ! इस विशेषण से यह बताया कि भगवान् के साथ माया का सम्बन्ध मात्र नहीं है। बाहर प्रकट इस समग्र प्रपञ्च को अपने उदर में माता को दिखाकर प्रपञ्च मायिक नहीं है यह* प्रमाणित कर दिखाया है। इससे सत्य प्रपञ्च के आप ही आधार होने से आप ही नारायण हो ॥ १६ ॥

आभास—ननु विश्वाधारो नारायण एव पुरुषस्तस्मिन् विश्वप्रतीतेरतोहं प्रपञ्चमध्ये स्थितः सूक्ष्मो नारायणो न भवामीति चेत् तत्राह यस्येति ।

---

* १०-८-४० के उत्तरार्द्धानुसार।

१—अर्थ। २—सर्व जीव समूह।

आभासार्थ--वही पुरुष नारायण है जो विश्व का आधार है उसमें ही विश्व दिखता है। इस कारण से प्रपञ्च के मध्य में स्थित, मैं सूक्ष्म नारायण नहीं हो सकता हूं इस शंका निवारणर्थ निम्न श्लोक कहते हैं।

श्लोक--**यस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्मं भाति यथा तथा ।**
तत् त्वय्यपीह तत् सर्वं किमिदं मायया विना ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ--जिस नारायण की कोख[1] में आत्मा सहित यह सर्व प्रपञ्च जिस प्रकार भासता है उसी प्रकार वह सर्व प्रपञ्च आप में भी भास रहा है। क्या यह माया के बिना दीखता है ?

सुबोधिनी--यस्य नारायणस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्ममात्मसहितं भाति तथा त्वय्यपीह भाति, अतो विशेषाभावाद् भवानपि नारायणः, यस्तु भेदः परिच्छेदोन्यथाप्रतीतिरेतत् सर्वं किं मायया विना ? अपि तु तव व्यामोहिकया शक्त्या माययैवं भासते भवान् परिच्छन्न आधेयो नारायणाद् भिन्न इति, अतः पुरुषस्य नारायणपक्षेपि भवान् नारायण ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थ--जिस नारायण के उदर में आत्मा सहित सर्व प्रपञ्च जिस प्रकार भासता है वैसे ही आप में भी यहाँ ही भास रहा है। अतः उसमें कुछ भी विशेषता न होने से आप भी नारायण हो। यदि आप कहो कि मुझ में तो भेद, परिच्छेद[2] और अन्यथा प्रतीति देखने में आती है तो मैं नारायण कैसे हो सकूंगा इसके उत्तर में कहते हैं कि यह सब अन्यथा प्रतीति माया के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। माया ही अन्यथा प्रतीति करा रही है वास्तव में तो पुरुष पक्ष से भी आप नारायण ही हो ॥ १७ ॥

आभास--किञ्च नारायणः पुरुषोत्तमः स एव सर्वं न त्वन्यो नारायणो भवतीति चेत् तत्राहाद्यैवेति।

आभासार्थ--नारायण, पुरुषोत्तम, सब कुछ वही है अन्य कोई भी नारायण हो नहीं सकता है। ऐसी शङ्का का निवारण करने के लिये निम्न श्लोक कहते हैं।

श्लोक--**अद्यैव त्वदृतेस्य किं मम न ते मायात्वमादर्शित-**
मेकोसि प्रथमं ततो व्रजसुहृद्वत्साः समस्ता अपि ।
तावन्तोसि चतुर्भुजास्तदखिलैः साकं मयोपासिता-
स्तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते ॥ १८ ॥

१--उदर। २--सीमा, अवधि।

श्लोकार्थ—आपके बिना अन्य समस्त जगत् का रूप मायिक रूप है। क्या यह आपने मुझे अभी नहीं दिखाया ? प्रथम तो आप एक ही थे पश्चात् ग्वाल-बाल और वत्सरूप हो गए। पुनः वे सब रूप चतुर्भुज बन गए। अनन्तर देखा तो मेरे सहित सब तत्त्व और वत्सों की सेवा कर रहे हैं। इसके पश्चात् देखो तो उतने ही ब्रह्माण्ड रूप बन गए। इसलिये परिच्छेद[1] रहित अद्वैत ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है। अर्थात् आप उस परब्रह्म से पृथक् नहीं हो, जो अवशेष रहता है वह आप ही हो।

सुबोधिनी—अद्यैव ते त्वया त्वदृतेस्य प्रपञ्चस्य भिन्नतया सत्त्वं नास्तीति ज्ञापयितुं मायात्वमादर्शितं, ये हि भिन्नतया जगद् भगवदव्यतिरिक्तमस्तीत्याहुस्तेद्यैव भ्रान्ताः कृता यतः सर्वं त्वमेवेति, तदुपपादयत्येकोसि प्रथमं यदा मया वत्सा अपहृता बालाश्च ततो व्रजस्य सम्बन्धिनः सुहृदो बाला वत्साश्च ततः समस्ता अपि सर्वब्रह्माण्डरूपस्ततः क्षणानन्तरं तावन्तोपि भगवत्स्वरूपाश्चतुर्भुजा दृष्टास्तत्राप्यखिलैर्ब्रह्माण्डैस्तत्रत्यैर्वा मया चोपासितास्तावन्त्येव जगन्ति त्वमेवाभूः, अतःकारणाद ब्रह्माद्वयमेव शिष्यते, न त्वन्यः पदार्थो विचार्यमाणः सिध्यति, तस्माद् भवानेव नारायण इति समर्थितम् ॥१८॥

व्याख्यार्थ—आज ही आपने मुझे यह दिखा दिया कि मेरे बिना अन्य सर्व प्रपञ्च का पृथक् अस्तित्व नहीं है। जो पृथक्ता दीखती है वह मायापना है। जो जगत् को भगवान् के अतिरिक्त अन्य भिन्न पदार्थ मानते हैं वे आज ही भ्रान्त[2] हैं ऐसा आज ही आपने मुझे समझा दिया। मैंने समझ लिया कि जो कुछ है वह आप ही हो। किस प्रकार आप हो वह प्रतिपादन[3] करते हैं। आप एक हैं। पहले, जब मैं बछड़े और बालकों को चुरा ले गया, तब आप एक ही थे। उसके अनन्तर, वह एक ही आप, व्रज के सम्बन्धी मित्र, बालक और वत्सरूप बन गए। पश्चात् फिर आप ब्रह्माण्ड रूप हो गए। क्षणानन्तर वे सब चतुर्भुज स्वरूप से दर्शन देने लगे। दर्शन के पश्चात् देखा तो ब्रह्माण्ड में रहे हुए मेरे सहित सब उन चतुर्भुज स्वरूपों की सेवा कर रहे हैं। इतने जगत् आप ही हो गए। अतः विचार करने पर यही समझ में आया कि जगत् आदि पृथक् कुछ नहीं है एक अद्वितीय ब्रह्म ही शेष है। इससे निश्चय है कि आप ही नारायण हो। इस श्लोक में ब्रह्मा नें इस बात का समर्थन[3] किया कि नारायण श्रीकृष्ण के बिना दूसरा नहीं है ॥ १८ ॥

आभास—अतः परं भवान् स्वाम्यहं सेवक इति सकृदपराधः सेवकस्य भर्त्रा सोढव्य इति वक्तुं सर्ववस्तूनां तत्त्वमाहाजानतामित्यादिदशभिः ।

आभासार्थ—अभी से आप स्वामी मैं सेवक हूँ इससे स्वामी को सेवक का अपराध एकवार सहन करना चाहिये। यों कहने के लिये इस श्लोक से दश श्लोकों में सर्व वस्तुओं का तत्त्व कहते हैं।

१—सीमा, अवधि। २—भूले हुए। ३—सिद्ध।

श्लोक--अजानतां त्वत्पदवीमनात्मन्यात्मात्मना भाति वितत्य मायाम् ।
सृष्टाविवाहं जगतो विधत्न इव त्वमेषोन्त इव त्रिनेत्रः ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ--आपके स्वरूप को न जानने वालों को जैसे सृष्टि-कर्ता ब्रह्मा है, स्थिति-कर्ता विष्णु है एवं संहार-कर्ता यह शंकर है ऐसा भासता है वैसे अनात्म देहादिकों में भी माया के विस्तार से आत्मरूप भासता है ।

सुबोधिनी--त्वत्पदवीमजानतामेतदग्रे वक्ष्यमाणं सर्वं तत्त्वं न तु त्वत्पदवीं जानते, एवमपि तेन तत्त्वेन न तेषां निस्तारो भ्रमतत्त्वभावात्, किन्तु तेषामपि तव पादाम्बुजानुग्रहलेशादेव मुख्यतत्त्वप्राप्तिर्न तु भावित्वेन, भ्रान्ते निरीश्वरसाङ्ख्यादिपरिकल्पिते न काचित् सिद्धिरिति, तत्र तेषां प्रथमं भ्रममाहानात्मनीति, अनात्मनि देहादावात्मात्मना देह आत्मेन्द्रियेणात्मना कृत्वा भाति, नन्वनात्मनि कथं कर्तृत्वं करणत्वं चेत्याशङ्क्याह वितत्य मायामिति, मायां वितत्य विस्तारयित्वानात्मन्येवात्मबुद्धिं सम्पादयति, तत्र दृष्टान्तो यथा सृष्टावहं ब्रह्मा ब्रह्मा हि देहो न हि स कर्ता भवति, जगत्कर्तृत्वं भगवत एवेति जगतो विधाने स्थापने त्वमिव यथा गुणावतारो विष्णुः पालकत्वं च भगवत एवेति विष्णुरपि चतुर्भुजादिरूप इति त्वमिवेत्युक्तं, एष त्रिनेत्रः, अत एवेदानीं महादेवोप्यागत इति ज्ञायते, नाप्ययमन्तकर्ता, "जन्माद्यस्ये" तिन्याय उत्पत्तिस्थितिलया भगवतः सकाशादेवेत्युक्तं, अतो यथोत्पत्तिस्थितिप्रलयकर्तारो वयं कल्पिता एवं देहोप्यात्मा, इन्द्रियाणि च करणाण्यात्मा, अहमन्यथा पश्यामीति सामानाधिकरण्यप्रतीतिर्नोपपद्येत ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थ--जो जन, आपकी महिमा[1] को नहीं जानते हैं, वे अब जो कहा जाएगा, उसको 'तत्त्व' समझते हैं । ऐसा जानने पर भी, उस तत्त्व से उनका निस्तार[2] नहीं होगा । कारण कि वह (तत्त्व) भ्रम के कारण, तत्त्व समझा जाता है । उनको भविष्य में निरीश्वर सांख्यादि मतो के कल्पित तत्त्वों के ज्ञान से किसी प्रकार की सिद्धि न होगी । सिद्धि तो तब होगी, जब आपके चरण कमल के अनुग्रह का कण उनको प्राप्त होगा, जिससे मुख्य तत्त्व की प्राप्ति होती है* ।

उनको (जो भगवान् की महिमा को नहीं जानते हैं एवं मुख्य तत्त्व को न जान कर भ्रम से अतत्त्व को 'तत्त्व' मानते हैं । जो पहले भ्रम होता है उसको कहते हैं । जो वस्तु आत्मा नहीं है उसको अनात्मा कहा जाता है जैसे कि देहादिक अनात्मा है किन्तु देहादि भी इन्द्रियों के कारण आत्मा रूप से भासमान होते हैं । अनात्म रूप देह, इन्द्रियादिको में कर्त्तापन तथा करण पन कैसे भासता है ? माया के फैलाव से, अनात्म में, आत्म बुद्धि हो जाती है । इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं । जैसे सृष्टि कार्य में, मैं, ब्रह्मा कर्ता माना जाता हूँ, वास्तविक तो ब्रह्मा कर्त्ता नहीं है क्योंकि ब्रह्मा तो देह है जगत् का कर्त्तापन तो भगवान् का है । जगत् के पालन में पालनकर्त्ता

---

* यहां तक जो कहा गया है वह दश श्लोकों में कहे हुए तत्त्व का तात्पर्य है ।

१--माहात्म्य । २--कल्याण ।

गुणावतार 'विष्णु' को कहते हैं, किन्तु वह भी देह है। यद्यपि विष्णु, आपके समान चतुर्भुज है, तो भी वास्तविक पालनकर्ता वह नहीं है किन्तु भगवान् ही है, इसी प्रकार यह महादेव भी (श्लोक में 'ऐष' [यह] शब्द कह कर यह बताया है कि जब ब्रह्मा यों स्तुति कर रहे थे उस समय महादेवजी भी पधार गए थे) प्रलयकर्ता नहीं है। इसमें, व्यास सूत्र ' जन्माद्यस्य यतः ' प्रमाण देते हैं कि व्यासजी ने इस सूत्र में सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकर्ता, एक ही पर-ब्रह्म स्वरूप को माना जाता है। अतः जैसे हम (ब्रह्मा, विष्णु और शङ्कर) में उत्पत्ति स्थिति[1] और प्रलय के कर्तापन की कल्पना मात्र है, इसी प्रकार देह, आत्मा है, इन्द्रियाँ करण[2] रूप भी आत्मा है (यह भी कल्पना मात्र है) किन्तु देह और इन्द्रियाँ दोनों को आत्मा न माने तो " मैं देखता हूँ " इस प्रकार (इन्द्रिय और आत्मा दोनों में) एक प्रकार का रहा हुआ अनुभव नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ ज्ञान के करण[2] है इसलिये वे देख सकती है। तो भी " मैं देखता हूँ " इस प्रकार का अनुभव आत्मा को होता है। वह इसलिए होता है कि इन्द्रियों को भी आत्मा माना गया है ॥ १९ ॥

आभास—नन्वेवं भ्रमेसति कथं निस्तार इति चेतू तत्रह सुरेष्विति ।

आभासार्थ—जो इस प्रकार भ्रम होता हैं तो निस्तार[3] कैसे होगा ? इस शंका के निवारण[4] के लिए निम्न श्लोक कहते हैं।

श्लोक—**सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि तिर्यक्षु यादस्स्वपि तेजनस्य ।**
जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय प्रभो विधातः सदनुग्रहाय च ॥ २० ॥

श्लोकार्थ—हे ईश ! हे प्रभो ! हे सृजन कर्ता ! अजन्मा आपके, देवताओं, पक्षिओं और जलचर जन्तुओं में जन्म होते हैं वे दुष्टों का दुर्मद नाश करने तथा सत्पुरुषों का अनुग्रह करने के लिये होते हैं।

सुबोधिनी—नन्वेवं भ्रान्तानां स्वरूपस्वतत्त्वपरिज्ञापनाय, सुरेषु देवेषु वामनरूपेण, ऋषिषु परशुरामरूपेण तथा नृषु रामरूपेण, तिर्यक्षु वराहरूपेण, यादःसु मत्स्यकूर्मरूपेणाजनोपि जन्म कृतवान्, अन्यथा तत्त्वं को वा जानीयात् को वोपदिशेत् ? अतस्तव जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय सदनुग्रहायच, दुष्टनिग्रहे तदुपद्रवस्तदावेशेन बुद्धिनाशश्च निराकृतो भवति ॥ २० ॥

व्याख्यार्थ—भ्रान्तों को अपने स्वरूप तथा तत्व के परिज्ञान कराने के लिए ही, अजन्मा होते हुए भी सर्वरूपों से अपने वामन रूप से ऋषियों में, राम रूप से मनुष्यों में, वराह रूप से

१—पालन। २—साधन। ३—उद्धार। ४—मिटाने।

पशुओं में, मत्स्य तथा कूर्म रूप से जल जन्तुओं में जन्म लिए हैं। यदि आप इस प्रकार, जन्म न लेते, तो आपका तत्त्व कौन जान सकते थे और कौन आपके स्वरूपादि का उपदेश दे सकते थे अतः आपका जन्म असत्पुरुषों के दुर्मद को नाश करने के लिए तथा सत्पुरुषों पर अनुग्रहार्थ है। दुष्टों के निग्रह से होने वाले उपद्रव तथा उन (दुष्टों) के आवेश से होने वाला बुद्धि का नाश दोनों दूर हो जाते हैं ॥ २० ॥

आभास—ननु तद् व्यतिरेकेणापि वेदादिना कथं न तत्त्वपरिज्ञानं ? तत्राह को वेत्तीति।

आभासार्थ—उन (अवतारों के धारण) के अतिरिक्त भी वेदादि से तत्व का परिज्ञान क्यों न कर लेते हैं ? इस प्रकार की शंका का निवारण निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मञ् योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम् ।
क्वाहो कथं वा कति वा कदेति विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम् ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ—हे भूमन् ! हे भगवन् ! हे परमात्मन् ! हे योगेश्वर ! आप जो योगमाया को फैलाकर क्रीडाएँ करते हो आपकी उन लीलाओं को त्रिलोकी में कौन जान सकता है ? कि कहाँ, किस प्रकार से, कितनी और कब होती है।

सुबोधिनी—ननु तदतत्त्वं भवान् भवल्लीला च, तत् को वा जानाति ? वेदस्तु व्याख्यात्रभावान् मूकवन् नार्थं समर्पयति, भूमन्निति, व्यापकत्वादेकदेशे स्थितो न जानातीत्युक्तं, भगवन्निति, षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नत्वादि-गुणयुक्तः कथं जानीयात् ? न हि पामरा विदुषस्तत्त्वं जानन्त्यनीशो वेश्वरस्याविरक्तो वा विरक्तस्य, परात्म-न्निति, परमात्मनस्तत्त्वं न हि जीवो जानाति, योगेश्वरेति, न हि स्वच्छन्दतेर्बद्धो जानाति, किञ्च सापि लीला क्व वा जायते ? अहो आश्चर्ये, न हि मत्स्यादिरूपे ज्ञानप्रकाश उचितः, कथं वा जायते ? न हि भगवतो लीलासमुद्रे प्रस्तरणादिरूपा कस्यचिद् बुद्धिगम्या भवति, कति वा लीलाप्रकारा भवन्ति कदा वा भवन्तीति न कोपि वेद, तत्र हेतुर्विस्तारयन् क्रीडसि योगमायामिति, यदि मायामविस्तारयन् क्रीडेत् तदा लोको जानीयादपि, अत-स्त्वत्स्वरूपं त्वमेव जानासीति तत्त्वोपदेशार्थं तवा-वतारः ॥ २१ ॥

व्याख्यार्थ—आप तथा आपकी लीलाएँ ही तत्त्व है इसको कौन जान सकता है ? वेद स्वयं तो मूक[1] के समान अपना अर्थ नहीं बताता है उसकी व्याख्या करने वाले का भी अभाव है। श्लोक में 'कृष्ण' के लिए दिए हुए 'भूमन्' आदि विशेषणों का भाव बताते हैं कि—

१—हे भूमन ! आप सर्व व्यापक हो, अतः अल्पज्ञ जीव जिसकी स्थिति एक देश में है,

---

१—गूंगे।

वह आपको कैसे जान सकेगा ? अर्थात् जीव भी आपको तथा आपकी लीला को नहीं जान सकता है ।

२–हे भगवन् ! ऐश्वर्यादि षड्गुण आप में है, जीव में कोई भाग नहीं है वह ईशादि गुणों से रहित है अतः आपको कैसे जानेगा । मूर्ख विद्वान के तत्व को नहीं जान सकते हैं । जो ईश नहीं है, वे ईश्वर के तत्त्व को नहीं जान सकते हैं । जो वैराग्यवान् नहीं है वे वैराग्यवालों के तत्त्व को नहीं जान सकते हैं ।

३–हे परात्मन् ! पर आत्मा का तत्व, आत्मा (जीव) नहीं जान सकता है ।

४–हे योगेश्वर ! योगेश्वर स्वच्छन्द[1] गति वाले होते हैं अर्थात् मुक्त बन्धन होते हैं जहाँ इच्छा हो वहाँ जावें, जो चाहें सो करें ऐसे योगेश्वर को बन्धन में पड़ा हुआ (जीव) कैसे जान सकेगा ? अर्थात् नहीं जानेगा । और वह लीला कहाँ व कैसे होती है ? 'अहो' शब्द से कहते हैं कि लीलाएँ आश्चर्य मय हैं, जैसे कि मत्स्य आदि रूपों में ज्ञान का प्रकाश, जो, उन रूपों में होना असम्भव हैं ? कारण कि लीला रूप समुद्र में शय्या आदि पदार्थ, किसी की भी बुद्धि में नहीं आ सकते हैं । लीला के कितने प्रकार होते हैं और वे कब होते हैं उनको कोई नहीं जान सकता है । क्यों नहीं जाने जाते हैं, उसमें कारण बताते हैं कि, आप जो जो क्रीड़ा जब जब करते हो और जहाँ जहाँ जैसे करते हो, तब अपनी योगमाया का विस्तार कर, करते हो, जिससे कोई नहीं समझ सकता है । यदि योगमाया को, न फैलाकर, क्रीड़ा करो, तो लोक समझ भी सके ! इस कारण से आपके स्वरूप को आप ही जानते हो । अतः दूसरों को तत्त्व का उपदेश करने के लिए ही आपके अवतार हैं ।

आभास––एवं देहाद्यात्मभावं भवानू दूरीकरतीत्युक्त्वा प्रपञ्चेपि योयं भ्रमः प्रपञ्च मिथ्यात्वं भिन्न तथापि सत्यत्वं सोपि निवर्तत इत्याति दिशति तस्मादितो ।

आभासार्थ—उपरोक्त श्लोक के अनुसार आप देहादिकों में, जो हम लोगों का आत्म-भाव है, उसको दूर करते हो[2] यों कह कर अब प्रपञ्च में, प्रपञ्च का मिथ्यापन तथा भिन्न होते हुए भी सत्यपन, इस प्रकार के भ्रम को भी, आप मिटाते हो यह निम्न श्लोक द्वारा कहते हैं ।

श्लोक––**तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम् ।**
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति ॥२२॥

१—स्वतन्त्र, आजाद । २—मिटाते हो ।

श्लोकार्थ—इसलिए, यह असत् स्वरूप, स्वप्न सदृश, बुद्धि[1] रहित और अत्यन्त दुःखदायी जगत् आपकी माया[2] से उत्पन्न होने पर भी नित्य आनन्द और ज्ञान स्वरूप अनन्त आप में सत् सदृश भासमान होता है।

सुबोधिनी—सतां बहिर्मुखानामिव स्वरूपं यस्य सन्मार्गप्रतिबन्धकं, अत्र ममतायां भगवद्वैमुख्यं भवतीति स्वरूपतोप्यनित्यमुदयास्तमितप्रायं, तदाह स्वप्नाभमिति, स्वप्नस्येवाभा यस्य, किञ्च ज्ञानप्रतिबन्धकं चैतत्, यतोस्ता गता धिषणा यस्मात्, किञ्च क्लेशरूपं च, पुरुदुःखादपि दुःखं यस्मात्, एतादृशमपि त्वय्येव सदिवावभाति त्वन्निमित्तं यथा सन् नारदादिस्तथा घटादिरपि भाति भगवत्सेवासाधकत्वात्, तत्र हेतुर्नित्यसुखबोधतनावनन्त इति, उदयास्तमितत्वं नित्यस्य भगवतः सम्बन्धान् नित्यमिवाभाति, पुरुदुःखदुःखमपि सुखात्मकमाभाति, अस्तधिषणमपि बोधात्मकमाभाति, अनित्यमप्यनन्त आभातं नित्यमिव भासते, भ्रमाहप्युद्गतं देहात्मज्ञानं सेवौपयिकत्वात् सदिवावभाति, अतः सर्वमेव जगत् त्वत्सम्बन्धे सति समीचीनं, अन्यथा विपरितमिति जगतस्तत्त्वम् ॥२२॥

व्याख्यार्थ—यह समग्र जगत् असत् स्वरूप है, कारण कि दुष्ट बहिर्मुखों के समान सन्मार्ग में प्रतिबन्धक[3] है। जैसे दुष्ट, सन्मार्ग से प्रेम को हटाकर, असन्मार्ग में ममता कराते हैं वैसे ही प्रपञ्च भी, पुत्रादिकों में ममता उत्पन्न करा के भगवान् से विमुख कराता है। स्वरूप से भी प्रपञ्च अनित्य है, जो वह उदय और अस्त होता रहता है। इसका अनित्यपन, स्वप्न सदृशता बताकर सिद्ध किया है। और बुद्धि अस्त हो जाने से ज्ञान में भी प्रतिबन्धक है। अत्यन्त दुःख से भी विशेष दुःख रूप होने से क्लेश[4] रूप है। इस प्रकार का प्रपञ्च है, तो भी आप से सम्बन्ध होने से सत् जैसा भासता है। आपके कारण (सम्बन्ध) से जैसे नारद आदि सत् हैं वैसे घट आदि भी सत् भासते हैं क्योंकि घट आदि भी आपकी सेवा में आने से उनका भी सम्बन्ध आप से हो जाता है। नित्य सुख रूप, ज्ञान स्वरूप और अनन्त स्वरूप आप हो। आप नित्य हो, अतः आपके सम्बन्ध से प्रपञ्च की अनित्यता, नष्ट जैसी हो जाती है आप सुख रूप हो अतः आपके सम्बन्ध से प्रपञ्च का दुःखपन भी नष्ट हो जाता है। आपके ज्ञान स्वरूप के सम्बन्ध से, प्रपञ्च की बुद्धि का उदयसा हो जाता है। आपके अनन्त स्वरूप के सम्बन्ध से प्रपञ्च भी नित्य के समान भासमान होता है। भ्रम से भी उत्पन्न देह में, आत्मा की बुद्धि (देह आत्मा है ऐसी समझ) भगवत्सेवा के उपयोग में आने से सत्य प्रतीत होती है। अतः समग्र जगत् आप से सम्बन्ध होने से उत्तम है (सत् है) सम्बन्ध न होने से निकृष्ट[5] है अर्थात् असत् है। इस प्रकार जगत् का तत्त्व है॥ २२॥

आभास—भगवतस्तत्त्वमाहैकस्त्वमात्मेति।

१—ज्ञान। २—इच्छा। ३—अन्तरहित।
३—रुकावट डालने वाला। ४—दुःख। ५—निन्दित वा अधम।

आभासार्थ—निम्न श्लोक में भगवत्तत्व समझाते हैं ।

श्लोक—**एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयञ्ज्योतिरनन्त आद्यः ।**
नित्योक्षरोजस्रसुखो निरञ्जनः पूर्णोद्वयो मुक्त उपाधितोमृतः ॥ २३ ॥

श्लोकार्थ—आप एक, आत्मा, पुरुष, सत्य, स्वयं प्रकाश, अनन्त, आद्य, नित्य, अक्षर, नित्य सुखरूप, अविद्या रहित, पूर्ण, अद्वितीय, उपाधि रहित और अलौकिक हो ।

सुबोधिनी—त्वमादावेक एव सजातीयविजातीय स्वगतभेदशून्यः, तत **आत्मा** त्रिविधो जीवरूपोन्तर्यामिरूपो विभूतिरूपश्च जातः, ततः **पुराणः पुरुषः** पुरुषोत्तमः अथवैको ब्रह्मवादे, **आत्मा** योगे, **पुरुषः** साङ्ख्ये, **पुराणो** वैष्णवे, **सत्यः** पाशुपते, सत् त्यदितिभेदे **सत्यो** जगद्रूपो वा, एवं पञ्चविधोपि **स्वयञ्ज्योतिः** स्वप्रकाशो **न** तु जडः, **अनन्तो**न्तशून्य उत्तरावधिरहितः, **आद्यः** पूर्वावधिरहितः, **नित्यः** सदैकरूपः, न तु वृद्धिक्षयवान् यथा समुद्रश्चन्द्रो वा, एवं प्रपञ्चरूपत्वे दोषचतुष्टयं निवार्य भगवतो रूपान्तराण्याहाक्षर इति, शब्दब्रह्माक्षररूपः प्रकृतिपुरुषकारणरूपो वा, तेन ज्ञानविषय उक्तः, तत्साध्यामोक्षरूपत्वमाहाजस्रसुखः इति नित्यसुखरूपः, तस्मिन्नपि सुखे प्राप्तदोषान् निवारयति निरन्तरसुखरूपमप्यज्ञानयुक्तं भवति यथा सुषुप्तिः तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **निरञ्जन** इति, **अञ्जनमविद्या** तद्रहितः, परिच्छेदोपि भवति तद्व्यावृत्यर्थमाह **पूर्ण** इति, तरतमराहित्यार्थमाहाद्वय इति, केनचिदुपाधिनैव भोक्तव्यमितिशङ्कां वारयति **मुक्त उपाधित** इति, यथा स्त्रीसुखं पुरुषेणैव **भोक्तव्यं** पुरुषसुखं स्त्रियैव तथा ब्रह्मानन्दानुभवे न कोप्युपाधिरपेक्षितः, किञ्च स्वरूपतोपि स ऋतोलौकिकः श्रुत्यैकसमधिगम्यो न तु लौकिकप्रमाणवेद्यः, अन्यथा पूर्वोक्तरूपो न स्यात्, एभिरेव **षोडश**विशेषणैर्देहाद् वैलक्षण्यमपि ज्ञातव्यं "षोडशकलोयं पुरुषः," देहस्तु बाल्यकौमारादिभेदेनानेको नापि व्यापको नाप्यात्मेत्यादि स्वयमूह्यं, एकादशेन्द्रियपञ्चमहाभूतेभ्यो वा वैलक्षण्यं ज्ञातव्यं, षोडशकलो वा नारायण एभिरुक्तः ॥२३॥

व्याख्यार्थ—प्रथम आदि में, आप एक ही सजातीय[1] विजातीय[2] और स्वगत[3] इन तीन प्रकार के भेदों से रहित थे ।

इसके अनन्तर आपने जीवनरूप, अन्तर्यामीरूप और विभूतिरूप तीन स्वरूप धारण किए ।

पश्चात् आप पुराण पुरुष हुए, अर्थात् 'पुरुषोत्तम' कहलाए । अथवा ब्रह्मवाद (वेदान्त) में आप एक हो । योगमार्ग में आपको 'आत्मा' कहते हैं । सांख्य मत में आप 'पुरुष' नाम से प्रसिद्ध हो । वैष्णव मत में आपको 'पुराण' कहते हैं । और पाशुपत मत में 'सत्य' कहे जाते हो। अथवा सद् और त्यद् इस भेद से आप 'सत्य' रूप वा जगत् हो ।

इस प्रकार पांचों प्रकारों की आप स्वयं ज्योति हो अर्थात् स्वतः प्रकाशक होने से जड़ नहीं हो ।

आप अनन्त होने के कारण अन्त रहित हो, आपकी कोई अन्तिम अवधि[4] नहीं हैं । आप आद्य होने से आपके आदि की कोई अवधि नहीं है ।

१—अपनी जाति से भेद । २—दूसरी जाति से भेद । ३—अपने में के भेद । ४—सीमा, हद्द ।

आप नित्य एक समान हो, समुद्र और चन्द्रमा के सदृश आप में क्षय वृद्धि नहीं है।

इस प्रकार प्रपञ्च रूप पने में प्रतीत होने वाले चारों दोषों का निवारण कर[1] 'अक्षर' नाम से भगवान् के दूसरे रूपों का वर्णन करते हैं।

'अक्षर' नाम से शब्द ब्रह्मरूप आप हो अथवा प्रकृति और पुरुष के कारण रूप हो। इससे आप ज्ञान का विषय हो अर्थात् आपका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

ज्ञान से प्राप्त करने योग्य मोक्ष का रूप आप हो इसलिये ही नित्य सुख रूप हो।

नित्य सुख रूप में भी, जो दोष होते हैं, उनको निवारण के लिये आप 'निरञ्जन' अर्थात् अविद्या रहित हो। नित्य सुख रूप 'सुषुप्ति' में भी अविद्या रहती है वह आप में नहीं है। प्रत्येक पदार्थ की सीमा होती हैं, आपकी किसी प्रकार की कोई भी सीमा नहीं है; इसको बताने के लिये आपको 'पूर्ण' कहा गया है।

कम और अधिकपन आप में नहीं है इसलिये आपको 'अद्वय' कहा है।

आपका ब्रह्मानन्द रूप सुख किसी भी उपाधि के बिना भोगा[2] जाता है इसलिये कहा है कि आप उपाधि से मुक्त हो अर्थात् आपके सुख भोग में किसी प्रकार की उपाधि नहीं है ब्रह्मातिरिक्त अन्य पदार्थों से जो सुख भोगा जाता है वह उपाधि से प्राप्त होता है। जैसे स्त्री का सुख पुरुष से ही भोगा जाता है और पुरुष का सुख स्त्री से ही भोगा जाता है। इसलिये वह सुख उपाधि से प्राप्त होता है।

आप स्वरूप से भी 'अलौकिक' हो, इसलिये आपका ज्ञान, श्रुतियों से होता है। लौकिक प्रमाणों से ज्ञात नहीं होता है यदि ऐसा न हो तो ऊपर कहा हुआ आपका रूप न हो।

इन उपरोक्त सोलह विशेषणों से आपकी देह से विलक्षणता भी सिद्ध हो गई है। जैसे कहा है कि 'षोड़श कलोऽयंपुरुषः' यह पुरुष सोलह कलाओं वाला[3] है। देह तो बाल्य, कौमार आदि अवस्था भेद से भिन्न-भिन्न रूप वाली होने से एक रस नहीं, अतः अनेक हैं व्यापक तथा आत्मा भी नहीं है। इन सब बातों को स्वतः समझ लेना अथवा उपरोक्त षोडश विशेषणों से आप पञ्च महाभत और एकादश इन्द्रियों से पृथक् एवं विलक्षण हो अथवा सोलह विशेषणों से यह सिद्ध किया है कि षोडश कला वाले नारायण आप हो ॥ २३ ॥

आभास—एवं भगवत्स्वरूपभुक्त्वैवंविधं ये वक्ष्यमाणप्रकारेणोपासते ते भ्रान्ता इत्याहैवंविधमिति पञ्चभिः, एवं।

आभासार्थ—भगवान् के स्वरूप का वर्णन किया, अब नीचे कही जायगी जो परिपाटी, तदनुसार जो उस स्वरूप की उपासना करते हैं, वे भ्रान्त[4] हैं। यह निम्न पाँच श्लोकों में कहते हैं।

१—मिटा कर। २—प्राप्त किया। ३—देह में इन षोड़श कलाओं में से कोई कला नहीं है—अनुवादक।
४—भूले हुए।

श्लोक--**एवंविधं त्वां सकलात्मनामपि स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते ।**
गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम् ॥ २४ ॥

श्लोकार्थ--समस्त जीवों के आत्मरूप आपको, जो लोग गुरु रूप सूर्य द्वारा प्राप्त उपनिषद् रूप सुन्दर नेत्रों से अपना ही रूप समझते हैं वे इस संसार रूप असत् समुद्र से मानो तर जाते हैं ।

सुबोधिनी—षोडशकलं **त्वां सकलात्मनामपि** सर्वजीवानामात्मानं देहरूपमात्मरूपं चात्मन एव स्वस्यैवात्मतयाहमेव भगवानिति ये **विचक्षते** पश्यन्ति तत्र विषयप्रबोधको गुरुरर्को ज्ञानकरणमुपनिषदेव **चक्षुः**, य एवमहमेव परं ब्रह्मेति जानन्ति **ते भवानृताम्बुधिं तरन्तीव** सर्वंब्रह्मेतिज्ञाने सर्वतरणं केवलमात्मन एव ब्रह्मत्वेन ज्ञाने यः संसारोनृतरूपः केवलं स्वमोहात् कल्पितोहम्ममात्मा स एवाम्बुधिस्तरणेशक्यः तादृशमपि **तरन्तीव** दोषाधारस्यानिवृत्तत्वात्, अन्तर्दोष एव निवृत्तो न तु देहेन्द्रियविषयाणां, अतोनृताम्बुधिस्तीर्णोप्यतीर्ण-**प्राय** इत्यर्थः ॥ २४ ॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार के (शोडश कलावाले) समग्र जीवों के आत्म (देह-वास स्थान) रूप तथा जीव रूप आपको अपना ही आत्मा समझते हैं, अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ, यों जो लोग समझते हैं । (वे मानों संसार समुद्र को पार कर गए हैं ऐसा जाना जाता है) जैसे सूर्य अन्धकार मिटा कर नेत्र को देखने का साधन ज्ञान (प्रकाश) देता है जिससे वह वस्तु को देख सकता है । वैसे ही गुरू रूप सूर्य ज्ञानार्थ उपनिषद् रूप नेत्र साधन के ढंग के देते हैं । जो लोग, मैं ही परब्रह्म हूँ, इस प्रकार समझते हैं, वे संसार रूप झूटे समुद्र को, मानो पार करते हैं । 'सर्व ब्रह्म' सब ब्रह्म है, इस प्रकार के ज्ञान होने से सब प्रकार से तरण होता है । केवल अपने को ही ब्रह्म समझने से, जो संसार (अहन्ता-ममता)अनृत[1] है वह केवल अपने मोह से उत्पन्न 'अहं और मम' रूप समुद्र ही पार किया हुआ प्रतीति मात्र देखने में आता है । वास्तविक वह भी, पूर्ण रीति से तरा नहीं गया है; क्योंकि दोष का आधार निवृत नहीं हुआ हैं । अन्तर का दोष ही निवृत हुआ है । देह इन्द्रियों के विषयों का विद्यमान दोष हैं । उन दोषों के नाश हुए बिना 'अहं मम' रूप अनृत समुद्र तरा हुआ भी न तरे हुए के समान ही है ।

आभास—ननु सर्वस्यैव तेन ज्ञानेन कथं न विलय ? तत्राहात्मानमेवेति ।

आभासार्थ—उस (मैं ही ब्रह्म हूँ) ज्ञान से सब (देह, इन्द्रिय विषय दोषों) का नाश होकर मोक्ष क्यों नहीं होता है ? इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक से करते हैं ।

१—झूठ ।

श्लोक—**आत्मानमेवात्मतया विजानतां तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम् ।**
ज्ञानेन भूयोपि च तत् प्रलीयते रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा ॥२५॥

श्लोकार्थ—जो लोग, अपने को ही आत्म (ब्रह्म) रूप समझते हैं, वे मानते हैं कि जैसे रज्जु में सर्प की, अज्ञान से उत्पत्ति और ज्ञान से नाश होता है, वैसे ही भ्रम से कल्पित, यह जगत् अज्ञान से उत्पन्न होता है। और ज्ञान से लय हो जाता है (शेष, मैं तो सर्वदा मुक्त ब्रह्म रूप ही हूं)।

सुबोधिनी—ते ह्यात्मानमेवात्मतया जानन्ति, अतस्तेनैव भ्रमाद् यावज् जातं निखिलमपि प्रपञ्चितं प्रपञ्चाकारेणात्मीयतया परिकल्पितं ज्ञानेन भूयोपि तदेव तावन्मात्रमेव लीयते न तु कृतिसाध्यं, तत्र दृष्टान्तो रज्ज्वामहेः कल्पितस्यैव सर्वस्य भोगस्य कायस्य भवाभवावुत्पत्तिनाशौ सर्पोयं सर्प इति स्वबुद्धिकल्पितस्यैव नाशो नान्यस्य जगतो भगवत्कृतस्य नापि स्वकृतस्य भ्रमात् सर्पदेहे रज्जुर्न पुनरावर्तते नायं सर्प इति ज्ञातेपि, अतो-ज्ञानकृतमेव निवर्तते नान्यदित्यहम्माभिमान एव गच्छति नान्यत् ॥ २५ ॥

व्याख्यार्थ—वे लोग अपने को ही ब्रह्म मानते हैं इससे ही वे मानते हैं, कि जो कुछ प्रपञ्च आकार से परिणत[1] है वह 'मैं हूँ' भ्रम से कल्पना की गई है। ज्ञान से वह कल्पित ही बारम्बार लय होता हैं। परन्तु जो प्रयत्न[2] से साध्य[3] होता है वह लय नहीं होता है। जैसे कि रज्जु में भ्रम से ही सर्प के देह की उत्पत्ति और नाश होता है अर्थात् पहले भ्रम से रज्जु को सर्प समझा जाता है पुनः ज्ञान होने पर समझा जाता है कि सर्प नहीं है (इस प्रकार सर्प का न होना (नाश) भी भ्रम ही है; क्योंकि सर्प था ही नहीं तो उसका नाश कैसे इसलिये यह सर्व (सर्प का होना और नाश) भ्रम मात्र है। शेष रज्जु में तो किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है। इस दृष्टान्त से यह समझना चाहिए कि अपनी भ्रमित बुद्धि से कल्पित पदार्थ का ही नाश होता है। दूसरे किसी भगवान् के बनाए हुए जगत् और अपने बनाए हुए पदार्थ का नाश नहीं होता है। भ्रम होने पर रज्जु सर्प नहीं बन जाती है और ज्ञान होने पर रज्जु का नाश भी नहीं होता है। उत्पत्ति और नाश तो केवल भ्रम से कल्पित सर्प देह का ही होता है इस प्रकार 'अहं-मम'[4] अभिमान जो अज्ञान रूप भ्रम से हुआ है वह नाश होता है दूसरा (जगत् आदि) कुछ भी नाश नहीं होता है।

श्लोक—**अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात् ।**
अजस्रचित्यामनि केवले परे विचार्यमाणे तरणाविवाहनी ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ—संसार में बद्ध होना और संसार से मुक्त होना ये दोनों अन्य कुछ नहीं हैं केवल अज्ञान ही है अर्थात् मैं ब्रह्म हू अथवा मुक्त हूं, यों समझना अज्ञान ही

१—माया हुआ। २—ज्ञान क्रिया। ३—प्राप्त। ४—मैं और मेरा।

है। सत्य वाणी (उपनिषद्) से प्राप्त, सत्य ज्ञान का स्वरूप ही मोक्ष है उसका अज्ञान ही बन्धन है। कारण विचार करने पर समझ में आ जाता है कि दिन और रात्रि जो सूर्य के द्वारा होती है वही सत्य है।

सुबोधिनी—किञ्च वस्तुतोस्य तदपि न निवर्तते मुक्तोहमिति ब्रह्माहमित्येतदप्यज्ञानकृतमेव, आत्माज्ञानादेवैवमपि जानाति, बन्धस्य तज्जनितत्वेन कार्यत्वाविशेषाज् ज्ञानमोक्षावप्यज्ञानकार्यमेव, न हि शयानः स्वप्न उत्थाय भोजनादिकमपि कुर्वन् वस्तुत उत्थितो भवति स्वप्नस्यानिवृत्तेः, तथा भगवच्छक्तेरज्ञानस्याप्यनिवृत्तेर्न तेषां परमार्थतो मोक्षोपि सम्भवति तत्र हेतुमाह **ऋतज्ञभावादिति**, मोक्षस्त्वृतज्ञानरूपः न त्वज्ञानजनितज्ञानरूपः, भगवज्ज्ञानशक्त्यैव मोक्ष इत्येकादशे वक्ष्यति, किञ्च **मोक्षो हि भगवति सायुज्यं**, स चाजस्रचिदात्मा नित्यचिदानन्दरूपः तत्राज्ञानकृतप्रपञ्चज्ञानयोरभावाज् जीवस्याज्ञानकृतज्ञानेन कथं प्रवेशः स्यात् ? तदाह **केवल** इति, किञ्च स तु **परो** नियामकः, न हि नियम्यैर्भगवदाज्ञाव्यतिरेकेण निकटे गन्तुं शक्यते, अतो जीवब्रह्मज्ञानिनो न मोक्षः, तत्रोपपत्तिं वदन् दृष्टान्तमाह **विचार्यमाणे तरणाविवाहनी** इति, सूर्ये विचार्यमाणे एव **अहनी** भवतो न तु स्वबुद्ध्या, अन्यथा निमीलिताक्षः स्वयमेव रात्रिं कुर्यात् प्रसारिताक्षश्च दिनं, अतः सूर्य एवागते दिनमपगते रात्रिरिति **केवलं खण्डाद्वैतवादिनो भ्रान्ता एव** ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ—यदि विचारा जाय तो 'मैं ब्रह्म हूँ' यो मानने वालों का 'अहं[1] मम'[2] यह अभिमान भी वास्तविक रीति से नष्ट नहीं होता है। क्योंकि "मैं मुक्त हूँ" "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार का उनका ज्ञान भी आत्मा के अज्ञान से ही उत्पन्न हुआ है। जैसे बन्ध अज्ञान का कार्य है वैसे "मैं ब्रह्म हूँ" यों समझना भी अज्ञान का कार्य है। दोनों का कारण (अज्ञान) समान होने से उनका ज्ञान तथा मोक्ष भी अज्ञान के ही कार्य है।

जैसे स्वप्न में, कोई पुरुष समझता है कि मैं उठकर भोजन कर रहा हूँ. वास्तविक रीति से, वह उठा ही नहीं है, भोजन करना तो दूर रहा, क्योंकि उसका स्वप्न मिटा नहीं है। वैसे ही भगवान् की अविद्या (अज्ञान) शक्ति भी अब तक उनकी मिटी नहीं है, इससे उनका परमार्थ रूप से मोक्ष का होना भी सम्भव नहीं है। कारण कि मोक्ष तो सत्यज्ञान रूप है, अज्ञान से उत्पन्न ज्ञान मोक्ष का रूप नहीं है। भगवान् की ज्ञान शक्ति से ही मोक्ष होता है। यह एकादश स्कन्ध में कहेंगे। और भगवान् में सायुज्य ही मोक्ष है। वह मोक्ष नित्य चिदानन्द रूप है। वहाँ जब, अज्ञान से उत्पन्न प्रपञ्च तथा ज्ञान दोनों का अभाव है, तब जीव अपने अज्ञान कृत ज्ञान से उसमें कैसे प्रविष्ट हो सकेगा ? अर्थात् उस चिदानन्द रूप को कैसे अपने में प्रकट कर सकेगा ? यह 'केवल' विशेषण देकर समझाया है और ब्रह्म तो 'पर' अर्थात् नियामक[3] है अतः नियामक की आज्ञा के बिना सेवक उसके पास नहीं जा सकता है। अतः जीव स्वरूप को, जो ब्रह्म मानकर अपने को मुक्त समझते हैं उनका मोक्ष नहीं होता है। इसको दृष्टान्त द्वारा हेतु दे कर सिद्ध करते हैं। जैसे जब सूर्य उदय होने का विचार करता है और उदय होता है, तब

१—मैं। २—मेरा। ३—कर्णधार, आज्ञा देने वाला।

दिन होता है एवं जब अस्त होने का विचार कर अस्त होता है तब रात्रि होती है न कि मनुष्य अपनी बुद्धि से दिन वा रात्रि कर सकता है। किसी के चक्षु बन्द करने से रात्रि नहीं होती है और न आँख खोलने से दिन होता है। दिन रात्रि तो सूर्य के द्वारा ही होते हैं केवल खण्ड अद्वैतवादी भ्रान्त ही है।

आभास--किञ्च ये स्वात्मब्रह्मविचारकाः सर्वसङ्गं परित्यज्य देशान्तरे गत आत्मा प्राप्तव्य इति परित्यागं कुर्वन्ति तेतिभ्रान्ता इत्याहत्वमात्मान मिति।

आभासार्थ—और जो अपने आत्मरूप ब्रह्म का विचार करने वाले सर्व सङ्ग त्याग कर, देशान्तर में जाकर आत्मा प्राप्त करने योग्य है, ऐसा मानते हैं वे अति भ्रान्त हैं। यह इस निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक--**त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च।**
आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य अहोज्ञजनताज्ञता॥ २७॥

श्लोकार्थ---आत्म स्वरूप आप (कृष्ण) को पृथक् समझ और भगवद्रूप को आत्मा मानकर उनको बाहिर प्राप्त करने योग्य समझते हैं। अहो ! अज्ञानियों को कितना अज्ञान है।

सुबोधिनी—त्वं कृष्णः सर्वात्मा सर्वरूपस्तादृशं त्वां भिन्नं मत्वा नाहं सर्वः किन्तु विलक्षण इति परं च भगवद्रूपमेव ज्ञानप्रकाश्य आत्मा भगवद्विभूतिरूपो भावनया स्फुरितो व्यापकत्वादिधर्मः साङ्ख्यादिस्मृति-सिद्धस्तमात्मानं मत्वा, स तु न जीवरूपः कदाचिदपि न हि घटः पर्वतो भवति, अतः परमात्मा पुनर्बहिर्गत्वा सन्न्यासं गृहीत्वा मृग्य इत्यहो अज्ञानां भ्रान्तजनानां भ्रमपरम्परा ! कथमेते प्रमाणमप्यविचार्य भ्रान्ता भवन्तीत्याश्चर्यम् ! एवं खण्डभावयुक्तानां "यदा ह्येवैष एतास्मिन्नु दरमन्तरं कुरुतेथ तस्य भयं भवती" तिश्रुत्युक्तं तेषां भयं निरूप्य ये पुनरिहैवान्तःकरणे भगवच्चिन्तका अन्तर्यामिणमितरपरित्यागेन भावयन्ति ते कृतार्थाः॥ २७॥

व्याख्यार्थ—आप (कृष्ण) सबकी आत्मा हो और सर्वरूप हो ऐसे आपको पृथक् समझ कर, अपने को मैं सर्व नहीं हूं किन्तु विलक्षण हूं ऐसा मानकर वे भगवद्रूप को ही ज्ञान से प्रकाशित होने वाला आत्मा भगवान् का विभूति रूप, भगवान् से स्फुरित होने वाले व्यापकत्व आदि धर्मवाले साङ्ख्य आदि स्मृतिओं से सिद्ध आत्मा को मानते हैं। वह (आत्मा) तो कभी भी जीव* रूप नहीं होता है जैसे घड़ा पर्वत नहीं होता है। अतः बाहिर जाकर सन्यास लेके परमात्मा को ढूंढना

---

* जीव कभी भी इस (अविद्याग्रस्त) रूप में वह आत्मा नहीं हो सकता है जैसे घड़ा घड़े के रूप में हो तो पर्वत नहीं कहा जा सकता है—**अनुवादक**।

चाहिये इस प्रकार की अज्ञानियों के (भ्रान्त जनों के) भ्रम की परम्परा आश्चर्य कारक है; किस प्रकार ये प्रमाण का भी विचार न कर भ्रान्त हो जाते हैं; यह अचम्भा है। इस प्रकार खण्ड भाव वाले अद्वैतवादियों का 'जब ही निश्चय से जो जीव इस परमात्मा में थोड़ा भी भेदभाव करता है उसको भय होता है। इस प्रकार श्रुति में कहा हुआ भय बताकर कहते हैं कि जो फिर यहाँ ही अन्त:करण में भगवान् का चिन्तन करते हैं अन्य का परित्याग कर अन्तर्यामि की भावना करते हैं वे कृतार्थ होते हैं ॥ २७ ॥

आभास----एगत्र लब्धपदं चित्तमन्यदपि प्राप्स्यतीत्याहान्तर्भव इति अन्तर्भवतीति।

आभासार्थ—एक में चित्त की स्थिरता होने से दूसरे की भी प्राप्ति हो सकती है। यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**अन्तर्भवेनन्त भवन्तमेव ह्यतत् त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः ।**
असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण सन्तं गुणं तं किमयन्ति सन्तः ॥ २८ ॥

श्लोकार्थ---हे अनन्त ! जिन साधनों से भगवान् का चिन्तन[1] नहीं हो सकता है उनको छोड़े तब ही सत्पुरुष अपने हृदयाकाश में स्थित आपको वहाँ ही ढूंढ़ने से पा सकते हैं। जैसे झूठा सर्प समीप न हो तो भी जब तक उस झूठे सर्प के भ्रम को त्यागा नहीं जाता है तब तक समीप स्थित सत्य रज्जू का स्वरूप जानने में नहीं आता है।

सुबोधिनी—अन्तर्भवो हृदयाकाशस्तस्मिन्, हे अनन्त देशकालवस्तुपरिच्छेदरहित, तत्रापि विद्यमानं भवन्तमेव ये मृगयन्ति ते सन्तो भवन्ति, अन्वेषणे प्रकारमाहातत् त्यजन्त इति, न तद् यत्र येषु साधनेषु भगवच्चिन्तनं सम्यङ् न भवति तदतत् त्यजन्तो विरुद्ध-साधनपरित्यागेन निरन्तरं भगवच्चिन्तका: सन्त इत्युक्तं भवति, किञ्च भ्रमबुद्धिमपि त्यक्त्वा भगवच्चिन्तनं कर्तव्यमिति दृष्टान्तेनाहासन्तमपीति, अविद्यमानमनप्यंहि सर्पमन्तरेण तद्व्यतिरेकेणान्ति निकटे सन्तं गुणं रज्जुं किमयन्ति जानन्ति ? अन्तरशब्दो नानार्थः सोत्रापरि-त्यागवाची, भ्रमप्रतिपन्नं विषयमपरित्यज्य वस्तुस्वरूप-चिन्तनं न सम्भवति, अतो मूलभ्रमप्रतिपन्नं देहात्मभावं व्यामोहकशास्त्रप्रतिपन्नं च भावं परित्यज्य हृदये विद्यमानो भगवान् भावनीयः, पुनः सन्त इतिपदं ते तथैव भावयन्तीतिप्रमाणकथनार्थम् ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थ—हे अनन्त ! आपको अनन्त इसलिए कहा जाता है कि आप देश, काल, एवं किसी वस्तु के परिच्छेद[2] से रहित होने से अन्तरहित हो। अर्थात् सब में आप विराजमान हो। आप भीतर रहने वाले हृदयाकाश में भी रहते हो अत: जो सत्पुरुष हैं वे आपको उस (हृदयाकाश)

१—प्राप्ति। २—सीमा।

में ही ढूंढते हैं। किस प्रकार ढूंढते हैं ? वह प्रकार बताते हैं कि जिन साधनों से भगवान् का चिन्तन[1] नहीं हो सकता है, प्रथम, उन विरुद्ध साधनों का परित्याग करते हैं एवं भ्रम का भी त्याग कर पश्चात् हृदयाकाश में चिन्तन करते हैं। इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं। 'अन्तर' शब्द के बहुत अर्थ हैं किन्तु यहां 'अन्तर' शब्द का अर्थ 'अपरित्याग'[2] है। भ्रम से समझ में आए हुए विषय का परित्याग किए बिना सत्य वस्तु का ज्ञान नहीं होता है। जैसे भ्रम से उत्पन्न सर्प, झूठा होते हुए भी, रज्जु के बदले में सर्प समझा जाता है। उस भ्रम को जब तक मिटाया नहीं जाएगा तब तक रज्जु का सच्चा स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसलिए मूल भ्रम से प्राप्त देह में, आत्म भाव को तथा मोह में डालने वाले शास्त्रों के भावों को छोड़ कर, हृदय में विद्यमान भगवान् की ही भावना करनी चाहिए अर्थात् उनका ही चिन्तन आदि करना चाहिए। 'सन्तः' शब्द दूसरी बार भी श्लोक में इसलिए दिया है कि वे (सन्त) इसी प्रकार (हृदयाकाश में) भगवान् की भावना (चिन्तन) करते हैं।

आभास---यद्यप्येवम्भावनान्तःकरण उचिता तथापि भजनमार्गव्यतिरेकेण तच्छास्त्रव्यतिरेकेण च भगवन्माहात्म्यं न परिज्ञातं भवतीति केवलचिन्तनं तथा नोपयोगाय भगवदाविर्भावं सम्पादयति नापि प्रपञ्चनिवृत्तिमित्याहाथापीति।

आभासार्थ—यद्यपि (जो कि) अन्तःकरण में इस प्रकार भगवान् की भावना करनी योग्य है तो भी जब तक भक्ति मार्ग और भक्ति मार्ग के शास्त्रों से भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान पूर्णतया प्राप्त नहीं किया जाता है तब तक केवल अन्तःकरण में भावना करने से भगवान् का प्रादुर्भाव[3] नहीं होता है और प्रपञ्च भी नाश नहीं होता है। यह निम्न श्लोक से कहते हैं।

श्लोक---अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोपि चिरं विचिन्वन् ॥२९॥

श्लोकार्थ----हे देव ! यद्यपि अन्तःकरण से भावना करनी योग्य है तथापि जब आपके चरणारविन्द युगल की स्वल्प भी कृपा प्राप्त हो जाय तब आपकी महिमा का तत्वज्ञान होता है। आपकी कृपा बिना बहुत काल तक चिन्तन करता रहे तो भी आपकी महिमा के तत्व को कोई नहीं जान सकता है।

सुबोधिनी—हे देव ते पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशेनैवानुगृहीतो भगवन्महिम्नस्तत्त्वं जानाति बहूनां मध्य एकोपि चिरमपि विचिन्वन्नन्यो न जानाति ॥ २९ ॥

१—प्राप्ति। २—त्याग किए या छोड़े बिना। ३—प्रकट दर्शन।

व्याख्यार्थ—हे देव ! आपके युगल चरणारविन्द की लेशमात्र कृपा से अनुगृहीत जीव ही भगवान् की महिमा के तत्त्व को जान सकता है। उसके बिना अन्य, जो कोई बहुत समय तक चिन्तन करता रहे, तो भी नहीं जान सकता है ॥ २९ ॥

आभास----तस्मादावश्यकत्वाल् लाघवाच्च भगवन्मार्गेणैव भगवान् सेव्यो नान्य इतिशास्त्रार्थान् मम भगवद्भक्तेषु जन्मास्त्विति प्रार्थयते तदस्तु मे नाथेति ।

आभासार्थ—अब निम्न श्लोक में ब्रह्माजी प्रार्थना करते हैं कि भगवान् की भक्ति करना आवश्यक कर्त्तव्य है और वह भक्ति मार्ग सरल भी है, अतः भक्ति मार्ग के अनुसार भगवान् की ही सेवा करनी चाहिये, दूसरे की किसी की नहीं करनी चाहिये। यही शास्त्रों का तात्पर्य है। इसलिये मेरा जन्म भगवान् के भक्तों में हो।

श्लोक—**तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो भवोत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम् ।**
येनाहमेकोपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम् ॥ ३० ॥

श्लोकार्थ----हे नाथ ! यहाँ अथवा दूसरे स्थल में पशु पक्षियों में भी मेरा जन्म तब भाग्यशाली होगा, जब आपके सेवकों में, मैं भी एक सेवक होकर आपके चरणारविन्द की सेवा करूँगा।

सुबोधिनी—हे नाथ, भक्तिमार्गानुसारेण सम्बोधनं, स भूरिभागो भवो मेस्तु, अत्र गोकुलेन्यत्र वा, किं बहुना ? तिरश्चामपि मध्ये, येन भवेन जन्मनाहमपि भवज्जनानां मध्य एको भूत्वा तव पादपल्लवं निषेवे, अन्यथा विजातीयैः सह भक्ता भजनं न कुर्वन्ति ॥३०॥

व्याख्यार्थ—हे नाथ ! यह सम्बोधन (अर्थात् नाथ कह कर पुकारना भक्ति मार्ग की प्रणाली है) भक्ति मार्ग के अनुसार है। मेरा जन्म विशेष भाग्यशाली वह हो। यहाँ गोकुल में अथवा दूसरे स्थान पर हो। बहुत क्या कहूँ ? मेरा साधारण प्राणियों (पशु पक्षियों) में भी उसी प्रकार का जन्म हो जैसे मैं भी आपके सेवकों में एक सेवक होकर आपके चरण कमल की सेवा करूँ। यदि आपके सेवकों में जन्म न होगा तो आपकी सेवा न हो सकेगी। क्योंकि विजातीयों (अभक्तों) के साथ भगवान् का भजन, भक्त नहीं कर सकते हैं।

आभास----एवं स्वप्रार्थनामुक्त्वा गोकुलवासिनां भाग्यमभिनन्दत्यहो इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार ब्रह्माजी प्रार्थना कर, गोकुलवासियों के भाग्य का अभिनन्दन[1] निम्न श्लोक में करते हैं।

१—प्रशंसा ।

श्लोक--**अहोतिधन्या व्रजगोरमण्यः स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा ।**
यासां विभो वत्सतरात्मजात्मना यत्तृप्तयेद्यापि न चालमध्वराः ॥ ३१ ॥

श्लोकार्थ----अहो ! व्रज की गौएँ और गोपियाँ बड़ी भाग्यशाली हैं क्योंकि जिनको तृप्त करने के लिए, यज्ञ भी आज तक सामर्थ्य वाले नहीं हुए हैं, उन (आप) ने, स्वयं बछड़ों और पुत्रों का रूपधारण कर, जिनका दुग्ध रूप अमृत बहुत ही प्रेम पूर्वक पान किया ।

सुबोधिनी—व्रजे स्थिता गावो रमण्यश्च धन्याः, यतस्ते त्वया स्तन्यामृतं पीतमत्यर्थं सन्तोषपूर्वकं च, तत्र प्रकारमाह, यासां गोरमणीनां वत्सतरात्मनात्मजात्मना च, विभो सर्वभवनसमर्थ, कथमेतावता भाग्यमित्याशङ्क्याह यत्तृप्तय इति, यस्य भगवतस्तृप्तयेद्यापि अध्वरा यागा नालं न समर्थाः ॥३१॥

व्याख्यार्थ--व्रज में रहने वाली गौएँ तथा स्त्रियाँ धन्य है । कारण कि, आपने, उनका स्तन्य (दूध) रूपी अमृत, अत्यन्त सन्तोष के साथ (तृप्ति पर्यन्त) पिया । किस प्रकार पिया वह बताते हैं कि आप विभु, सर्व समर्थ हो, अतः आपने बछड़ों तथा पुत्रों का रूप धारण कर, गौ और गोपियों का दूध पीया । मैंने दूध पीया, इससे वे धन्य[1] क्यों हुई ? इसलिए श्लोक के चौथे पाद में कहते हैं कि ये विशेष भाग्यशाली इसीलिए हुई हैं, कि आज तक भी यज्ञों ने, आपको वैसा तृप्त नहीं किया है, जैसा कि दूध पिला कर इन्होंने तृप्त किया है ।

आभास--किञ्च न केवलमेतावन्मात्रमेव किन्त्वन्यदपि करोतीत्याहाहोभाग्यमिति ।

आभासार्थ—भगवान् ने केवल इतना ही नहीं किया, किन्तु इससे भी विशेष करते हैं । वह निम्न श्लोक में बताते हैं ।

श्लोक--**अहोभाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।**
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥ ३२ ॥

श्लोकार्थ--नन्दजी, गोपों और व्रजवासियों के बड़े भाग्य हैं, बडे भाग्य है, क्योंकि परमानन्द, पूर्ण सनातन साक्षात् परब्रह्म जिनके मित्र हैं ।

सुबोधिनी—पूर्वकाण्डस्याप्रयोजकता स्वतः स्तनपानेनैव कृता, उत्तरकाण्डस्याप्यप्रयोजकतां कृतवानित्युच्यते यद् ब्रह्म मित्रमिति, ब्रह्म हि सर्वसमं मित्रं हि विषमं हिताचरणादहितादिदूरीकरणाच्च, भगवांस्तु ब्रह्मापि संस्तेषां मित्रं जातस्तत्प्रतिपक्षान् हन्ति तांश्च सर्वतः परिपालयतीति, अहोभाग्यमहोभाग्यमितिवीप्सया पुनःपुनर्भाग्यस्मरणं ज्ञापयति, नन्दगोपस्य व्रजे ये तिष्ठन्ति तेषां सर्वेषामेव, अथवादौ नन्दस्य भाग्याभिनन्दनं ततो

१—भाग्यशाली ।

गोपानां ततो व्रजौकसामितिक्रमोपपत्तिः स्पष्टैव, किञ्च नोपकारेणैव तेषां कृतार्थता किन्तु स्वयमानन्दरूपः फलात्मा स्वरूपानुभवं कारयति, तदाह परमानन्दं पूर्णं सनातनमिति, अनित्यपरिच्छेदरहितो ह्यानन्दः फलमिति ॥ ३२ ॥

व्याख्यार्थ—पूर्व काण्ड में कहे हुए, यज्ञादि कर्म करने से जो फल मिलता हैं, वह भगवान् ने स्तन पान करके दे दिया अतः इनको यज्ञ आदि करने की आवश्यकता न रही। इस प्रकार पूर्व काण्ड की निष्फलता बताई। अब इनके मित्र बने, जिससे उत्तर काण्ड (ज्ञान काण्ड) की भी निष्फलता सिद्ध की। कारण कि यों तो ब्रह्म सर्व के लिये समान हैं किन्तु यहाँ आप मित्र बन कर कर्त्ता हुए, शत्रुओं का नाश किया और चारों ओर से रक्षक बने एवं अहित (शत्रु दुःख) आदि को मिटाने वाले होकर विषम (पक्षपाती) भी बने। अतः ब्रह्माजी दो वार धन्य ! धन्य ! कहकर उनके भाग्य की सराहना करते हैं अथवा क्रमशः प्रत्येक के नन्द, गोप और अन्य व्रज में रहने वालों के भाग्य का अभिनन्दन करते हैं। वे अभिनन्दन करने के योग्य हैं यह स्पष्ट देखने में आता है। भगवान् ने शत्रु नाश कर दुःखों को मिटाया और रक्षक बने इन उपकारों से नन्दादि व्रजवासी वास्तव में कृतार्थ नहीं हुए, किन्तु जो नित्य और असीम आनन्दरूप फल है वह स्वयं पूर्ण परमानन्द सनातन रूप फलात्मा, अपने स्वरूप का उनको अनुभव कराते हैं जिससे वे भाग्यशाली और कृतार्थ हुए हैं।

आभास---एवामधिभौतिकस्य जन्मप्रार्थनेन तेषां भाग्याभिनन्दनेन च भगवान् स्तुतः इदानीमाध्यात्मिकरूपस्य स्वस्यैवाभिनन्दनेन स्तौत्येषामिति।

आभासार्थ—इस प्रकार ब्रह्मा ने ३० श्लोक में भगवान् को यह प्रार्थना की कि मेरा आधिभौतिक जन्म भक्त का हो और ३१ वें तथा ३२ वें श्लोक में व्रज भूमिस्थ भगवद्भक्तों को धन्य धन्य कह कर उनकी श्लाघा[1] की तथा भगवांन् की स्तुति भी की। अब ब्रह्माजी इस निम्न श्लोक में अपने ही आध्यात्मिक स्वरूप का स्वयं अभिनन्दन कर प्रभु की स्तुति करते हैं।

श्लोक----एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्तामेकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः ।
एतद्धषीकचषकैरसकृत् पिबामः शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते ॥३३॥

श्लोकार्थ—हे अच्युत ! इन व्रजवासियों के भाग्य की महिमा तो अपूर्व है ही। परन्तु शंकर आदि एकादश हम भी महाभाग्यशाली हैं क्योंकि इन व्रजवासियों के इन्द्रिय रूप पात्रों से, आपके चरणारविंद के मकरन्द रूप मधुर आसव[2] का वारंवार पान करते हैं।

१—प्रशंसा। २—रस।

सुबोधिनी —तुशब्दः पूर्वापेक्षयाप्याधिक्यकथनार्थः, एषां भाग्यस्य महिमा तावदास्तां ततः पूर्वमेतदेव निरूपयिष्यामः, एतन्निरूपणे तु ततस्त्रयोदशगुणमेषां भाग्यमर्थादेवोक्तं भविष्यति, वयमेतेषां गोकुलवासिनामिन्द्रियाधिष्ठातृदेवा एकादश "दिग्वातार्कप्रचेतोश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रका" श्चन्द्रश्चेति, केचिदन्तःकरणचतुष्टयस्य भिन्नं भिन्नमाहुस्तदा चतुर्दश त्रयोदश वा भवन्ति, सर्वानात्मतया गृहीत्वा वदति वयमिति, बतेति हर्षे, भूरि भाग्यमेषां, यद्येते गोकुलवासिनो नोत्पन्ना भवेयुस्तदास्माकमधिष्ठातृता विफलैव स्यात्, भाग्ये निदानमाहैतद्धृषीकचषकैरिन्द्रियपानपात्रैरसकृद् वारंवारमङ्घ्रियुगजमध्वमृतासवं शर्वादयो महादेवसहिता वयं पिबामः, अङ्घ्रेरवोदजं कमलं तत्र मध्वेव मकरन्द एवामृतासवं मिष्टं देहादिविस्मारकं च, रोमाञ्चः स्वेदश्च दशमकार्यं, अन्येषामुपयोगः स्पष्ट एव, पुंसामपि बालककन्योत्पादनादिद्वारा मित्रकौ परित्यज्य शर्वादय एकादशैव वा ॥३३॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में 'तु' शब्द पूर्व से भी, गोकुलस्थों का अधिक भाग्य है, यह बताने के लिए दिया है। इन (गोकुलवासियों) के भाग्य की महिमा जो पूर्व में कही गई है उसको तो रहने दो, अर्थात् वह अन्य समय में, फिर कभी कहेंगे, उससे पूर्व यह ही निरूपण करेंगे। यह जो अब निरूपण किया जाएगा उसमें इन व्रजवासियों का पूर्व (हम) से भी १३ गुणा* विशेष भाग्य है यह कहा जायगा। हम इन गोकुलवासियों के इन्द्रियों के अधिष्ठाता देव ११ हैं।

१–कान की-दिशाएँ, २–त्वचा[1] की-वायु, ३–आँख का-सूर्य, ४–जिह्वा का-वरुण, ५–नासिका का अश्विनी कुमार, ६–वाणी का-अग्नि, ७–हस्त का-इन्द्र, ८–पाद का-उपेन्द्र, ९–उपस्थ का-ब्रह्मा, १०–वायु का-मित्र, ११–मन का-चन्द्रमा है) कितने ही कहते हैं कि अन्तःकरण चतुष्टय के भिन्न-भिन्न देवता हैं यों मानने से चौदह वा तेरह होते हैं। सब देवों को अपना रूप ही समझ कर ब्रह्माजी कहते हैं कि 'हम' बड़े भाग्यशाली हैं यों कहकर 'बत' शब्द से हर्ष प्रकट करते हैं। और कहते हैं कि यदि ये गोकुलवासी उत्पन्न न होते तो हमारा अधिष्ठातापन व्यर्थ हो जाता। इनके जन्म से हमारा अधिष्ठातापन सफल हुआ है, कारण कि महादेवादि सहित हमने भी इनके इन्द्रिय रूप पात्रों द्वारा बार बार आपके चरणारविन्द के मकरन्द रूप मधुर आसव, जो मिष्ट तथा देहादि का विस्मारक है उसका पान किया है रोमाञ्च[2] और स्वेद[3] होना ये दोनों ही दशम (मित्र) के कार्य हैं, दूसरों का कार्य स्पष्ट ही है। जैसे पुरुषों के लिङ्ग इन्द्रिय के देव का उपयोग, बाल एवं बालिका उत्पन्न करने में होता है। दो मित्र देवो के अतिरिक्त शेष शंकर प्रभृति देव भाग्यशाली हैं।

आभास—एवं गोकुलवासिनां भाग्यमभिनन्द्य वृन्दावनबृहद्वनादिष्वपि ये वृक्षा-

---

* हम एक एक इन्द्रिय के अधिष्ठाता होने से एक ही इन्द्रिय से आपके चरणारविन्द मकरन्द के मधुर आसव का पान करते हैं। व्रजवासी तेरह इन्द्रियों से पान करने के कारण महाभाग्यशाली हैं।

१—चाम, चमड़ी। २—रोम (रुवांटे) खड़े होने। ३—पसीना।

दयोपि जाता लतागुल्मादयश्च कीटादयो वा तेषामपि भाग्यमभिनन्दति तद् भूरिभाग्यमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार गोकुलवासियों के भाग्य की प्रशंसा कर, अब निम्न श्लोक में वृन्दावन अथवा बृहद्वन आदि वनों में जिन्होंने वृक्ष, लता, गुल्म और कीट आदि रूप से जन्म लिया है उनका अभिनन्दन[1] करते हैं ।

श्लोक–तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद् गोकुलेपि कतमाङ्घ्रिरजोभिषेकम् ।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवाननन्तस्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥३४॥

श्लोकार्थ––यहाँ, वन में अथवा गोकुल में किसी प्रकार का भी जन्म हो, तो बड़ा भाग्य हैं । क्योंकि यहां गोकुलवासियों के चरण रज का अभिषेक सदा ही होता रहेगा जिन गोकुलवासियों का सम्पूर्ण जीवन भगवान् अनन्त ही है । आज तक भी, जिनके पद की रज को, श्रुतियां ढूँढ रही हैं ।

सुबोधिनी—तदेव जन्म भूरिभाग्यमधिकभाग्ययुक्तं, इह वृन्दावने गोकुले वा किमप्यप्रयोजकमपि जन्म, तत्र हेतुः कतमस्य परब्रह्मणोङ्घ्रिरजसामभिषेको यत्र, कतमस्य गोकुलवासिनो वा यस्यकस्यचित्, येषामुत्पन्नानां गोकुलवासिनां वा निखिलमपि जीवितं स्वार्थं परार्थ-मैहिकपारलौकिकार्थं च सर्वमेव भगवाननन्तः, अनन्तपदेन ब्रह्मवादप्रकारो व्यावर्तितः, किन्तु विशेषप्रकारेण रजसां माहात्म्यमाहाद्यापि यस्य भगवतः पदरजः श्रुतिमृग्यमेव, श्रुतयो हि भगवत्पदान्वेषणपरा ब्रह्म भगवत्पदं ज्ञात्वा "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" "तद् विष्णोः परमं पद" मित्या-दिभिर्ब्रह्म प्रशंसन्ति, रजःप्राप्तौ तु कृतार्थाः सत्यो न पुनर्बोधयेयुः प्रयोजनाभावात् ॥ ३४ ॥

व्याख्यार्थ—इस वृदावन वा गोकुल में, उपयोग में आने वाला किसी प्रकार का भी देह जिसको प्राप्त हो, तो वह अधिक भाग्यशाली है, कारण कि उस देह पर भगवान् के चरणारविन्द की रज का और जिस किसी भगवद्भक्त गोकुलवासियों के चरणारविन्द की रज का अभिषेक होता रहेगा । वहां उत्पन्न हुए गोकुलवासियों का, 'सम्पूर्ण सर्व प्रकार का लौकिक पारलौकिक स्वार्थ युक्त परोपकार युक्त' जीवन धन भगवान् अनन्त ही है । 'अनन्त'विशेषण से यह बताया कि यहां ब्रह्मवाद प्रकार नहीं है, किन्तु विशेष प्रकार से, चरणारविन्द की रज का ही माहात्म्य वर्णन है । जैसा कि, आज तक भी, जिस भगवान् के चरणारविन्द की रज को श्रुतियाँ ढूंढ रही है । श्रुति ही भगवान् के चरणारविन्द के ढूंढने में तत्पर संलग्न है । भगवान् के चरणारविन्द को 'ब्रह्म* प्रच्छं प्रतिष्ठा', 'तद्‡ विष्णों परमं पदम्' इत्यादि प्रमाणों से ब्रह्म रूप समझकर उनकी

---

* ब्रह्म (अक्षर ब्रह्म) अनन्त विष्णु का पुच्छ (अन्तिम भाग) और निवासस्थान है ।

‡ ब्रह्म (अक्षर ब्रह्म) विष्णु का परम पद है ।

१—प्रशंसा ।

प्रशंसा करते हैं। यदि केवल रज की प्राप्ति से ही वे कृतार्थ हो जाती तो फिर प्रयोजन न होने से, भगवान् को जानने का प्रयत्न न करती।

आभास--तेषां फलमेतदेव न भवति, सेवायाः क्रियमाणत्वात्, अतस्तत्फलं कथं नाभिनन्द्यत इत्याशङ्क्य तत् फलं न ज्ञायत एवेत्याहैषामिति।

आभासार्थ—उन (गोकुलवासियों) का यह (भगवान के चरणों की रज) ही फल नहीं है, कारण कि वे सेवा भी कर रही हैं, अतः वह फल, जो सेवा से प्राप्त होता है उसका अभिनन्दन[1] क्यों नहीं करते हो ? इस शंका को मिटाने के लिए निम्न श्लोक में कहते हैं कि उस फल को मैं नहीं जानता हूँ।

श्लोक--**एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति नश्चेतो।**
विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति ॥
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवपिता।
ये धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥ ३५ ॥

श्लोकार्थ----हे देव ! आप इन व्रजवासियों को कौनसा फल देओगे इसका विचार करते हुए मेरा चित्त सब स्थानों में ढूँढते हुए भी यही देखता है कि आपके बिना अन्य कोई उत्तम फल है ही नहीं, जो आप इनको दो। इससे मैं मोहित हो रहा हूँ। हे देव ! पूतना केवल सत्स्त्री (यशोदाजी) का वेष धारण कर आपके पास आई, उसको भी आपने कुल (बकासुर-अघासुर दोनों भ्राताओं) सहित मुक्ति दी तो जिन्होंने घर, धन, मित्र, प्रिय पदार्थ, देह, पुत्र, प्राण और अन्तःकरण आदि सब आपके लिए ही रखे हैं उनको कौनसा फल दोगे।

सुबोधिनी—एतेभ्यो घोषनिवासिभ्य एतत्सेवासाध्यमेतत्सम्बन्धि हे देव त्वं किं राता ? किं दास्यसीति नोस्माकं चित्तं त्वत्तोन्यत् फलं कुत्रापि ब्रह्माण्डे सकलेप्ययद् गच्छन् विमुह्यति, यतस्त्वमेव विश्वस्यैव फलं परमानन्दस्त्वतोन्यत् कथं फलं भविष्यति ? तर्ह्यात्मानमेव दास्यामीति चेत् तत्राह, सद्वेषादिवेति, सतो यशोदाया वेषाद् वेषं प्राप्य वेषाद्धेतोर्वा पूतना सकुला भ्रातृसहितापि त्वामेवापिता प्रापिता, अर्थात् त्वयैव, देवेतिसम्बोधनं पूज्यार्थं, ये पुनस्त्वदर्थमेव धाम गृहमर्थो धनं सुहृदो मित्राणि प्रियाः प्रीतिविषयाः पदार्था आत्मा देहस्तनयाः पुत्राः प्राणा इन्द्रियाणि आशयोन्तःकरणमेतत् सर्वं केवलं त्वत्कृते त्वदर्थम् ॥ ३५ ॥

१—प्रशंसा, बखान।

व्याख्यार्थ—हे देव ! इन व्रजवासियों की सेवा से साध्य[1] जो देव आप हो वह आप, इन सेवा करने वालों को कौनसा फल दोगे ? इसके लिए हमारा चित्त कहीं भी समग्र ब्रह्माण्ड में जाते हुए क्या आपके अतिरिक्त दूसरा कोई फल है ? इसमें मोहित होता है। कारण कि आप ही समग्र विश्व के परमानन्द रूप फल हो। आपके बिना दूसरा कोई भी कैसे फल बनेगा। यदि आप कहो कि मैं अपने को ही देदूँगा। इस पर ब्रह्माजी कहते हैं कि केवल यशोदाजी के वेश को धारण करने से पूतना ने भी कुल (दोनों भ्राताओं) के साथ आपको प्राप्त किया, अर्थात् आपने अपने को पूतना को प्राप्त कराया देव सम्बोधन, पूज्य भाव दिखाने के लिए किया गया है जो (वृजवासी) फिर आपके लिए ही घर, धन, मित्र, प्रिय पदार्थ देह, पुत्र प्राण, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण आदि यह सर्व रख रहे हैं उनको आप क्या दोगे ?

आभास---नन्वेतेषां संस्कारो जीवतामेव निवर्तनीयः पूतना तु मारितेति संसार-निवृत्ति दास्यामीति चेत् तत्राह तावदिति ।

आभासार्थ—इस निम्न श्लोक में ब्रह्माजी कहते हैं कि यदि यह शङ्का होती हो कि भगवान् ने पूतना को मारकर मोक्ष दिया किन्तु इनको तो जीते जी ही इनका संसार नाश कर जीवन मुक्ति फल देंगे, ऐसा भी नहीं है ।

श्लोक---तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम् ।
तावन् मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः ॥ ३६ ॥

श्लोकार्थ---हे कृष्ण ! रागादिक तब तक चोर का काम करते हैं, घर तब तक कारागृह[2] है मोह, भी तब तक पैरों की बेड़ी है; जब तक मनुष्य आपके (सेवक) नहीं हुए हैं ।

सुबोधिनी—गृहादिषु रागादयस्तावदेव स्तेना विवेकधैर्यापहारकास्तावदेव गृहमपि कारागृहं बन्धन-स्थानं तावदेव पुत्रादिषु मोहोऽङ्घ्रिनिगडः पादशृङ्खला यावत् कृष्ण न ते जनास्त्वत्सेवका न भवन्ति, त्वत्सेवकानां त्वेतानि त्रीण्यपि सात्त्विकादीनि सेवोपयिकानीति शास्त्रतोऽभिलाषितान्येव ॥ ३६ ॥

व्याख्यार्थ—हे कृष्ण ! जब तक मनुष्य आपके सेवक नहीं हुए हैं तब तक गृहादिकों में रागादिक विवेक धैर्यादिकों के चोर बने रहते हैं और तब तक ही घर भी कारागृह[2] है और पुत्रादिकों का मोह पैरों की बेड़ी है सेवकों के तो ये उपरोक्त रागादिक पुत्र और गृह आदि सब सात्विक हो जाते हैं जिससे वे सेवा के उपयोग में ही आते हैं। इसलिये शास्त्रों की आज्ञा से

१—प्राप्त । २—जेलखाना ।

भी ये पदार्थ सेवकों को अभिलषित है अर्थात् चाहिये क्योंकि इनके बिना सेवा नहीं हो सकती है ॥३६॥

आभास----नन्वेत् सर्वं साक्षात्स्वरूपे युक्तं न तु कृत्रिम इत्याशङ्क्याह प्रपञ्चमिति।

आभासार्थ—यह उपरोक्त कहना सत्य है किन्तु उनका उपयोग कृत्रिम[1] स्वरूप में न कर साक्षात् स्वरूप में होना चाहिये। इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक कह कर करते हैं।

श्लोक **प्रपञ्चं निष्प्रपंचोपि विडम्बयसि भूतले।**
प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रभो ॥ ३७ ॥

श्लोकार्थ----हे प्रभो ! शरणागत जीवों में आनन्द सन्दोह[2] फैलाने के लिये आप निष्प्रपञ्च हो, तो भी पृथ्वी पर, प्रपञ्च के समान अनुकरण करते हो।

सुबोधिनी—निष्प्रपञ्चोपित्वं प्रपञ्चं विडम्बयसि प्रापञ्चिकेपि चेष्टां करोषि, तत्र हेतुः **प्रपन्ना** य जनता तस्या **आनन्दसन्दोहमानन्दसमूहं प्रथितुं** स्थूलं कर्तुं, ननु विपरीतरूपेण कथं तदधिकं भविष्यतीत्याशङ्क्याह **प्रभो** इति, सर्वप्रकारेणापि सर्वसमर्थः ॥ ३७ ॥

व्याख्यार्थ—आप निष्प्रपञ्च[3] होकर भी प्रपञ्ची के समान चेष्टा[4] करते हो। इस प्रकार (प्रपञ्च के समान) चेष्टा क्यों करते हो ? उसका कारण यह है कि आपको जगत् में शरणागत जनों के आनन्द समूह को बढाना है। आप अलौकिक, निष्प्रपञ्च हो, अतः आपके कृत्रिम प्रपञ्ची रूप से आनन्द कैसे बढेगा ? इस शंका के मिटाने के लिये श्लोक में 'प्रभु' शब्द विशेषण देकर समझाया है कि आप सर्व समर्थ होने से किसी भी रूप से अपनी इच्छानुसार आनन्द बढाने में सर्वथा समर्थ हो इसलिए प्रपन्चवत् अनुकरण करके भी आनन्द समूह को बढ़ा सकते हो।

आभास——ननु ज्ञानेनाप्यानन्दप्रथनसम्भवात्, किमिति प्रपञ्चं विडम्बयतीत्याशङ्क्याह जानन्त इति।

आभासार्थ—ज्ञान से भी आनन्द बढ सकता है तो फिर भगवान् प्रपञ्च का अनुसरण क्यों करते हैं इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक से करते हैं।

श्लोक——**जानन्त एव जानन्तु किं बहूक्त्या न मे प्रभो।**
मनसो वपुषो वाचो वैभवं तव गोचरः ॥ ३८ ॥

१—बनावटी। २—समूह। ३—बिना प्रपञ्च वाला। ४—इच्छा, प्रयत्न।

श्लोकार्थ—हे प्रभो ! आपको जो जानते हैं वे भले ही जाने, मैं अधिक क्या कहूँ, मेरे मन, वचन और शरीर से आपकी महिमा नहीं जानने में आती है ।

सुबोधिनी—ये जानन्तो भवन्ति त एव जानन्तु वस्तुतो ज्ञानं स्वप्नप्रबोधरूपं, अतो भ्रान्ता एव ते, ननु तथा सति तन्मतं दूषणीयमिति चेत् तत्राह किं बहूक्त्येति, बहूक्त्या किं प्रयोजनम् ? अल्पेनैव तु दूष्यते, न हि मत्तः कश्चिन् महानस्ति वेदगर्भोहं मम तु मनसो वपुषो वाचोपि वैभवं न गोचरो ज्ञातुं शक्यं, न देहकृत्या परिच्छेत्तुं शक्यं, स हि सर्वं करोति तथा भगवद्वैभवमपि कृत्वा प्रदर्शयिष्यतीतिशङ्कयोक्तं वचसां विषयो न भवत्येव तथा चेतसोपि ॥ ३८ ॥

व्याख्यार्थ—जो जानने वाले होते हैं वे भले ही जाने । वास्तविक, ज्ञान[1] भी, केवल स्वप्न से जगाने के समान नहीं है । अतः वे जो कहते हैं, कि हमने जान लिया वे भ्रान्त हैं । यदि यों है तो उस मत के दोष, प्रकट कहने चाहिए । इसके उत्तर में ब्रह्माजी कहते हैं, कि बहुत कहने से क्या लाभ है ? थोड़े से ही, वह मत दूषित हो जाता है, जैसे कि मुझ से, कोई महान् नहीं है, क्योंकि मैं वेद गर्भ हूँ, अर्थात् मेरे भीतर वेद रहते हैं यों कहने का तात्पर्य यह है, कि वेद में जो ज्ञान का वर्णन है वह सब मैं जानता हूँ, ऐसा भी मैं, अपने मन, शरीर तथा वाणी से भी आपकी महिमा को समझ नहीं सकता हूँ । मेरी देह की कृति से आपका परिच्छेद[2] नहीं हो सकता है । यदि कहा जाय कि, जैसे ब्रह्माजी सब बताते हैं वैसे ही भगवान् की महिमा का भी वर्णन कर सकेंगे, तो इसके उत्तर में कहते हैं कि मेरे मन और वाणी को भी आपकी महिमा जानने की सामर्थ्य नहीं है ।

आभास—एवं स्तुत्वा गमनं प्रार्थयति बालकानामानयनार्थमनुजानीहीति ।

आभासार्थ—इस प्रकार ब्रह्माजी स्तुति कर; बालकों को ले आने के लिए जाने की प्रार्थना करते हैं ।

श्लोक—**अनुजानीहि मां कृष्ण सर्वं त्वं वेत्सि सर्ववित् ।**
त्वमेव जगतां नाथो जगदेतत् तवार्पितम् ॥ ३९ ॥

श्लोकार्थ—हे कृष्ण ! मुझे जाने की आज्ञा दो । आप सब जानते हो, क्योंकि सर्वज्ञ हो । आप ही जगत् के स्वामी हो । आपका ही यह जगत् है । जिसे सम्हालने के लिए मुझे आपने ही दिया है ।

१—जानना । २—सीमा, हद्द ।

सुबोधिनी—गन्तुमनुज्ञां प्रयच्छ, कृष्णेतिसम्बोधनं स्वस्य च प्रेमख्यापनार्थं, प्रेषणेपराधाभावे वा न किञ्चिन् मया वक्तव्यं यतस्त्वमेव सर्वं वेत्सि यतः सर्ववित, तत्र गतस्य स्वातन्त्र्यशङ्का न कर्तव्या, यतस्त्वमेव जगतां नाथः, अतोधिकारस्थित्यर्थं प्रेषय, एतज् जगत् तवैव त्वयैव चार्पितं मयि स्थापितं, अतः प्रेषणमुचितमेव ॥ ३९ ॥

व्याख्यार्थ—हे कृष्ण ! मुझे जाने की आज्ञा दो । ब्रह्मा ने भगवान् को 'कृष्ण' नाम देकर अपना प्रेम प्रकट किया है । जाने की आज्ञा के विषय में अथवा मेरे अपराध के विषय में, मैं कुछ नहीं कहूँगा, क्योंकि सब कुछ आप सर्वज्ञ होने से जानते ही हो । मैं वहां (ब्रह्म लोक में बालकों को लाने के लिए) जाकर स्वतन्त्र होकर बैठ जाऊँगा इस प्रकार की शंका भी नहीं करनी, कारण कि, सकल जगतों के स्वामी आप ही हो । अतः केवल अधिकारी हो कर, लोक की स्थित्यर्थ वहां कार्य करूँ इसलिए मुझे जाने की आज्ञा दो । यह जगत् आपका ही है, आपने ही मुझे सम्हालने के लिए दिया है । इसलिए मुझे वहाँ जाने की आज्ञा देना उचित ही है ।

आभास—गच्छन् नमस्यति हे कृष्णेति ।

आभासार्थ—जाते हुए ब्रह्माजी श्रीकृष्ण को प्रणाम करते हैं उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**श्रीकृष्ण वृष्णिकुलपुष्करजोषदायिन् क्ष्मानिर्जरद्विजपशूदधिवृद्धिकारिन् ।**
उद्धर्मशार्वरहर क्षितिराक्षसध्रुगाकल्पमार्कमर्हन् भगवन् नमस्ते ॥४०॥

श्लोकार्थ—हे श्रीकृष्ण ! यादवों के कुल रूप कमल का विकास करने वाले ! पृथ्वी, देवता, ब्राह्मण और पशु रूप समुद्र की वृद्धि करने वाले ! पाखण्ड धर्म रूप अन्धकार के संहारकर्ता ! पृथ्वी में स्थित राक्षसों के द्रोही ! सूर्यादिक सर्व से पूज्य भगवन् ! आपको कल्प पर्यन्त मेरी नमस्कार है ।

सुबोधिनी—वृष्णयो यादवास्तेषां कुलमेव पुष्करं तस्यजोषो विकासस्तस्य दायिन्निति सूर्यरूपतोक्ता, क्ष्मा पृथिवी निर्जरा देवा द्विजा ब्राह्मणाः पशवश्च त एवोदधिरस्तस्य वृद्धिकारिन्निति चन्द्ररूपता, उद्धर्मः पाषण्डधर्मस्तदेव शार्वरं तस्य निवारकेत्यग्निरूपता, क्षितिराक्षसध्रुगिति, क्षितावुत्पन्ना ये राक्षसास्तान् द्रोग्धीत्यवतारप्रयोजनं, आकल्पं नमस्त इति, आर्कमर्हन्निति, अर्कमभिव्याप्य सर्वपूज्येति स्वस्यापि नमस्कारे हेतुः ॥ ४० ॥

व्याख्यार्थ—आप सूर्य रूप हो कारण कि आप यादवों के कुल रूप कमल का विकास करने वाले हो । आप चन्द्रमा रूप भी हो कारण कि पृथ्वी, देव, ब्राह्मण और पशु ये ही समुद्र हैं इनकी वृद्धि करते हो । पाखण्ड धर्म रूप अन्धकार को नाश करते हो । अतः आप अग्नि रूप

भी हो। पृथ्वी पर प्रकट हुए राक्षसों का द्रोह[1] करते हो इससे आपके अवतार लेने के कारण का ज्ञान हो जाता है। ऐसे आपको कल्प पर्यन्त मेरी नमस्कार है। नमस्कार करने में कारण बताते हैं कि सूर्य से लेकर सब देवों के आप पूज्य हो, अतः मेरा भी आपको नमस्कार करना उचित है।

आभास—एवं स्तुत्वा गत इत्याहेतीति।

आभासार्थ—इस निम्न श्लोक में ब्रह्माजी स्तुति के अनन्तर आज्ञा ले प्रणामादि करके पधार गए इसका वर्णन है।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—**इत्यभिष्टूय भूमानं त्रिः परिक्रम्य पादयोः।**
नत्वाभीष्टं जगद्धाता स्वधाम प्रत्यपद्यत ॥ ४१ ॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं इस प्रकार ब्रह्माजी भूमा[2] स्वरूप की स्तुति कर तीन परिक्रमा देकर और चरणों में प्रणाम कर अपने लोक को गए।

सुबोधिनी—भूमानं पूर्वमनन्तकोटिब्रह्माण्डरूपेण प्रदर्शितात्मानं त्रिः परिक्रम्य पुनः पादयोर्नत्वाभित इष्टं भगवन्तं स्वस्य धाम वा प्रत्यपद्यत प्रस्थितः, गत इतियावत् ॥ ४१ ॥

व्याख्यार्थ—जिसने प्रथम अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड रूप से दर्शन दिया था, उस भूमा स्वरूप आत्मा (श्रीकृष्ण स्वरूप) को तीन परिक्रमा देकर पुनः अपने प्रिय भगवान् के चरणों में प्रणाम कर ब्रह्माजी अपने अभीष्ट[3] धाम को रवाने हुए ॥ ४१ ॥

आभास—ततो भगवत्कृत्यमाह तत इति।

आभासार्थ—ब्रह्माजी के जाने के अनन्तर जो भगवान् ने किया उसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**ततोनुज्ञाप्य भगवान् स्वभुव प्रागवस्थितान्।**
वत्सान् पुलिनमानिन्ये यथापूर्वसखं स्वकम् ॥ ४२ ॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने ब्रह्माजी को जाने की आज्ञा दी, उनके जाने के अनन्तर, पूर्ववत् स्थित मित्रों वाले तट पर, भगवान् बछड़ों को ले आए।

१—नाश। २—व्यापक। ३—चाहे हुए, इच्छा वाले।

सुबोधिनी—यावद् गत्वा ब्रह्मा स्वगृहं बालकान् वत्सांश्चानयति तावद् भगवानेव ब्रह्माणमनुज्ञाप्य प्रागवस्थितान् वत्सान् पुलिनमानिन्ये, पुलिनमपि स्वकमेव, यत्र पूर्वं बालकाः स्थितास्त्रापि यथापूर्वसखं पुलिनं यथापूर्वं सखायो यत्र पूर्वं पुलिने बालकान् पुर्ववदुपवेश्य पश्चाद् वत्सानयनार्थं गत इव वत्सान् पुलिनमानिन्ये ॥ ४२ ॥

व्याख्यार्थ—ब्रह्माजी भगवान् की आज्ञा प्राप्त कर, जब तक अपने घर जाके बालक और बछड़ों को ले आवें, तब तक भगवान् स्वयं जिस तट पर पहले बछड़े खड़े होकर चरते थे, बालक भी बैठकर भोजन आदि करते थे, उस अपने तट पर जहाँ पहले की तरह बालकों को तट पर बिठाकर, पीछे बछड़ों को भी लाने के लिए मानो गए हैं ऐसे बछड़ों को भी वहाँ तट ले आए ॥४२॥

आभास—तदा बालकाः समागतं भगवन्तं कथं ज्ञातवन्त इत्याकाङ्क्षायामाहैकस्मिन्नपीति ।

आभासार्थ—भगवान् बछड़ों को ले आए उस समय बालकों ने भगवान् को कैसे पहचाना जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**एकस्मिन्नपि यातेब्दे प्राणेशं चान्तरात्मनः ।**
कृष्णमायाहता राजन् क्षणार्धं मेनिरेर्भकाः ॥ ४३ ॥

श्लोकार्थ—यद्यपि अपने प्राणनाथ भगवान् के बिना एक वर्ष बीत गया था तो भी भगवान् की माया से मोहित उन बालकों ने उस समय को अर्ध क्षण के समान समझा ।

सुबोधिनी—एकस्मिन्नप्यब्दे वर्षे याते गत आत्मनः प्राणेशमन्तरा भगवन्तं विनाल्पोपि कालो यत्र विरहाद् भूयान् भवितुमर्हति तत्र तावन्तमपि कालं कृष्णमायया आहता व्याप्ता न तु ब्रह्ममायया क्षणार्धमेवार्भका मेनिरे ॥ ४३ ॥

व्याख्यार्थ—जहाँ अपने प्राणपति भगवान् के बिना अल्प[1] समय भी महान् होना चाहिये था वहाँ पूर्ण एक वर्ष बीत गया तो भी बालकों ने भगवान् की माया से मोहित हो जाने के कारण उस समय को आधी क्षण समझा था । यह माया भगवान् की थी ब्रह्मा की नहीं थी ॥ ४३ ॥

आभास—ननु कथमेतावतः कालस्य विस्मरणम् ? तत्राह किं किमिति ।

१—थोड़ा ।

आभासार्थ—इतने लम्बे वर्ष भर के काल को एक क्षण कैसे समझा। इतना विस्मरण कैसे हुआ ? इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**किं किं न विस्मरन्तीह मायामोहितचेतसः ।**
यन् मोहितं जगत् सर्वमभीक्ष्णं विस्मृतात्मकम् ॥ ४४ ॥

श्लोकार्थ—जिस भगवान् की माया से मोहित यह सकल जगत् अपने आत्मा को ही भूल गए हैं, उस माया से मोहित चित्त वाले यहाँ क्या क्या नहीं भूल सकते हैं ? अर्थात् सब कुछ भूल सकते हैं।

सुबोधिनी—मायामोहितचेतसः किं किं न विस्मरन्ति ? यद् यस्मात् सर्वमेव जगत् मोहितं सदभीक्ष्णं सर्वदैव विस्मृतात्मकं विस्मृत आत्मा येन तादृशम् ॥ ४४ ॥

व्याख्यार्थ—माया से मोहित चित्त वाले, क्या क्या नहीं भूल सकते हैं ? जबकि जिस कारण से (माया से) सकल जगत् मोहित होके सदा ही अपनी आत्मा को ही भूल गया है ॥४४॥

श्लोक—**ऊचुश्च सुहृदः कृष्णं स्वागतं तेतिरंहसा ।**
नैकोप्यभोजि कवल एहीतः साधु भुज्यताम् ॥ ४५ ॥

श्लोकार्थ—बालकों ने अपने मित्र श्रीकृष्ण को कहा कि आप बहुत शीघ्र आ गए हमने अब तक एक भी ग्रास नहीं खाया है। यहाँ आओ, अच्छी तरह भोजन करो।

सुबोधिनी—अत एव स्वसुहृदं कृष्णमूचुस्ते त्वयातिरंहसा स्वागतमिति, तत्र हेतुत्वेनाहुर्नैकोप्यभोजि कवल इति, तव गमनानन्तरमेकोपि कवलो नाभोजि न भुक्तः, अनेन भगवति प्रेमापि सूचितं, अत एवैहि, मध्ये पूर्ववत् तिष्ठ, साधु भुज्यतामिति ॥ ४५ ॥

व्याख्यार्थ—इस कारण से ही अपने मित्र श्रीकृष्ण को कहने लगे कि आप बहुत शीघ्र पधारे हो; शीघ्र पधार गये हो, इसकी पुष्टि में कहते हैं कि देखो आपके जाने के पीछे हमने एक भी ग्रास नहीं खाया है; अर्थात् वह ग्रास हाथ में ही है। इस प्रकार कहकर भगवान् में अपना प्रेम प्रकट किया था। इससे अब आप यहाँ आओ हमारे बीच में पहले के समान बैठो और प्रेम पूर्वक भोजन करो ॥ ४५ ॥

आभास—ततो भगवता तथैव कृतमित्याह तत इति।

आभासार्थ—भगवान् ने, जैसे मित्रों ने कहा वैसे ही किया। ये निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**ततो हसन् हृषीकेशोभ्यवहृत्य सहार्भकैः।**
दर्शयंश्चर्माजगरं न्यवर्तत वनाद् व्रजम्॥ ४६॥

श्लोकार्थ—फिर भगवान् हास्य करते हुए बालकों के साथ भोजन कर अजगर का चर्म दिखलाते हुए बन में व्रज को पधारे॥ ४३॥

सुबोधिनी—अर्भकैः सहाभ्यवहृत्य मुक्त्वाघासुरस्य च चर्म प्रदर्शयन् वनाद व्रजं प्रति न्यवर्तत॥ ४६॥

व्याख्यार्थ—बालकों के साथ भोजन कर, अघासुर का चर्म बालकों को दिखाते हुए, बन में से व्रज को पधारे॥ ४६॥

आभास—समागच्छन्तं भगवन्तं वर्णयति बर्हेति।

आभासार्थ—व्रज में आते हुए भगवान् का वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**बर्हप्रसूनवनधातुविचित्रिताङ्गः प्रोद्दामवेणुदलशृङ्गरवोत्सवाढ्यः।**
वत्सान् गृणन्ननुगगीतपवित्रकीर्तिर्गोपीदृगुत्सवदृशिः प्रविवेश गोष्ठम्॥ ४७॥

श्लोकार्थ जिनकी, ग्वाल बाल पवित्र कीर्ति गा रहे हैं, जिनकी दृष्टि[1] गोपी जनों के नेत्रों, के लिये उत्सव[2] रूप है, मोर पिच्छ, पुष्प, वन की धातु, गेरू आदिकों से, विशेष रीति से, चित्रित अङ्ग वाले हैं, गौओं के बछड़ों को बांधने वाली रज्जु, वंशी, पत्र और सींग की ध्वनि से आनन्द वाले हैं, बछड़ों को शब्दों द्वारा पुचकारते अथवा आगे चलाते हैं, वैसे भगवान् वृज में प्रविष्ठ हुए॥ ४७॥

सुबोधिनी—प्रोद्दामगोबन्धनरज्जुर्दोहसम्बन्धि, अधिको वा, वत्सान् गृणन्नुच्चारयन्, अनुगैर्बालकैर्गीता पवित्रा कीर्तिर्यस्य, गोपीदृशामुत्सवरूपा दृष्टिर्यस्य॥ ४७॥

व्याख्यार्थ—प्रोद्दाम* गायों को दोहने के समय बान्धने में आने वाली रस्सी अथवा इससे भी बड़ी रस्सी, बछड़ों को आगे चलाने के लिये अस्पष्ट शब्द उच्चारण करते हुए बालक जिनकी कीर्ति गा रहे हैं वैसे, गोपीओं के नेत्रों के लिए आनन्द रूप दृष्टि वाले भगवान् व्रज में प्रविष्ट[3] हुए॥ ४७॥

---

* इस श्लोक की टीका में केवल कुछ पदों के ही शब्दार्थ कहे हैं—अनुवादक।

१—दर्शन, २—आनन्द, ३—प्रवेश अर्थात् पधारे।

आभास---ततो बालका अघासुरवधं व्रज आहुरद्यानेनेति ।

आभासार्थ—बालकों ने व्रज में अघासुर के वध की कथा कही जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**अद्यानेन महाव्यालो यशोदानन्दसूनुना ।**
हतोविता वयं चास्मादिति बाला व्रजे जगुः ॥ ४८ ॥

श्लोकार्थ---आज इन यशोदा और नन्दनन्दन ने अजगर को मारा और इस अजगर से हमारी रक्षा की ।

सुबोधिनी—केचिद् यशोदासूनुनेत्यन्ये नन्दसूनुनेति, वयं चास्माद् व्यालादविताः ॥ ४८ ॥

व्याख्यार्थ—व्रज में आकर, कितनेक बालकों ने कहा कि आज यशोदानन्दन ने और कितनेक बालकों ने कहा कि नन्दनन्दन ने आज सर्प को मारा तथा उस सर्प से हम लोगों की रक्षा की (यह सब ने मिल कर साथ में कहा) ॥ ४८ ॥

आभास---एवं भ्रान्तमोहनिवृत्त्यर्थं सर्वसिद्धान्तमुपपाद्य स्नेहाश्रयविवेचनार्थं प्रक्रियान्तरमारभते, स्नेहः स्वात्मनिष्ठः स चात्मा भगवाञ् जीवो वा, सहजस्नेहो भगवति जीवे तत्सम्बन्धात् तदंशत्वादाहोस्विज् जीव एव ? तथा सति भगवति स्नेहः कथमित्याक्षिपते ब्रह्मन्निति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भ्रान्तों के मोह की निवृत्ति के लिए सब प्रकार का सिद्धान्त कहकर, अब स्नेह का वास्तविक[1] आश्रय[2] कौन है ? इसके निर्णय करने के लिये दूसरा प्रकरण प्रारम्भ करते हैं । स्नेह अपनी आत्मा में ही होता है ? वह आत्मा कौन ? भगवान् अथवा जीव ? स्नेह का स्वाभाविक पात्र तो भगवान् ही है । जीव में स्नेह तो इसलिये होता है कि जीव उस (भगवान्) का सम्बन्धी वा अंश है । यदि कहो, कि जीव भी आत्मा है वह ही प्रेम का पात्र है तो (व्रजवासियों का) भगवान् में गाढ प्रेम कैसे हुआ ? इस संशय की निवृत्ति के लिये राजा परीक्षितजी निम्न श्लोक में प्रश्न करते हैं ।

१—असल में । २—पात्र ।

॥ राजोवाच ॥

श्लोक---ब्रह्मन् परोद्भवे कृष्णे इयान् प्रेमा कथं भवेत् ।
योभूतपूर्वः स्तोकेषु स्वोद्भवेष्वपि कथ्यताम् ॥ ४६ ॥

श्लोकार्थ---राजा कहते हैं, हे ब्रह्मन् ! व्रजवासियों का अपने औरस[1] पुत्रों में जैसा पहले प्रेम नहीं था इतना अभूतपूर्व प्रेम पराए पुत्र श्रीकृष्ण में कैसे हुआ वह कहो ।

सुबोधिनी—जीवस्य देहेन सम्बन्धस्ततः पुत्रादिषु ततो नन्दे ततो नन्दपुत्र इतिक्रमः, परोद्भवे स्वप्राणापेक्षयापि योधिकः प्रेमा स कथं भवेत् स्वोद्भवेष्वपि स्तोकेषु योभूतपूर्वः ? अतोत्र सिद्धान्तः कथ्यताम् ॥ ४६ ॥

व्याख्यार्थ—जीव का प्रथम, देह से सम्बन्ध हुआ, पीछे देह से उत्पन्न पुत्रादि में हुआ, पश्चात् नन्द में, उसके अनन्तर नन्द के पुत्र में यह क्रम है । अन्य से उत्पन्न में अपने प्राणों से भी अधिक, जो प्रेम, वह कैसे हुआ । अपने उत्पन्न बालकों में भी इतना पहले प्रेम नहीं था । अतः इस विषय में क्या सिद्धान्त है वह बताओ ॥ ४६ ॥

आभास---तत्र भगवति स्नेहमुपपादयति सर्वेषामिति ।

आभासार्थ—इसके उत्तर में कहते हैं कि स्नेह भगवान् में ही होता है, यह सिद्धान्त है । निम्न श्लोक से नौ श्लोकों में इस सिद्धान्त को प्रति पादन करते हैं ।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक---सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः ।
इतरेपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि ॥ ५० ॥

श्लोकार्थ---श्री शुकदेवजी ने कहा कि महाराज ! सब प्राणियों को मुख्य अपनी आत्मा[2] ही प्रिय है । सन्तान और धन आदि दूसरे पदार्थों में जो प्रेम है, सो देह की वल्लभता[3] के कारण ही है ।

१—अपने से पैदा हुए । २—देह । ३—प्रियता ।

सुबोधिनी—लोके तावत् सर्वेषां प्रेमविषय आत्मा देहः, इतरेपत्यवित्ताद्यास्तस्य देहस्य वल्लभतया प्रियतया, युक्तश्चायमर्थः, अन्यथा परबालके परदेहे वा स्नेहः स्यात् ॥ ५० ॥

व्याख्यार्थ—लोक में तो सब के प्रेम का विषय, देह ही है। दूसरे और धन आदि से प्रेम तो उस देह में प्रेम होने के कारण होता है। यह सिद्धान्त योग्य ही है। यदि यों नहीं होवे, तो दूसरे बालकों में वा दूसरी देहों में प्रेम होना चाहिये।

आभास—तत्रापि तारतम्यमित्याह तद् राजेन्द्रेति।

आभासार्थ—इसमें भी भेद है वह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**तद् राजेन्द्र यथा स्नेहः स्वस्वकात्मनि देहिनाम्।**
न तथा ममतालम्बिपुत्रवित्तगृहादिषु ॥ ५१ ॥

श्लोकार्थ—हे राजेन्द्र देहधारियों को जैसा स्नेह अपनी अपनी देहों में होता है, वैसा ममता के आस्पद[1] पुत्र, धन और गृह आदि में नहीं होता है।

सुबोधिनी—देहाभिमानवतां यथा स्वस्वकात्मनि देहे स्नेहोहमभिमानविषयत्वान्न तथा पुत्रवित्तादिषु ममताविषयत्वात् ॥ ५१ ॥

व्याख्यार्थ—देह मैं हूँ, इस प्रकार के ज्ञान से देहाभिमानी बने हुए लोगों में, अपनी देह में जैसा प्रेम होता है, वैसा प्रेम जिन पुत्र, धन, गृह में ममता रहती है, उनमें नहीं होता है। कारण कि ममता वालों से अहं[2] में विशेष आसक्ति होती है ॥ ५१ ॥

आभास—नन्वत्र देहो वात्मा वा कः प्रियत्वेन सहजोभिनिर्दिष्टः ? आत्मा चेत् स न देहातिरिक्तः प्रतीतः केनापि पामरेणातः प्रेम कथम् ? तत्र देहश्चेत् को हेतुरित्याकाङ्क्षायामाह देहात्मवादिनामिति।

आभासार्थ—इस उपरोक्त श्लोक में देह में प्रेम होता है यह कहा। किन्तु वह प्रेम वास्तविक किसमें है, इसका निर्णय नहीं हुआ क्योंकि यदि कहो कि देह में हुआ,तो क्या देह आत्मा से पृथक है ? यदि कहो कि आत्मा में तो क्या आत्मा देह से पृथक् है। किसी भी पामर ने देह, आत्मा पृथक देखी नहीं है तो प्रेम किसमें हुआ? यदि कहो देह में हुआ, तो उसका हेतु कहो। इस पर निम्न श्लोक कहते हैं।

१—पात्र। २—अपने।

श्लोक----**देहात्मवादिनां पुंसामपि राजन्यसत्तम ।**
यथा देहः प्रियतमस्तथा न ह्यनु ये च तम् ।। ५२ ।।

श्लोकार्थ---हे राज सत्तम ! जो पुरुष देह को ही आत्मा मानते हैं, उनको भी जैसे देह प्यारी है, वैसे देह के पीछे लगे हुए पुत्र, धन आदि प्यारे नहीं होते हैं ।

सुबोधिनी—अस्ति देहव्यतिरिक्त आत्मा पामराणामपि मते, तथाप्यङ्गीकृत्याप्युच्यते देह एव आत्मा येषामपि वादिनां, राजन्यसत्तमेतिसम्बोधनं स्नेहार्थं, यथा देहः प्रियतमो न तथा पुत्रादयः ।। ५२ ।।

व्याख्यार्थ—यद्यपि पामारों के मत में भी देह से आत्मा पृथक् है, तो भी उनकी देह को ही, आत्मा मानना स्वीकार कर, कहा जाता है कि देह को आत्मा मानने वालों को भी जैसी देह अति प्यारी है, वैसे पुत्रादिक नहीं है । राजा को 'राजन्य सत्तम' सम्बोधन शुकदेवजी ने राजा में अपने स्नेह को प्रकट करने के लिये दिया है ।। ५२ ।।

श्लोक----**देहोपि ममताभाक् चेत् तर्ह्यसौ नात्मवत् प्रियः ।**
यज् जीर्यत्यपि देहेस्मिञ् जीविताशा बलीयसी ।। ५३ ।।

श्लोकार्थ---यदि देह भी ममता का स्थान हो जाए तो यह देह आत्मा के समान प्रिय नहीं रहती, क्योंकि जब देह बहुत जीर्ण हो जाती है मरने का भी निश्चय हो जाता है तो भी जीने की बलवती आशा रहती है ।

सुबोधिनी—पश्वादल्पविवेकेन देहोपि ममताभाक् चेत् तर्ह्यसावेव देह आत्मवत् पूर्वानुभूतदेहवदहमभिमानयुक्तदेहवत् प्रियो न भवति, किञ्च प्राणश्चेदात्मा तदापि प्राणवन्न देहः प्रियः, यज् जीर्यत्यपि देहेस्मिन्नपि देहे बलीयसी तस्य जीविताशा ।। ५३ ।।

व्याख्यार्थ---जीव के स्वल्प भी विवेक जब आजाता है, तब वह समझने लगता है कि मैं देह नहीं हूँ किन्तु देह मेरी है । इस विवेक से जीव को पहले, मैं देह हूँ, इस प्रकार के ज्ञान से, जो देह में प्रेम होता था वह अब नहीं होता है, क्योंकि उसको ज्ञान हो गया है कि मैं देह नहीं हूँ और प्राण ही आत्मा है । इस प्रकार जब मानता है, तब प्राण के समान, देह प्रिय नहीं रहती है । देह जीर्ण होती है । (बेकार हो जाती है) तो भी जीने की आशा बलवती ही रहती है कारण कि देह से प्राण (आत्मा) प्यारे होते हैं ।। ५३ ।

श्लोक----**तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम् ।**
तदर्थमेव सकलं जगदेतच् चराचरम् ।। ५४ ।।

श्लोकार्थ---इससे सिद्ध होता है कि सब प्राणियों[1] को अपनी आत्मा ही अति प्रिय है। यह समस्त जड़ और चेतन जगत् उसके लिए ही है।

सुबोधिनी—तस्मादात्मा प्रिय इत्यविवादं, तदर्थं चान्यत् ॥ ५४ ॥

व्याख्यार्थ—इससे (उपरोक्त कहे हुए ज्ञान से) निश्चय है कि आत्मा[2]* प्रिय है, इसमें किसी प्रकार का विवाद[3] नहीं है उस (भगवान्) के लिये ही दूसरे सब हैं ॥ ५४ ॥

आभास----स चात्मा कृष्ण एवेत्याह कृष्णमेनमिति।

आभासार्थ—इस निम्न श्लोक में स्पष्ट करते हैं कि वह आत्मा भगवान् श्रीकृष्ण ही है।

श्लोक----**कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।**
जगद्धिताय सोप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥ ५५ ॥

श्लोकार्थ----इस श्रीकृष्ण को तुम सब आत्माओं की आत्मा समझो वह भी जगत् के कल्याणार्थ यहाँ देही के समान माया से भासते हैं।

सुबोधिनी—अखिलात्मनामयमात्मा, अस्यैव स्नेहः सहजो धर्म एतद्विषयकस्तदंशः पश्चादन्यत्र गच्छति तदंशेषु, एतन् मैत्रेयीब्राह्मणे वाक्यान्वयादित्यधिकरणे स्पष्टमस्माभिर्व्युत्पादितं, भगवद्धर्मा एवान्यत्र कार्यंशे च भासन्त इति, ननु कृष्ण कथमात्मा ? तत्राह जगद्धितायेति, केवलं जगद्रक्षार्थं मायया देहीवाभाति वस्तुतस्तु ब्रह्मैव ॥ ५५ ॥

व्याख्यार्थ—यह श्रीकृष्ण, सकल आत्माओं[4] की आत्मा है। इसमें ही जीवों का सहज[5] प्रेम होता है क्योंकि प्रेम भगवान् का ही स्वाभाविक धर्म है। भगवान् के उस स्वाभाविक धर्म (प्रेम) का अंश दूसरों में (उनके अंशों में, जीवों में) पीछे उत्पन्न होता है। इस विषय को हमने मैत्रेयी ब्राह्मण में 'वाक्यान्वयात्' इस सूत्र से स्पष्ट सिद्ध किया है। दूसरे कार्यों में, वा अंशों में, जो धर्म देखने में आते हैं, वे भगवान् के ही धर्म हैं। कृष्ण को आप सब की आत्मा कैसे कहते

---

* सबकी आत्मा भगवान् है। जीव सबकी आत्मा नहीं है अतः अपनी आत्मा कहने का तात्पर्य है कि जीव की जो आत्मा है वह प्रिय है।

भगवान् के लिये ही सब है का तात्पर्य है कि भगवान् के क्रीडार्थ और सेवार्थ सकल पदार्थ हैं न कि जीव के लिए अतः जीव को सब पदार्थों का भगवान् की सेवा में उपयोग करना चाहिये—अनुवादक।

१—जीवों। २—भगवान्। ३—झगड़ा। ४—जीवों। ५—स्वाभाविक (कुदरती)

हो ? इस शङ्का को मिटाने के लिये श्लोक के उत्तरार्द्ध में कहते हैं कि केवल जगत् की रक्षा करने के लिये, माया से, मनुष्य के समान प्रतीत होते हैं, किन्तु वस्तुतः वे ब्रह्म ही हैं ॥ ५५ ॥

श्लोक--**वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थाष्णु चरिष्णु च ।**
भगवद्रूपमपरं नान्यद् वस्त्विह किञ्चन ॥ ५६ ॥

श्लोकार्थ--वस्तुतः[1] सर्व जगत के कारण श्रीकृष्ण ही हैं। इस प्रकार के ज्ञानियों को, सब चर और अचर जगत्, भगवान् का अपर रूप दीखता है क्योंकि कोई भी वस्तु भगवान् से भिन्न[2] नहीं है।

सुबोधिनी—किञ्च कृष्णं जानतां सर्वमेव स्थावर-जङ्गमात्मकं भगवद्रूपं भाति यदन्यन् नास्त्येव किञ्चन, किञ्चन, ननु भगवतः कथमेवम्रूपम् ? तत्राहापरमिति, परं कृष्णरूपमपरं जगत्, अतो महापुरुषप्रतीत्यापि कृष्णो भगवान्, "यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितं भवती" ति तदैव सङ्गच्छते ॥ ५६ ॥

व्याख्यार्थ—श्रीकृष्ण के स्वरूप को वास्तविक रीति से जानने वालों को, सब ही स्थावर और जंगम भगवान् का ही रूप दीखता है; क्योंकि उसके अतिरिक्त दूसरा कुछ है ही नहीं। भगवान् का ऐसा रूप कैसे है? इसके उत्तर में श्लोक में कहते हैं कि 'अपरं' कृष्ण का एक रूप 'पर' है और दूसरा 'अपर' है। 'पर' रूप तो अलौकिक आनन्द मय है और यह 'अपर' तिरोहितानन्द स्वरूप है। अतः महान् पुरुषों की प्रतीति[3] से भी श्रीकृष्ण भगवान् है। 'यस्मिन विदित सर्वमिदं' विभाति' (जिसको जानने से सब का ज्ञान हो जाता है) यह श्रुति भी तभी ही चरितार्थ वाली होती है ॥ ५६ ॥

आभास--किञ्च न केवलं सर्वस्य भगवत्त्वे महतां दृष्टिरेव प्रमाणमपि तु युक्तिरप्यत आह सर्वेषामिति ।

आभासार्थ—सर्व 'भगवान्' है इसमें केवल महापुरुषों की दृष्टि ही प्रमाण नही है किन्तु युक्ति भी इसको सिद्ध करती है यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक--**सर्वेषामेव भावानां भावार्थो भवति स्थितः ।**
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद् वस्तु रूप्यताम् ॥ ५७ ॥

श्लोकार्थ---सर्व पदार्थों (कार्यों) का कारण होता है तब सब कार्यों के कारणों का कारण आप में स्थित है अर्थात् मूल कारण आप श्रीकृष्ण भगवान् हो। उस

१—सचमुच। २—दूसरी। ३—ज्ञान वा विश्वास।

(भगवान् श्रीकृष्ण) से पृथक् कोई वस्तु नहीं है। जो पृथक् है ? तो बताओ।

सुबोधिनी—सर्वपदार्थानामबाधितोर्थो भवति कारणे स्थितः, कारणातिरिक्तं कार्यं नास्तिति, तस्य कारणस्यापि कारणं तत्वं भगवानेव, अतद् भगवद्-व्यतिरिक्तं वस्तु किं निरूप्यताम् ॥ ५७ ॥

व्याख्यार्थ—सर्व पदार्थों का अबाधित[1] अर्थ उसके कारण में स्थित होता है। कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता है। उस कारण का भी कारण तत्त्व भगवान् ही है। भगवान् से पृथक् कोई वस्तु नहीं है, तो बताओ ॥ ५७ ॥

आभास---स्नेहोपि धर्मो जगद्वत् पूर्वमुत्पन्नोतो भगवत्येव युज्यत इति प्रसङ्गात् तस्य कारणत्वमुक्तं, सर्वपुरुषार्थरूपत्वाच्च तस्मिन् स्नेह इत्याह समाश्रिता इति।

आभासार्थ—स्नेह भी धर्म है। वह जगत् के समान पहले उत्पन्न हुआ है। इसलिये वह प्रेम, भगवान् में ही होना चाहिये। इस प्रकार प्रसङ्ग से उसको कारण कहा। सर्व पुरुषार्थ रूप होने से उसमें स्वतः स्नेह होता है—यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत् पदं पुण्ययशो मुरारेः।**
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं पदं पदं यद् विपदां न तेषाम् ॥ ५८ ॥

श्लोकार्थ----भगवान् के पुण्य यश वाले चरण का जिनने आश्रय लिया है और चरण कँवल रूप नौका ही जिनका परम पद है उनके लिये यह संसार-समुद्र, बछड़े के खुर के समान है एवं वही पद (उद्यम) है। विपत्तियों का स्थान (बार-बार जन्म लेना) उनके लिए पद (उद्यम) नहीं है।

सुबोधिनी—ये मुरारेः पदं समाश्रिताः पुण्यं यशो यस्य पदपल्लव एव प्लवस्तत् स्वभावतोपि महत् पदं तेषां भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं तु विपदां यत् पदं न तत् तेषां पदम् ॥ ५८ ॥

व्याख्यार्थ—जो मुर दैत्य के शत्रु[2] के चरणों के आश्रित हैं, जो चरण पुण्य कीर्ति वाले हैं। चरण कमल की नौका है, वह नौका स्वभाव से महत् पद[3] है उन चरणाश्रितों के लिये संसार-समुद्र पार करना वत्स पद को उल्लङ्घन करने के समान सरल है। वही उनका परम पद[4] है। विपत्तियों का पद (पुनर्जन्म लेना) उनका पद[4] नहीं है ॥ ५८ ॥

आभास----उपसंहरत्येतत् त इति।

१—वास्तविक। २—नाशकर्ता। ३—स्थान, आश्रय। ४—उद्यम।

आभासार्थ—निम्न श्लोक से विषय का उपसंहार[1] करते हैं ।

श्लोक—**एतत् ते सर्वमाख्यातं यत् पृष्टोहमिह त्वया ।**
यत् कौमारे हरिकृतं जगुःपौगण्डकेर्भकाः ॥ ५९ ॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने कौमार अवस्था में जो चरित्र किया वह बालकों ने पौगण्ड अवस्था में कहा । इस विषय में जो तुमने पूछा था वह सब मैंने तुमको कह दिया ।

सुबोधिनी—कौमारे यद् धरिणा कृतं तत् पौगण्डे परिकीर्तितमित्यत्र, तत्रानुपपत्तिः परिहृतेत्यर्थः ॥ ५९ ॥

व्याख्यार्थ—कौमार अवस्था में हरि ने जो किया वह पौगण्ड अवस्था में कहा । इस प्रकार के जो प्रश्न प्रक्षिप्त (पहले अध्याय के ४१ वें व ४२ वें श्लोक में किये थे उन सबका तुमको उत्तर दिया । उस विषय में जो अयोग्यता समझी जाती थी यह समग्र प्रकरण कहकर, उसका निवारण किया ॥ ५९ ॥

आभास—अध्यायत्रयश्रवणकीर्तनयोः फलमाहैतदिति ।

आभासार्थ—इन तीन अध्यायों के श्रवण और कीर्तन के फल का वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**एतत् सुहृद्भिश्चरितं मुरारेरघार्दनं शाड्वलजेमनं च ।**
व्यक्तेतरत्रूपमजोर्वभिष्टवं शृण्वन् गृणन्नेति नरोखिलार्थान् ॥ ६० ॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने मित्रों के साथ जो चरित्र[2] किए, अघासुर को मारा, हरियाली भूमि पर भोजन किया, प्रकट रूप से अन्य स्वरूप का दर्शन, ब्रह्माजी की करी हुई स्तुति आदि सर्व चरित्रों को श्रवण और कीर्तन करने वाले पुरुष के सर्व मनोरथ सिद्ध होते हैं ।

सुबोधिनी—आदौ मुरारेः सुहृदां बालकानां चरितं क्रीडा ततोघार्दनं ततः शाड्वले जेमनं भोजनं चकाराद् वत्सापहरणं, व्यक्तादितरमव्यक्तमलौकिकं भगवद्रूपमजस्योर्वभिष्टवं स्तोत्रं, एतत् सर्वं शृण्वन् गृणन्नपि पुरुषार्थान् प्राप्नोति ॥ ६० ॥

१—समाप्ति । २—क्रीडा ।

व्याख्यार्थ—आदि में अर्थात् पहले मुरारि का बालकों के साथ किया हुआ रमण चरित्र पश्चात् अघासुर का वध, हरियाली भूमि पर भोजन करना, 'च' शब्द से वत्सों को चुराना और भगवान् के इस प्रकट रूप से अन्य रूप जो अदृश्य अलौकिक हैं उनका दर्शन, ब्रह्माजी ने जो विशेष स्तुति की है, इन सर्व विषयों को सुनने वाला और कीर्तन करने वाला भी सर्व पुरुषार्थों को प्राप्त करता है ॥ ६० ॥*

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, दशम-स्कन्ध (पूर्वार्ध) के चौदहवें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणविरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के तीन प्रक्षिप्त अध्यायों का अन्तिम अध्याय (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण ।

तीन प्रक्षिप्त अध्यायों में से इस अन्तिम अध्याय में वर्णित कृष्णचन्द्र की रसमई लीलाओं का अवगाहन निम्न लिखित पदों से कीजिएगा-

राग नट

विधि मन ही मन सोच पर्‌यो ।
गोकुल की रचना सब देखत अति जिय मांहि डर्‌यो ॥ १ ॥
मैं बिरंचि बिरच्यो जग मेरो, यह कहि गर्व बढ़ायो ।
ब्रज नर नारि ग्वाल बालक कहि, कौने ठाठ रचायो ॥ २ ॥
वृन्दावन वट सघन तरुवर तर, मोहन सबै बुलायो ।
सखा संग मिलि करत बन भोगि,विधि सन भर्म उपायो ॥ ३ ॥
याते श्याम अतिहि अतुराने, तुरत वहां उठ धायो ।
बालक वच्छ हरे चतुरानन, ब्रह्म लोक पहुँचायो ॥ ४ ॥
यह विचारि सब भए आपुहि, बयरंग प्रकृति करायो ।
सूरदास प्रभु गर्व विनासन, नव कृत फेरि बनायो ॥ ५ ॥

---

* टिप्पणी—इसके अनन्तर का 'एवं विहारैः कौमारैः' यह श्लोक एकादश अध्याय में आया हुआ है अतः इसको पुनः आचार्यश्री ने यहाँ नहीं लिया है और न पुनः उसके अर्थ की आवश्यकता है—अनुवादक ।

राग नट

तब हरि हर्‌यो विधि को गर्व ।
बच्छ बालक ले गयो धरि तुरत कीन्हो सर्व ॥ १ ॥

ब्रह्म लोक दुराय आयो, चरित देखत आप ।
बच्छ बालक देखि के मन, करत पश्चाताप ॥ २ ॥

जब गयो विधि लोक अपने, दृष्टि कैं फेरि आय ।
जानि जिय अवतार पूरन, पर्‌यो पायन धाय ॥ ३ ॥

बहुत मैं अपराध कीनो क्षमा कीजे नाथ ।
जानि यह मैं नहीं कीनी, जोरि कर रह्यो माथ ॥ ४ ॥

बच्छ बालक आनि सन्मुख, शरण शरण पुकारि ।
सूर प्रभु के चरण गहि कह्यो,निकट राखु मुरारि ॥ ५ ॥

राग बिलावल

गान विधि—गोद बैठ गोपाल कहत व्रजराज सों –
व्रज की लीला देखि गर्व विधि को गयो ॥ ध्रुव ॥

त्रिभुवन नायक आनि भये गोकुल अवतारी ।
खेलत ग्वालन संग, रंग आनन्द मुरारि ॥
घर घर त छाकें चली, मान सरोवर तीर ।
नन्द नन्दन के संग चले हो, बालक सखा अहीर ॥
गर्व विधि को गयो ॥ १ ॥

व्यञ्जन सकल मंगाय, सखन के आगे राख्यौ ।
खाटे मीठे स्वाद सबै रस, ले ले चाख्यौ ।
रुचि सों जेंवत ग्वाल सब, लै लै आपुन खात ॥
भोजन को सब स्वाद लेहों, कहत परस्पर बात ।
गर्व विधि को गयो ॥ २ ॥

देखत गण गन्धर्व, सकल सुरपुर के बासी ।
आपुस में वै कहत, हँसत एई अबिनासी ॥
देखि सबै अचरज भये, कह्यो ब्रह्म सों जाय ।
जाको अबिनासी कहैं हो, सो ग्वालनि संग खाय ॥
गर्व विधि को गयो ॥ ३ ॥

यह सुनि ब्रह्मा चल्यो, तुरत वृन्दाबन आयो ।
देखि सरोवर सलिल, कमल तेहि मध्य सुहायो ॥
परम सुभग जमुना बहै, तहां बहै त्रिविध समीर ।
पुहुप लता द्रुम देखि के हो,थकित भयो मति धीर ॥
गर्व विधि को गयो ॥ ४ ॥

अति रमणीक कदम्ब, छांह रुचि परम सुहाई ।
राजत मोहन मध्य, अवलि बालक छबि पाई ॥
प्रेम मगन ह्वै परस्पर, भोजन करत गोपाल ।
लावहु गो सुत हेरि के हो, प्रभु पठये द्वै ग्वाल ॥
गर्व विधि को गयो ॥ ५ ॥

बन उपबन सब ढूंढि, सखा हेरि फिरि आये ।
बछरा भये अदृष्ट; केहु खोजत नहिं पाये ॥
सबै सखा बैठ रहो, मैं देखों धों जाय ।
बच्छ हरन हरि जानि जिय हो, आप गए बहराय ॥
गर्व विधि को गयो ॥ ६ ॥

जब गोविन्द गये दूर, बालकनि हरचो विधाता ।
लैहें तुरत मंगाय, आपुकै जैहो ताता ॥
ब्रह्म लोक ब्रह्मा गयो, लै बालक बछरा संग ।
प्रभु की लीला गनी नहीं विधि,कियो गर्व अति अंग ।
गर्व विधि को गयो ॥ ७ ॥

तब चिन्तामणि चितै, चित्त एक बुद्धि बिचारी ।
बालक बच्छ बनाय, रचे वही अनुहारी ॥
करत कुलाहल सब गये, वृज घर अपने धाय ।
अति आदर करि करि लिये हो,अपनी अपनी माय ॥
गर्व विधि को गयो ॥ ८ ॥

ब्रह्मा कियो विचार, जाय निज गोकुल देखो ।
करिहैं सोक सन्ताप, नाय पितु मातहि पेखी ॥
आये तहां बिधिना चले, घर घर देख्यो आय ।
संध्या समै होत कौतूहल, जहां तहां दुहि गाय ॥
गर्व विधि को गयो ॥ ९ ॥

कि यह गोकुल और किधों, मैं ही भ्रम भूल्यो ।
यह अबिनासी होंहि, ज्ञान मेरो भ्रम भूल्यो ॥

अन्तरजामी जानि धों, हरे बच्छ लै आय ।
जगत पितामह संभ्रम्यों हो, गये लोक फिरि धाय ॥
गर्व विधि को गयो ॥ १० ॥

देख्यो जाय जगाय बाल, गोसुत जहाँ राख्यो ।
विधि मन चकृत भयो,बहुरि वृज को अभिलाख्यो ॥
छिनु भूतल छिनु लोक में, छिनु आवै छिनु जाय ।
एसेंहि करत बरस दिन बीते,थकित भये बिधि पाय ॥
गर्व विधि को गयो ॥ ११ ॥

तब जान्यों हरि प्रकट ज्ञान चित्त में जब आयो ।
धिग धिग मेरी बुद्धि कृष्ण सों बैर बढायो ॥
लै गोसुत गोपाल शिशु, शरण गए ह्वै साध ।
चारिहु मुख अस्तुति करे हो,प्रभु क्षमो मोहि अपराध ॥
गर्व विधि को गयो ॥ १२ ॥

अब जानत हों करी तुमहि सों मैं बरि आई ।
प मेरे अपराध क्षमहु त्रिभुवन के राई ॥
ज्यों बालक अपराध शत जननी लेत संभारि ।
शरण गये राखत सदा हो औगुण सकल बिसारि ॥
गर्व विधि को गयो ॥ १३ ॥

ज्यों खद्योत उड़ि जाय ताहि क्यों तिमिर नसावै ।
दीपक बहुत प्रकाश तरनि सम क्यों कहि आबै ॥
मैं ब्रह्मा इक लोक को ज्यों गूलरि फल जीव ।
प्रभु तुम्हरे यक रोंम प्रति हो,कोटि ब्रह्मा अरु शीव ॥
गर्व विधि को गयो ॥ १४ ॥

मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया ।
मिथ्या है यह देह कहो क्यों हरि बिसराया ॥
तुम बिनु जानै जीव सब उतपति प्रलय समाहिं ।
शरण मोहि प्रभु राखिये हो चरण कमल की छाहिं ॥
गर्व विधि को गयो ॥ १५ ॥

कीजै मोहि व्रज रेणु देहु बृंदाबन बासा ।
मांगौ यहै प्रसाद और नाहीं मेरे आसा ॥
जोई भावै सो करो, लता सलिल द्रुम गेह ।
ग्वाल बाल को भृत्य करौ हो, मनहिं सत्यव्रत जेह ।
गर्व विधि को गयो ॥ १६ ॥

जो दरशन नर नाग अमर सुरपति हु न पायो ।
खोजत जुग गये बीति, अंत मोहू न दिखायो ॥
यह व्रज पारस नित्य है मैं अब समुझी आय ।
बृंदाबन रज ह्वै रहों मोहि, ब्रह्म लोक न सुहाय ॥
गर्व विधि को गयो ॥ १७ ॥

मांगत बारंबार शेष ग्वालनि को पाऊँ ।
आजु लियो कछु जानि भक्ष करि उदर पुराऊं ॥
अब मेरे निज ध्यान यहै, रहो जूठ नित खाय ।
और बिधाता कीजिये हो, मैं नहिं छोडो पाय ॥
गर्व विधि को गयो ॥ १८ ॥

तब बोले प्रभु आप वचन मेरो अब मानो ।
और काहि विधि करों तुमहिं ते कौन सयानो ॥
तुम ज्ञाता कर्म धर्म के, तुमते सब संसार ।
मेरी माया अति अगम, वोंहि कोऊ न पावे पार ।
गर्व विधि को गयो ॥ १९ ॥

श्री मुख बानी कहत विलंब, अब नेक न लावहु ।
व्रज परिक्रमा करहु देह के पाप नसावहु ॥
तुरत जाहु वहि लौक को, बिधि कीनी मनुहारि ।
ब्रह्मा करि अस्तुति चले हो, हरि दीन्हो उर हारि ॥
गर्व विधि को गयो ॥ २० ॥

धनि बछरा धनि बाल जिनहि तें दरशन पाये ।
उर मेरो भयो धन्य कृष्ण माला पहिराये ॥
धनि जशुमति जिन बसि किये अबिनाशी अवतारि ।
धनि गोपी जिनके सदन हो, माखन खात मुरारि ॥
गर्व विधि को गयो ॥ २१ ॥

मथुरा आदि अनादि देह धरि आपन आये ।
धनि देवै वसुदेव पुत्र मांगै तुम पाये ॥
चारि बदन मैं कहा कहों, तुम्हरी महिमा गाई ।
सहसानन निशि दिन रटें हो तऊ न गाई जाई ॥
गर्व विधि को गयो ॥ २२ ॥

गाय चरावत ग्वालनु संग करत जेहि ध्यान लगायो ।
ते व्रजबासिन संग रहत अति प्रेम बढायो ॥

वृन्दाबन व्रज को महत कापें बरन्यो जाय ।
चतुरानन पद परसि के हो, गयो लोक सुख पाय ॥
गर्व विधि को गयो ॥ २३ ॥

हरि लीन्हों अवतार पार सारद नहिं पावै ।
सतगुरू कृपा प्रताप कछुक तातें कहि आवै ॥
सूरदास कैसे कहे महा पतित अवतार ।
शेष सहश मुख जपत सदा हो,सोऊ न पावत पार ॥
गर्व विधि को गयो ॥ २४ ॥

राग धनाश्री

माधो जू जो जन सौ बिगरै ।
सुनि कृपाल, करुणामय कबहू, प्रभु नहि चित्त धरे ॥
जो शिशु जननी जेठर अन्तरगत, शत अपराध करै ।
तऊ तनय तोषि पोषि चित्त, विगसित अंक भरै ॥
द्विज रसनादलि दुःखित होत तब, तो रिसकाहि करै ।
क्षमि द्यत क्षोभ खीर मधु मिश्रित, मुख समीप संचरै ॥
यदपि विटप जरह तन हेतु करि, कर कुठार पकरै ।
तदपि सुभाव सुशील सुशीतल, रिपु तन ताप हरै ॥
धर विध्वंसि हल हतत कृषि करि, बैर बीज संचरै ।
सो सनमुख मुख सहित सतोगुण,शशि बहु फरनि फरै ॥
कारन करन अंत अजित, कहि कहि चरण परै ।
यह कलिकाल चलत नहि मोपें, सूरशरणहि धरै ॥

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	६	मुख्य	मुख्य है
६	१७	ह्याश्च	प्याश्च
१२	६	चयत्र	चय्या
१७	६	बहिशुं	बहिःशु
२२	२	श्वदु	श्वतु
२५	६	(नवीन जिनमें)	×
२६	१७	तानां वृष्टि	तानांगति सूचिका वृष्टि
२०	८	ततोप्यन्यतराणि	ततोप्यनन्तानि
३६	६	सुवर्णयानि	सुवर्णमयानि
७१	१४	शङ्क्यास	शङ्क्याहास
७७	२१	अरुणा	ऊरुणा
७८	१६	पय	मय
७६	४	अर्थों	हाथों
८४	१	त्ययुक्तं	त्युक्तं
८४	१०	स्ततल	स्तल
८८	७	हरने	रहने
८६	१५	शाली	शालिनी
१०४	१६	क्रियावयाथा	क्रियावस्थाया
१०६	६	वतत्यर्थ	वृत्यर्थ
१२७	१०	जम्भा	जृम्भा
१२६	६	कारण	करणा
१४१	३	सम्भावत्	सम्भवात्
१४८	१५	सुन्दर्यःगावः	सुन्दर्योगावो
१६७	११	कृतत्रत	कृतवत्य
१७५	२४	केस	कंस
१७५	२६	तवान् स्वधर्म	तवान् भगवान् स्वधर्म
१६२	३	बलाहित	बलरहित
१६३	१७	तये, बते	तयै, क्ते
२०२	८	तन्गृ	तन्गृं
२०४	२२	तादृशं भवति	तादृशं भिन्नं भवति
२१२	२६	अर्थात...अपने	×
२२०	२०	सदैव	यदैव
२४२	६	रोचुः	प्रोचुः
२४७	८	न्येषु सुव्य	त्येषु सुष्ठुव्य
२५४	५	सम्बन्धिक्ति	सम्बन्धि भक्ति
२५५	२	संत्पुत	संप्लुत
२५६	१६	द्र	दृग
२७६	६	विन्ये	विन्दे
२६८	१८	हेतुनन्दहिगे	हेतुर्नन्दगेहि
३०३	१२	कुचपगं	कुचयुगं
३१६	६	यश्टि	यष्टि
३२१	१६	केदाप्य	केनाप्य
३२४	२६	आकृत	प्राकृत
३२७	१०	क्या	काया
३२६	२	यशददातिवाद्यति	यशोददातिद्यतिवा
३३०	१	स्वस्यैवबन्धने	स्वस्यैव स्ववमेवबन्धन
३४४	१०	दोधि	दोपि
३४७	२३	भगवनित्वा	भगवत्वानि
३५१	६	स्त्रीद्रू	स्त्रीद्यू
३५६	५	तत्रादेह	तत्राहदेह
३७२	१३	भगवकिया	भगवत्क्रिया
३७६	२२	शाङ्रवा	साङ्ख्य
३८०	१७	शन्को	शक्नो
३८६	४	प्रातु	प्रादु
३६३	६	स्वाचष्ट	स्वाष्ट
३६६	११	आमनय	आमन्त्रय
४०४	२०	त्वमौ	वत्सौ
४०४	२२	असुर और	असुर बक और
४०८	१	के होन	के न होने
४०८	१४	दम्नि	दम्ना
४१०	१०	तदुक	तदुक्तं
४१०	१७	बेलसो	चेतसो
४१३	१८	ककी	कभी
४१३	२०	कु	कु

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४१४	१०	स्ले	स्थूले
४१५	८	हष	हर्षं
४१८	१९	उपन्दन	उपनन्द
४२४	१	श्लोक की पहली पंक्ति छुट गई है	श्लोक--यावदौत्पातिको रिष्टोव्रजंनाभि भवेदित:
४२८	४	तुतारी	तुरही
४२८	७	एव महान्	एव सर्वत इति सकृदेव महान्
४३१	५	भगवत	भागवत
४३१	६	अकर	अक्रूर
४३३	४	काल	काला
४३४	२०	के दोनों	के बने हुए दोनों
४३४	२०	खिलोने	बैलों
४३५	१५	हुए गो	हुए दोनो और चक्कोंकाले गो
४४४	२४	व्रज	वज्र
४४५	८,१०,२५,२६	व्रज	वज्र
४५४	१०	अथा	रथा
४५८	५	नाण्राणि:	नारणि:
४७८	९	नाप्चु	नाप्यु
४७९	१अ	तेवा	देवा
४८६	१	अगवान्	भगवान्
४९५	९	त्वाभी	त्वार्भा
४९७	१६	मुक्त्वा	भुक्त्वा
५००	२८	अन्तरध्यान	×
५०४	९	तत्तदावं	तत्तम्दावं
५०७	१५	भातृ	मातृ
५२९	४	छ्रदुन्मीस्य	छ्रादुन्मील्य
५४७	६	हू उत्पन्न	उत्पन्न हूं
५४७	१८	मस्तिषक	मस्तिष्क
५५०	२४	नारायरवा	नारायणो
५६१	२	स्मय	स्वय
५६७	७	एगत्र	एकत्र
५७०	१३	मैंने	आपने
५७३	२३	प्रच्छं	पुच्छं
५७६	२	नन्वेत्	नन्वेतत्
५८०	८	तटले	तट पर ले
५८२	५	वन में	वन से
५८८	१०	किञ्चन	×
५८९	१५	कंवल	कमल

श्लोकों की अनुक्रमणिका-तामस प्रमाण प्रकरण

अध्याय १ से ७

क्र० सं०	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
१	अतोऽर्हत: स्थावरतां	६	२१	३६५
२	अथान्यदपि कृष्ण	३	३	१२७
३	अथाप्यभि भवन्त्येनं	७	४६	४५४
४	अथो यथावन्न वितर्कं	४	४१	२६६
५	अध: शयानस्य शिशो	३	७	१३५
६	अनुजानीहि नौ	६	३७	३६१
७	अन्त: प्रविश्यगङ्गा	६	४	३४६
८	अन्ध कूप गभीराक्षं	२	१६	६०
९	अन्वञ्चमाना जननी	५	१०	३१४
१०	अयंवै रोहिणी पुत्रो	४	१२	१६६
११	अलक्षितोस्मिन्	४	१०	१६६
१२	अवाद्यन्त विचित्राणि	१	१३	३०
१३	अविदूरे व्रजभुव:	७	२७	४३३
१४	अव्यादजोङ् घ्रिमणि	२	२२	६८
१५	असत: श्री मदान्धस्य	६	१३	३५८
१६	अस्त्वित्युक्त: स	४	५०	२८३
१७	अहो ते देवकी पुत्रा:	१	२६	५३
१८	अहो बतात्यद्भुत	३	३३	१७०
१९	अहो बतास्य बालस्य	७	४५	४५३
२०	अहो ब्रह्मविदांवाचो	७	४७	४५५
२१	अहं ममसौ पतिरेष	४	४२	२७१
२१	अहो ब्रह्म विदां वाचा	७	५७	४५५
२२	आदाय मात्रे प्रति	३	३०	१६७
२३	आसन् वर्णास्त्रयो	४	१४	२०२
२४	इति खरपवनचक्र	३	२४	१६१
२५	इति नन्दादयो गोपा: कृष्ण	७	४८	४५६
२६	इति नन्दादयो गोपा: प्रोक्ता	१	३२	५६
२७	इति प्रणय बद्धाभि:	२	२०	१०८
२८	इति बालक मानोय	३	१४	१४७
२९	इति सञ्चिन्तयज्	४	९	१६५
३०	इत्थं विदिततत्त्वाया	४	४३	२७३
३१	इत्थं संकीर्तित:	६	३९	३६४
३२	इत्यन्तरेणार्जुनयो	६	२६	३७१
३३	इत्यात्मानं समादिश्य	४	२१	२१६
३४	इत्युक्तौ तं परिक्रम्य	६	४३	३६६
३५	इन्द्रियाणि हृषीकेश:	२	२४	१०२
३६	इषामात्रो ग्रदंष्ट्रा	२	१५	६०
३७	उत्तार्य गोपी सुभृतं	५	७	३१०
३८	उत्था तव्य मितो	७	१२	४१६
३९	उलूखलंविकर्षन्तं दाम्ना बद्धंच	७	३	४०८
४०	उलूखलंविकर्षन्तं दाम्नाबद्धंस्व	७	६	४११
४१	उल्ख लाङ् घ्रे रुपरि	५	८	३११
४२	ऊचुस्थ वसित	३	९	१३९
४३	ऋषेर्भगवतस्तस्य	६	२४	३६८
४४	एकदा क्रीडमानास्ते	४	३२	२५३
४५	एकदा गृहदासीषु	५	१	२६८
४६	एकदा रोह मारूढं	३	१८	१४९
४७	एकदार्भकमादाय	३	३६	१७५
४८	एतद् विचित्रं सह	४	३९	२६५
४९	एवं धार्ष्ट्यान्युशति	४	३१	२४९
५०	एवं प्रदर्शिताह्यङ्ग	५	१९	३३१
५१	एवं विहारै: कौमारै:	७	४९	४५७
५२	एवं व्रजौकसां प्रीतिं	७	२६	४३२
५६	एवं साधारणं देह	६	१२	३५७
५४	एवं सम्प्रार्थितो विप्र	४	११	१९८
५५	एवं स्वगेहदामानि	५	१७	३२८
५६	एष व: श्रेय आधा	४	१७	२०८
५७	औत्थानिकौत्सुक्य	३	६	१३१
५८	कट भूमस्य सौरभ्य	२	४१	११४
५९	कथ्यतां भगवन्नेतत्	६	१	३४२
६०	कदाचिदौत्थानिक	३	४	१२८

क्र० सं०	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
६१	कदाचिद् यमुनातीरे	७	३०	४३७
६२	करो वै वार्षिको दत्तो	१	३१	५५
६३	कलेवरं परशुभिश्छि	२	३३	१११
६४	कस्मान् मृदमदान्ता	४	३४	२५७
६५	कंसः पापमतिः सख्यं	४	८	१९४
६६	कंसेन प्रेषिता घोरा	२	२	६३
६७	कालेन व्रजता तात	४	२२	२१८
६८	कालेन सनानशौचा	१	४	१६
६९	कालेनाल्पेन राजर्षे	४	२७	२३७
७०	किं नस्तपश्चीर्णमधो	३	३४	१७२
७१	किं पुनः श्रद्धया भक्त्या	२	३६	११२
७२	किं स्वप्नमेतदुत	४	४०	२६७
७३	कृतागसं तं प्ररु	५	११	३१७
७४	कृष्ण कृष्ण महायोगिं	६	२९	३७८
७५	कृष्णं महाबकग्रस्त	७	३९	४४६
७६	कृष्णास्तु गृह कृत्येषु	५	२२	३३५
७७	कृष्णस्य गोप्यो रुचिरं	४	२८अ	२४२
७८	कृष्णो ब्रह्मण आदेशं	४	५२	२८६
७९	कोटरा रेवती ज्येष्ठा	२	२७	१०५
८०	क्वचित् पशव्यं विरुजं	१	२६	४९
८१	क्वचिद् वादयतो वेणून	७	२८	४३४
८२	क्षौमं वासः पृथुक	५	३	३००
८३	खं रेदसी ज्योति	३	३८	१७९
८४	गर्गः पुरोहितो राजन्	४	१	१८६
८५	गल ग्रहण निश्चेष्टो	३	२८	१६४
८६	गावो वृषाश्च वत्सा	१	७	२०
८७	गावः सर्व गुणोपेता	३	१६	१४८
८८	गृहीत्वा परपादाभ्यां	७	३२	४३९
८९	गृह्यमाणैः स्त्व	६	३२	३८३
९०	गोकुलं सर्वमावृण्वन्	३	२१	१५७
९१	गोधनानि पुरस्कृत्य	७	२१	४२८
९२	गोप वृद्धामहोत्पाता	७	१०	४१८
९३	गोपान् गोकुल रक्षायां	१	१९	४०
९४	गोपाः परस्परं हृष्टा	१	१४	३२
९५	गोपा नन्दादयः श्रुत्वा	७	१	४०६
९६	गोपीभिः स्तोभितो	६	७	४१२
९७	गोप्यश्च गोपाः किल	३	३१	१६९
९८	गोप्यश्चाकर्ण्य मुदिता	१	९	२१
९९	गोप्यःसंस्पृष्टसलिला	२	२१	९६
१००	गोप्यः सुमृष्टमणि	१	११	२६
१०१	गोप्यो रूढरथा	७	२२	४२८
१०२	गोमूत्रेण स्नापयित्वा	२	२०	८५
१०३	चक्रवातेन नीतोयं	७	१४	४२२
१०४	चक्रयग्रतः सहगदो	२	२३	१०१
१०५	जातयोनौ महादेवे	४	४९	२८२
१०६	ज्ञातं मम पुरैवैत	६	४०	३९५
१०७	ज्योतिषामयनं साक्षात्	४	५	१९१
१०८	ज्योतिश्चक्रं जलं तेजो	४	३८	२६४
१०९	डाकिन्यो यातुधान्य	२	२७	१०५
११०	तच्छ्रुत्वैकाधियो गोपाः	७	१९	४२६
१११	तत आरभ्य नन्दस्य	१	१८	३७
११२	ततो भक्तिर्भगवति	४	५१	२८४
११३	ततस्तु भगवान् कृष्णो	४	२८	२३९
११४	तत् तत्राद्यैव यास्यामः	७	१८	४२५
११५	तत्रोपनन्दनामाह	७	११	४१८
११६	तत्र श्रिया परमया	६	२८	३७३
११७	तथा यशोदा रोहिण्या	७	२३	४२९
११८	तदहं मत्तयोर्माघव्या	६	१९	३६४
११९	तदा बकारिं सुरलोक	७	४२	४५०
१२०	तद् गच्छतं महाभागो	६	४२	३९८
१२१	तद् दाम बध्यमान	५	१५	३२५
१२२	तन्मातरौ निजसुतौ	४	२४	२२६
१२३	तमश्मान मन्यमान	३	२७	१६३
१२४	तमापतन्तं स	७	४१	४४८
१२५	तमङ्कमारूढ	५	५	३०५
१२६	तमन्तरिक्षात्	३	२९	१६६
१२७	तस्मान् नन्दात्म	४	२०	२१३
१२८	तस्मै तुभ्यं भगवते	६	३३	३८५
१२९	तस्मै स्तनं दुर्जर	२	१०	७७
१३०	तस्याः स्वनेनाति	२	१२	८३

क्र० सं०	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
१३१	तं तालुमूलं प्रद	७	४०	४४७
१३२	तं दृष्ट्वा परम	४	२	१८८
१३३	तं दृष्ट्वा व्रीडिता	६	६	३४८
१३४	तं दृष्ट्वा सहसो	१	२१	४३
१३५	तं मत्वात्मज	५	१४	३२३
१३६	तं वत्सरूपिणं	७	३१	४३८
१३७	ता आशिषः प्रयुञ्जा	१	१२	२७
१३८	तामत्तयष्टि प्रस	५	६	३१३
१३९	तावङ्घ्रियुग्म	४	२३	२२३
१४०	तावन् नन्दादयो	२	३१	१०६
१४१	तासाभविरतं कृष्णे	२	४०	११३
१४२	तां केशबन्धव्यति	२	५	६६
१४३	तां तीक्ष्ण चित्ता	२	६	७५
१४४	तां स्तन्य काम	५	४	३०४
१४५	तृणावर्तः शान्त रयो	३	२६	१६३
१४६	ते तत्र दद्दशुर्बाला	७	३७	४४४
१४७	ते तत्र वर्णितं	२	४२	११४
१४८	तैस्तैः कामैरदीना	१	२६	३५
१४९	तौ दृष्ट्वा मदिरा	६	७	३४६
१५०	तौ वत्सपालकौ	७	३५	४४२
१५१	त्यत्सवा दृष्टि सुतं	५	१२	३१६
१५२	त्रय्या चोपनिषद्भि	४	४५	२७६
१५३	त्वमेकं सर्व भूतानां	६	३०	३८०
१५४	त्वं महान् प्रकृतिः	६	३१	३८२
१५५	त्वं हि ब्रह्म विदां	४	६	१६२
१५६	दरिद्रस्यैव युज्यन्ते	६	१७	३६२
१५७	दरिद्रो निरहं स्तम्भो	६	१५	३६०
१५८	दर्शयंस्तद्विदां	७	६	४१५
१५९	दह्यमानस्य देहस्य	२	३४	१११
१६०	दिष्ट्या भ्रातः प्रवयस	१	२३	४५
१६१	दिष्ट्या संसार चक्रे	१	२४	४७
१६२	दृष्ट्वादभूतानि	३	३५	१७४
१६३	दृष्ट्वा यशोदा प्रमुखा	३	८	१३८
१६४	देवर्षिर्मे प्रियतमौ	६	२५	३६६
१६५	देव संज्ञितमप्यन्ते	६	१०	३५४
१६६	देवाश्च परि सन्तुष्टा	७	३४	४४१
१६७	देहः किमन्नदातुः स्वं	६	११	३५६
१६८	दैत्यो नाम्ना तृणा	३	२०	१५५
१६९	द्रोणो वसूनां प्रवरो	४	४८	२८१
१७०	धेनूनां नियुते प्रादाद्	१	३	१६
१७१	न चान्तनं बहि	५	१३	३२०
१७२	न ते तदुक्तं जगृ	७	५	१४०
१७३	न ते श्रद्दधिरे	३	१०	१४०
१७४	नन्दो महामनास्ते	१	१५	३३
१७५	नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने	१	१	११
१७६	नन्दस्य पत्नी कृत	३	५	१३०
१७७	नन्दः किमकरोद्	४	४६	२७७
१७८	नन्दः पथि वचः	२	१	६१
१७९	नन्दः स्वपुत्रमादाय	२	४३	११५
१८०	नमः परम कल्याण	६	३६	३६०
१८१	न यत्र श्रवणादीनि	२	३	६५
१८२	नवकुङ्कुमकिञ्जल्क	१	१०	२३
१८३	न ह्यन्यो जुषतो	६	८	३५०
१८४	ना पश्यत् कश्च	३	२३	१६०
१८५	नायं सुखापो भगवान्	५	२१	३३४
१८६	नाहं भक्षितवानम्ब	४	३५	२५६
१८७	नित्यं क्षुत्क्षाम	६	१६	३६१
१८८	निशाचरीत्थंव्यथित	२	१३	८५
१८९	नूनं बर्तषिः सञ्जातो	२	३२	११०
१९०	नूनं ह्यदृष्टनिष्ठो	१	३०	५४
१९१	नेमं विरञ्चयो न	५	२०	३३२
१९२	नैकत्र प्रियसंवासः	१	२५	४८
१९३	पतमानोपि तद्देह	२	१४	८६
१९४	पद्भ्यां भक्त हृदिस्था	२	३७	११२
१९५	पयांसि या साम	२	३६	११३
१९६	पितरो नान्व विन्येतां	४	४७	२७६
१९७	पीत प्रायस्य जननी	३	३७	१७७
१९८	पुरा नारद शापेन	५	२३	३३६
१९९	पुरानेन व्रजपते	४	१८	२०६
२००	पुंसस्त्रिवर्गोभि	१	२८	५१

क्र० सं०	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
२०१	पूजित: सुख मासीन:	१	२२	४४
२०२	पूतना लोक बालघ्नी	२	३५	११२
२०३	पूर्ववत् स्थापितं	३	१२	१४४
२०४	पृश्निगर्भस्तु ते	२	२५	१०३
२०५	प्रागयं वसुदेवस्य	४	१५	३०३
२०६	बहूनि सन्ति नामानि	४	१६	२०४
२०७	बालग्रहस्तत्र	२	७	७१
२०८	बालं च तस्या उरसि	२	१८	९२
२०९	बाला: प्रोचुरनेनेति	७	४	४०९
२१०	बालेन निष्कर्षय	६	२७	३७१
२११	बिभर्ति क्वचिदा	७	८	४१३
२१२	भूमौ निधाय तं गोपी	३	१९	१४९
२१३	भूम्यां निपतितौ तत्र	७	२	४०७
२१४	भ्रातर्मम सुत:	१	२७	५०
२१५	महद् विचलनं नृणां	४	४	१९०
२१६	महार्हवस्त्राभरण	१	८	२१
२१७	मुक्त: कथञ्चिद्	७	१३	४२१
२१८	मुक्तं बकास्यादुप	७	४३	४५१
२१९	मुहुर्तमभवद् गोष्ठं	३	२२	१५९
२२०	य एतत् पूतनामोक्षं	२	४४	११६
२२१	य एतस्मिन् महाभागा:	४	१९	२११
२२२	यच्छ्रृण्वतोपैत्य	३	२	१२५
२२३	यथा कण्टक विद्धाङ्गो	६	१४	३५९
२२४	यदासीत् तदपि न्यूनं	५	१६	३२७
२२५	यदूनामपृथग्भावात्	४	१३	२०१
२२६	यदूनामहमाचार्य	४	७	१९४
२२७	यदिमौलोकपालस्य	६	२०	३६५
२२८	यदृच्छया च देवर्षि	६	५	३४७
२२९	यद्येवं तर्हिव्यादे	४	३६	२६१
२३०	यन्न म्रियेत द्रुमयो	७	१५	४२३
२३१	यर्ह्यङ्गनादर्शनीय	४	२५	२३०
२३२	यशोदा रोहिणीभ्यां	२	१९	९४
२३३	यस्यावतारा ज्ञायन्ते	६	३४	३८७
२३४	यातुधान्यपि सा	२	३८	११३
२३५	यानि यानीह गीतानि	५	२	२९९
२३६	यावदौत्पातिको	७	१६	४२४
२३७	येनयेनावतारेण	३	१	१२४
२३८	येऽसूयानृत दम्भे	३	१३	१४५
२३९	रुदन्तं सुतमादाय	३	११	१४२
२४०	रुदितमनुनिशम्य	३	२५	१६२
२४१	रुद्रस्यानुचरौ भूत्वा	६	२	३४३
२४२	रोहिणी च महाभागा	१	१७	३६
२४३	वत्सान् मुञ्चन्	४	२९	२४३
२४४	वनं वृन्दावनं नाम	७	१७	४२४
२४५	वल्गुस्मितापाङ्ग	२	६	६९
२४६	वसुदेव उपश्रुत्य	१	२०	४१
२४७	वाचयित्वा स्वस्त्ययनं जात	१	२	११
२४८	वाचयित्वा स्वस्त्ययनं नन्द	३	१५	१४७
२४९	वाणी गुणानुकथने	६	३८	३६२
२५०	वारुणीं मदिरां पीत्वा	६	३	३४५
२५१	वासुदेवस्य सानिध्यं	६	२२	३६६
२५२	विप्रा मन्त्रविदो	३	१७	१४८
२५३	विबुध्य तां बालक	२	८	७३
२५४	वृद्धान् बालान्	७	२०	४२७
२५५	वृन्दावनं गोवर्धनं	७	२५	४३२
२५६	वृन्दावनं सम्प्रविश्य	७	२४	४३०
२५७	वृषायमाणौ नर्दन्तौ	७	२९	४३५
२५८	व्रज: सम्मृष्टसंसिक्त	१	६	२०
२५९	व्रजन्तमव्याद्	२	२६	१०४
२६०	स एव मुक्तो देवर्षि	६	२३	३६७
२६१	स कपित्थैर्महा	७	३३	४४०
२६२	स जात कोप: स्फु	५	६	३०७
२६३	सद्यो नष्टस्मृति	४	४४	२७५
२६४	स भवान् सर्व लोक	६	३५	३८८
२६५	समेत्य चैकत्र कृता	३	३२	१७०
२६६	स वै बको नाम	७	३८	४४५
२६७	सन्तत्रसु:स्म: तद्	२	१७	९०
२६८	सा खेचर्थेकदोपेत्य	२	४	६८
२६९	सा गृहीत्वा करे	४	३३	२५५
२७०	सा तत्र दृष्टशेविश्वं	४	३७	२६३

क्र० सं०	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
२७१	साधूनां समचित्तानां मुकुन्द	६	१८	३६३
२७२	साधूनां समचित्तानां सुतरा	६	४१	३६६
२७३	सामुञ्च मुञ्चाल	२	११	८०
२७४	सावीक्ष्य विश्वं	३	३६	१८०
२७५	सूपविष्टंकृता	४	३	१८८
२७६	शृङ्ग्यग्नि दष्ट्	४	२६	२३४
२७७	सौमङ्गल्य गिरो विप्रा	१	५	१६
३७८	श्रुत्वा तद विस्मिता	७	४४	४५२
२७९	स्वप्नदृष्टा महोत्पाता	२	२६	१०५
२८०	स्वमातुः स्विन्न	५	१८	३२६
२८१	स्वं स्वं वत्स कुलं	७	३६	४४३
२८२	हन्यन्ते पशवो यत्र	६	६	३५३
२८३	हस्ताग्राह्ये रचयति	४	३०	२४७

श्लोकों की अनुक्रमणिका-प्रक्षिप्ताध्याय ३

क्र० सं०	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
१	अजनतां त्वत्पदवी	३	१६	५५६
२	अज्ञान संज्ञौ भवबन्ध	३	२६	५६४
३	अणिमाद्यैर्महिम	२	५२	५२३
४	अतः क्षमस्वाच्युत	३	१०	४४७
५	अत्र भोक्तव्यमस्मा	२	६	४६४
६	अत्रैव मायाधम	३	१६	५५३
७	अथापि ते देव पदा	३	२६	५६८
८	अथाघनामाभ्य	१	१३	४७०
९	अथापि भूमन् महिमा	३	६	५४२
१०	अद्यानेन महाव्याला	३	४८	५८३
११	अद्यैव त्वद्दृतेस्य	३	१८	५५४
१२	अनुजानीहि मां कृष्ण	३	३६	५७७
१३	अन्तर्भवेनन्त	३	२८	५६७
१४	अम्भोऽजन्मजनिः	२	१५	५००
१५	अस्मान् किमत्र ग्रसिता	१	२४	४७६
१६	अस्यैव देव वपुषो	३	२	५३७
१७	अहोतिधन्या व्रज	३	३१	५७०
१८	अहोतिरम्यं पुलिनं	२	५	४६४
१९	अहो भाग्य महो	३	३२	५७०
२०	अहो मित्राणि गदत	१	१६	४७३
२१	आत्मादिस्तंब	२	५१	४२३
२२	आत्मानमेवात्म	३	२५	५६४
२३	आस्तुतायाम मा	१	२२	४७५
२४	आंघ्रिमस्तकमा	२	४६	५२२
२५	इत एतेत्र कुत्रत्या	२	४२	५१८
२६	इतीरेशेतर्क्ये	२	५७	५२७
२७	इति व्यवस्या जगरं	१	१६	५७१
२८	इतिसञ्चित्यदाशार्हो	२	३८	५१५
२९	इत्थ द्विजा यादव	१	४०	४८५
३०	इत्थमात्मात्मनात्मा	२	२७	५०८
३१	इत्थं मिथो तथ्य	१	२५	४७६
३२	इत्थं सतां ब्रह्म सुखा	१	११	४६८
३३	इत्थं स्म पृष्टः स	१	४४	४८७
३४	इत्य भिष्टूय भूमानं	३	४१	५७९
३५	इत्युक्त्वाद्रिदरी	२	१४	४६६
३६	उत्क्षेपणं गर्भगतस्य	३	१२	५४९
३७	उत्थायोत्थाय कृष्ण	२	६३	५३२
३८	ऊचुश्च सुहृदः कृष्णं	३	४५	५८१
३९	एकदा चारयन् वत्सान्	२	२८	५०९
४०	एकस्त्वमात्मा पुरुषः	३	२३	५६१
४१	एकस्मिन्नपि यातेब्दे	३	४३	५८०
४२	एतत् कौमारजं कर्म	१	३७	४८३

क्र० सं०	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
४३	एतत् ते सर्वमाख्यातं	३	५६	५६०
४४	एतत् सुहृद्भिश्चरितं	३	६०	५६०
४५	एते यदा मत्सुहृदो	१	१५	४७१
४६	एवमेतेषु सुचिरं	२	४३	५१६
४७	एवं विधं त्वां सकला	३	२४	५६३
४८	एवं सकृद्ददर्शाज	२	५५	५२५
४९	एवं सम्मोहयन् विष्णुं	२	४४	५१६
५०	एषां घोषनिवासिना	३	३५	५७४
५१	एषां तु भाग्य महिमा	३	३३	५७१
५२	कालस्वभाव संस्कार	२	५३	५२४
५३	किमेतदद्भुतमिव	२	३६	५१४
५४	किं किं न विस्मरन्ती	३	४४	५८१
५५	कृत्यं किमत्रास्य	१	२८	४७८
५६	कृष्णमेनमवेहि	३	५५	५८७
५७	कृष्णवत्सैरस	१	३	४६४
५८	कृष्णस्य विष्वक् पुरु	२	८	४६५
५९	केचित् पुष्पैर्दलैः	२	९	४६६
६०	केचिद् वेणून्वाद	१	७	४६६
६१	केयं वा कुत आयाता	२	३७	५१५
६२	को वेत्ति भूमन् भगवन्	३	२१	५५८
६३	क्वचिद् वनाशाय मनो	१	१	४६३
६४	क्वाप्यदृष्ट्वान्त	२	१७	५०१
६५	क्वाहं तमो महदहङ्	३	११	५४८
६६	गावस्ततो गोष्ठ	२	२४	५०६
६७	गुणात्मनस्तेपि	३	७	५४४
६८	गोगोपिनां मातृ	२	२५	५०७
६९	गोपास्त द्रोघनाया	२	३२	५१२
७०	चतुर्भुजाः शङ्ख चक्र	२	४७	५२१
७१	चन्द्रिका विशदस्मेरैः	२	५०	५२२
७२	जगत् त्रयान्तो दधि	३	१३	५४९
७३	जानन्त एव जानन्तु	३	३८	५७६
७४	ज्ञाने प्रयास मुद पास्य	३	३	५३९
७५	तत् चेजु जलस्थं तव	३	१५	५५२
७६	तच्छ्रुत्वा भगवान्	१	३०	४७९
७७	ततोतिकायस्य निरूद्ध	१	३१	४८०
७८	ततोतिकुतु कोद	२	५६	५२६
७९	ततोतिहृष्टाःस्व	१	३४	४८१
८०	ततोनुज्ञाप्य भगवान्	३	४२	५७९
८१	ततो नृपोन्मर्दन	२	२३	५०५
८२	ततोर्वाक् प्रतिलब्धा	२	५८	५२९
८३	ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य	२	१६	५०१
८४	ततो विदूराच्चरतो	२	२९	५१०
८५	ततो हसन् हृषी केशो	३	४६	५८२
८६	तथति पाययित्वाभी	२	७	४९५
८७	ततः कृष्णो मुदं कर्तुं	२	१८	५०१
८८	ततः प्रवयसो गोपाः	२	३४	५१३
८९	ताधनच्छदा देवा	१	२९	४७९
९०	तदाघवदनान्	२	४	४९३
९१	तत्तद्वत्सान् पृथङ्	२	२१	५०४
९२	तत् तेनु कम्पां	३	८	५४५
९३	तत्र नैसर्ग दुर्वैरा	२	६०	५३०
९४	तत्रोद्वहत्पशुप	२	६१	५३०
९५	तदद्भुतस्तोत्रसु	१	३५	४८२
९६	तदस्तु मे नाथ स	३	३०	५६९
९७	तद् ब्रूहि मे महायोगिन्	१	४२	४८६
९८	तद् भूरि भाग्यमिह	३	३४	५७३
९९	तद् राजेन्द्रयथा	३	५१	५८५
१००	तद्वीक्षणोत्प्रेमरसा	२	३३	५१२
१०१	तन्मातरो वेणु	२	२२	५०४
१०२	तं दृष्टवा तादृशं सर्वे	१	१८	४७३
१०३	तम्यां तमोवन् नैहारं	२	४५	५२०
१०४	तस्मात् प्रियतमः	३	५४	५८६
१०५	तस्मादिदं जगद	३	२२	५५९
१०६	तान् दृष्ट्वा भय सन्त्र	२	१३	४९८
१०७	तान् वीक्ष्य कृष्णः	१	२७	४७८
१०८	तावत् प्रविष्टास्त्व	१	२६	४७६
१०९	तावत् सर्वे वत्सपालाः	२	४६	५२१
११०	तावदेत्यात्म भूरा	२	४०	५१६
१११	तावद् रागादयः स्तेना	३	६६	५७५
११२	तेनैव सर्वेषु बहि	१	३२	४८०
११३	तैनैव सार्धं पृथुकाः	१	२	४६४
११४	त्वामात्मानं परं	३	२७	५६६

क्र० सं०	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
११५	दावोष्ण खर वातोयं	१	२३	४७५
११६	दृष्ट्वात्वरेणनिज	२	६२	५३१
११७	दृष्ट्वाथतत्स्नेह	२	३०	५१०
११८	दृष्ट्वार्भकान् कृष्ण	१	१४	४७०
११९	देहात्मवादिनां पुंसा	३	५२	५८६
१२०	देहोपि ममताभाक्	३	५३	५८६
१२१	धरा धरोष्ठो जल	१	१७	४७२
१२२	नारायणस्त्वं न हि	३	१४	५५०
१२३	नैतद्विचित्रं मनुजा	१	३८	४८४
१२४	नैते सुरेशा ऋषयो	२	३९	५१६
१२५	नौमीड्य तेभ्रवपुषे	३	१	५३५
१२६	पश्येषमेनार्यमनन्त	३	९	५४६
१२७	पीनाहि भोगोत्थित	१	३३	४८१
१२८	पुरेह भूमन बहवोपि	३	५	५४१
१२९	प्रतिस्पर्धेते सृक्कि	१	२१	४७४
१३०	प्रपञ्चं निष्प्रपंचोपि	३	३७	५७६
१३१	फल प्रवालस्तबक	१	४	४६५
१३२	बर्हप्रसूनवनधा	३	४७	५८२
१३३	बिभ्रद् वेणुं जठर	२	११	४९७
१३४	ब्रह्मन् कालान्तर	१	४१	४८५
१३५	ब्रह्मन् परोद्भवे कृष्णे	३	४९	५८४
१३६	भारतैवं वत्सपेषु	२	१२	४९८
१३७	मुष्यन्तोन्योन्य	१	५	४६६
१३८	यत्पादपांसुर्बहु	१	१२	४६९
१३९	यदि दूरं गतः कृष्णो	१	६	४६६
१४०	यस्य कुक्षाविदं सर्वं	३	१७	५५४
१४१	यावद्वत्सकवत्स	२	१९	५०२
१४२	यावन्तो गोकुले बालाः	२	४१	५१७
१४३	राजन्नाजघरं चर्म	१	३६	४७३
१४४	वयं धन्यतमा लोके	१	४३	४८६
१४५	वस्तुतो जानता मत्र	३	५६	५८८
१४६	विकर्षन्तः कीशबाला	१	९	४६७
१४७	विच्छायाभिः प्रधा	१	८	४६७
१४८	व्रजस्य रामः प्रेम	२	३५	५१३
१४९	व्रजौकसां स्वतोके	२	२६	५०८
१५०	शनै रथोत्थाय	२	६४	५३२
१५१	श्रीकृष्ण वृष्णिकुल	३	४०	५७८
१५२	श्री वत्साङ्गददोरत्न	२	४८	५२२
१५३	शृणुष्वा वहितो राजन्	२	३	४९३
१५४	श्रेयः स्रुतिं भक्ति	३	४	५४०
१५५	सकृदयदंगप्रति	१	३९	४८४
१५६	सतामयं सारभृतां	२	२	४९२
१५७	सत्यज्ञानानन्ता	२	५४	५२५
१५८	सत्यमर्ककरारक्त	१	२०	४७४
१५९	सपद्यैवाभितः पश्यन्	२	५९	५२९
१६०	समाश्रिता ये पद	३	५८	५८९
१६१	समेत्य गावोधो	२	३१	५११
१६२	सर्वे मिथो दर्शयन्त	२	१०	४९६
१६३	सर्वेषामपि भूतानां	३	५०	५८४
१६४	सर्वेषामेव भावानां	३	५७	५८८
१६५	साकं भेकै विलङ्घ	१	१०	४६८
१६६	साधु पृष्ठं महाभाग	२	१	४९१
१६७	सुरेष्वृषिष्वीश	३	२०	५५७
१६८	स्वयमात्मात्म	२	२०	५०३

राग केदारो

रे मन गोपाल सों कर हेतु ।
नाम की दृढ बार कर ले उबरे तेरो खेतु ॥ १ ॥
मन सुवा तन पींजरा रे, बन्ध्यो रहत निकेतु ।
काल फिरत बिडाल तनु धरि, अब धरें तो हि लेतु ॥ २ ॥
विष विदारण सेय हरि को, उतरे सायरु सेतु ।
सूर भज गोविन्द को यों, गुरु बताए देतु ॥ ३ ॥

राग सोरठ

सोई भलो जो हरि यश गावे ।
श्वपच गरिष्ट हेत रज सेवक बिन गोपाल द्विज जन्म नसावे ॥ १ ॥
जोग यज्ञ जप तप तीरथ, भ्रमे जँह जँह जाय तहां उहकावे ।
होय अटल भगवन्त भजन तें अन्य आश नश्वर फल पावै ॥ २ ॥
कहुँ न ठौर चरण पंकज बिनु, जो दसहू दिसि फिरि फिरि आवे ।
सूरदास प्रभु साधु संग तें आनन्द अभय निशान बजावे ॥ ४ ॥

राग विहाग

भरोसो दृढ इन चरनन केरो ।
श्री वल्लभ नख चन्द्र छटा बिन सब जग माहिं अंधेरो ॥ १ ॥
साधन और नहीं या कलि में जासों होय निवेरो ।
सूर कहा कहें दुविध आंधरो विना मोल को चेरो ॥ २ ॥

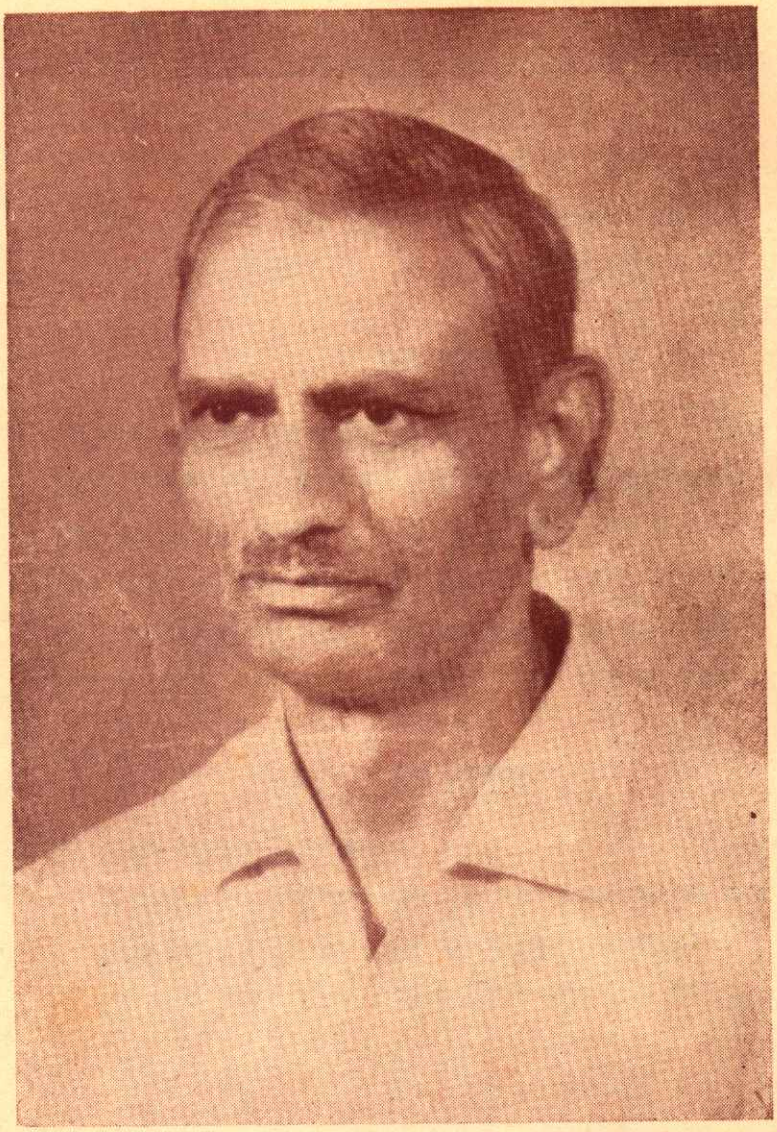

प. भ. श्री नन्दलालजी मातधना, साम्भर निवासी

श्री सुबोधिनी हिन्दी अनुवाद के सर्व प्रथम मनोरथी

। श्री हरि ।

प. भ. श्री नन्दलालजी मानधना साम्भर निवासी का संक्षिप्त जीवन वृत

परम भगवदीय श्री जेठमलजी मानधना (माहेश्वरी) की धर्मपत्नी श्रीमति जमुनाबाई साम्भर (राजस्थान) में एक पुत्र रत्न को प्रकट कर एक मास के भीतर ही परलोक सिधारी। नवजात शिशु श्री नन्दलाल के अग्रज भाई बहिन सब शान्त हो चुके थे, इसलिए उनके पितृ चरण के होते हुए भी इनके पूज्य मामाजी श्री गोवर्धनदास जी एवं श्री रामविलास जी सोनी के यहां इनका लालन पालन होने लगा। इनके मातृ एवं पितृ पक्ष के परिवार प्राचीन पुष्टि मार्गीय वैष्णव थे इससे इनमें बाल्यकाल से ही वैष्णवी सुसंस्कारों ने स्थान कर लिया। यह मातृहीन बालक माता के स्नेहयुक्त पोषण से तो वंचित था हो कि लगभग आठ वर्ष की अवस्था में इनके पितृ चरण ने भी सदैव के लिए अपने भतीजे श्री लक्ष्मीचन्दजी एवं इनके मामाजी श्री गोवर्धनदास जी सोनी को इन्हें सौंप कर गोलोक वास किया। इस प्रकार जिस बाल्यावस्था में एक बालक माता-पिता के लालन पालन से पल्लवित हो कर एक विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव करता है वह इन्हें प्राप्त नहीं हुआ। ये एक विचारशील बालक थे। इससे इनके कोमल हृदय में उत्साह एवं उल्लास के स्थान में उदासी ने घर कर लिया और इस अपार संसार में ये अपने आप को अकेले रह जाने का अनुभव करने लगे। इनको श्री लक्ष्मीचन्दजी जो बालोतरा के रेलवे स्टेशन के प्रमुख (स्टेशन मास्टर) थे, साम्भर से इन्हें बालोतरा ले आए कुछ समय तक वहां पर रख कर अपने एक मित्र के संरक्षण में उन्होंने जोधपुर में शिक्षण के लिए इन्हें भेज दिया। इनका मेट्रिक तक का शिक्षण हुआ तब ही इन्होंने अपने अध्ययन की इति श्री कर के रेलवे के लोको ऑफिस में एक क्लर्क का स्थान प्राप्त कर लिया। इस समय तक बाबू श्री लक्ष्मीचन्दजी का स्थानान्तर जोधपुर में क्लेम्स इंस्पेक्टर पद पर हो चुका था और इससे ये उनके साथ में ही रहने लगे थे। अब इनका अबोध बाल्यकाल समाप्त हो चुका था और विचार शीलता गाढ हो चुकी थी इससे रेलवे सर्विस कुछ मास तक कर, ये साम्भर में अपने पूज्य मामाजी की फर्म "गोरधनदास ग्वालदास" में कार्य करने को चले गए।

साम्भर में इनके मामाजी एक प्रतिष्ठित वैष्णव थे घर में भगवत्सेवा अच्छे ढंग पर होती थी, जहां नियम पूर्वक सत्संग कथावार्ता का काम चालू था, इससे इनका चित्त प्रसन्न रहने लगा और इनके स्वास्थ्य में भी अभिवृद्धि हुई। वहां पर ही इनका विवाह २३ जनवरी, १९२८ के शुभ दिन एक कुलीन सुयोग्य सुन्दर कन्या के साथ हो गया। संयोग वश वह भी पितृहीन अपने कई भाई बहिनों में से बची हुई इकलौती सन्तान माता के पास थी। स्वभाव की वह गम्भीर एवं मित–भाषी थी इससे इस नव दम्पति में उत्तरोत्तर स्नेह बढने लगा। अक्टोबर सन् १९२९ में बी० आर० हरमन एण्ड मोहता की सुविख्यात फर्म जिसकी एक शाखा लाहोर में थी उसमें इनको एक

क्लर्क का पद अच्छे वेतन पर प्राप्त हो गया। वहां पर इनकी कार्य दक्षता एवं परिश्रम से उन्नति हुई जिससे वेतन वृद्धि के साथ साथ विश्वसनीय कुशल कार्यकर्ताओं में इनकी गणना होने लगी। सन् १९३८ में इनको दिल्ली भेज दिया गया। वहां से लगभग एक वर्ष के पश्चात् इनका स्थानान्तर इलाहाबाद हो गया, जहां से ये सन् १९४० के जुलाई में मेनेजर, मारवाड़ सीमेंट कम्पनी के वर्तमान पद पर जोधपुर भेज दिए गए जहां का काम अव्यवस्थित था। यहां ये अथक परिश्रम एवं कार्य कुशलता से फर्म के प्रोप्राइटर राव बहादुर श्री शिवरतनजी मोहता के एक विश्वसनीय एवं सम्मानित कार्यकर्ता बन गए हैं। अच्छी वेतन, फर्म के लाभ पर उचित कमीशन तथा निजी शेयर बिज़नेस में पर्याप्त लाभ होने से इनकी आर्थिक दशा समुन्नित हो गई।

श्री नन्दलालजी का बाल्यवस्था में ही ब्रह्म सम्बन्ध पूज्यपाद गोस्वामी श्री गोपाल लालजी महाराज (शृंगारी ठाकुर) मथुरावालों द्वारा सम्पादित हुआ था। ये एक भावुक हरि गुरु वैष्णव सेवा परायण हैं। सौभाग्य से इनको एक पतिव्रता पत्नी प्राप्त हुई जिनका ब्रह्म सम्बन्ध पूज्यपाद तिलकायत श्री गोवर्धनलालजी महाराज श्री द्वारा हुआ था। श्री सौभाग्यवतीजी का सदैव से एक लक्ष्य यही रहा कि मन, क्रम, वचन एवं क्रिया से पति को हर समय प्रसन्न रखना इससे इनका दाम्पत्य जीवन सुख से बीतने लगा। सन्तानपक्ष इनका निर्बल रहा क्योंकि प. भ. सौभाग्यवति ने एक पुत्र को सन् १९४२ में जन्म दिया जो एक सप्ताह के पश्चात् शान्त हो गया। प्रसव काल में ही यह युवती वात रोग से ऐसी पीड़ित हुई कि जिससे ये कभी मुक्त न हुई। इसके पश्चात् इस दम्पती को संसार से वैराग्य हो गया और विशेषतया सौभाग्यवतीजी ने अपने शेष जीवन के समय को भगवत्सेवा व पति सेवा में ही व्यतीत किया। उनने व्रज चौरासी कोस की यात्रा दो बार की, श्री गिरराज की दंडवती परिक्रमा पति सहित सन् १९३९ में की पुरुषोत्तम मास में अधिकतर वे नाथद्वारा में ही रहती थीं। पुष्टिमार्गीय ग्रन्थ एवं अन्य सेवोपयोगी वस्तुओं का वैष्णव समाज को भेंट करने में उनकी अभिरुचि थी। भगवत्मंडलियों में रुग्ण दशा में भी उपस्थित होती थी जिससे जोधपुर में बहुत प्रसिद्ध हो गई। विधवा दुःखी महिलाओं को आर्थिक सहायता, विद्यार्थियों को छात्र वृत्ति देने में पतिदेव को प्रोत्साहित करती रहती थी। उनको अष्टछाप के अनेक पद कण्ठस्थ थे परन्तु लज्जाशील अधिक होने से मण्डली में पद गान कदाचित् ही करती थी।

श्री नन्दलालजी सन् १९६० में ही एक बहूमूल्य भूमि अंश लेकर चोपासनी मार्ग में ही भवन निर्माण इस अभिप्राय से करवाया कि जिससे चोपासनी से जोधपुर पधारते एवं वापिस लौटते समय पूज्यपाद गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज की कृपा दृष्टि इस भवन पर पड़ती रहे और यह स्थान इस पथ में होने से कदाचित् इस प्रकार कुछ सेवोपयोगी बन सके तथा श्री मद्वल्लभाचार्यचरण के सेव्य उन श्री श्याम मनोहर प्रभु को प्रसन्नता का कारण हो सके जिनकी सेवा में महाराज श्री रत हैं। इस भवन निर्माण की नींव पूज्य महाराज श्री के वरद् हस्त से डलवाई गई। सन् १९६३ से इस भवन में इन्होंने रहना आरम्भ किया जिससे पूर्व कई विवाह

गो. वा. परम भगवदीया श्रीमती सौभाग्यवती नन्दलाल मानधना

श्री सुबोधिनो–हिन्दी अनुवाद की द्वितीय मनोरथो

जैसे शुभ कार्य इसमें सम्पादन हुए। इनके भाई श्री लक्ष्मीचन्दजी के पुत्रादि पर इनका सहज स्नेह है।

वि० सं० २०२१ में अधिक चैत्र सुदि ७ (ता० २० मार्च, ११६४) के दिन प० भ० सौभाग्यवतीजी अपनी वयोवृद्धा माता के साथ तांगे में श्री श्याम मनोहर प्रभु के दर्शनार्थ चोपासनी संध्या के पांच बजे जा रही थी कि राह में घोड़े का पैर फिसलने से वह नीचे गिर गया इससे इस महिला भक्त की गर्दन पर झटका लगने और रीढ की हड्डी की नस को आघात पहुँचने से, गर्दन के नीचे का भाग शून्य हो गया और गांधी अस्पताल में बहूमूल्य उपचारों के पश्चात् ता० २६ मार्च, १९६४ के दिन दोपहर में मानसी भगवत्सेवा में लीन यह कहते हुए कि ठाकुरजी पधारे हैं जल्दी आरती जोड़ो श्रीमती सौभाग्यवतिजी अपने प्रिय पतिदेव को छोड़ कर चली गई। रुग्णावस्था में गरदन में भीषण पीड़ा होते हुए भी अष्टाक्षर मंत्र जप व पद कीर्तन का क्रम जारी था। जिस मनुष्य के माता पिता भाई बहिन, पत्नी एवं सन्तानादि होते हैं उस का स्नेह इन सब में विभाजित होता है परंतु श्री नन्दलालजी का स्नेह (इन सबके अभाव में) केवल पत्नी में ही केन्द्रीभूत था तथापि भगवत् कृपा से इन्होंने एक आदर्श वैष्णव होने का प्रमाण दिया कि गृह भंग जैसे आपत्ति काल में नेत्रों को सजल भी नहीं होने दिया न वाणी में कातरता आने दी जिसे देख कर बड़े बूढ़े सभी चकित हो गए। श्री मद्वल्लभाचार्य चरण के "विवेक धैर्याश्रय" ग्रन्थ को इस प्रकार व्यौहार में लाकर दिखा देना इस वैष्णव रत्न का ही कार्य था। पत्नी का दाह क्रिया करके लौटते समय जब मेरा हृदय द्रवी भूत दशा में था कहने लगे "भाई ! मेरे जीवन का दूसरा अध्याय आज समाप्त हुआ"। पहला अध्याय था माता पिता के लालन पालन व स्नेह से वञ्चित जीवन एवं परिश्रम से जैसे तैसे अपने पैरों पर खड़ा होना।

भगवद् कृपा से इनके जीवन का तीसरा अध्याय बड़े ही विलक्षण ढंग से प्रारम्भ हुआ। इनकी आयु पचास वर्ष से ऊपर होने पर भी इनके कुछ वैष्णव मित्रों ने इनके कोई सन्तान न होने से व भगवत्सेवा में सहायता के लिए पुनः विवाह करने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया। सब परिस्थितियों का अवलोकन कर इन्होंने स्वीकृति इस शर्त पर दी कि कन्या तीस वर्ष से अधिक उमर की व अपने ही समाज की हो। कदचित् इनने, वैष्णवों की आज्ञा उल्लंघन न हो और ये भी नवीन गृहस्थ जाल में न फंसे इस विचार से ही ऐसी कड़ी शर्त रखी हो। परन्तु भगवान अद्भुत कर्मा हैं। एक तेतीस वर्ष की सुशिक्षित कुलीन एवं धनी परिवार की कन्या का विवाह उसके ज्येष्ठ भ्राता ने इनके साथ अक्षय तृतीया वि० सं० २०२३, (२३ अप्रेल, १९६६) के दिन कर दिया। एक सप्ताह में श्रीमती शकुन्तलादेवी का ब्रह्मसम्बन्ध पूज्य पाद तिलकायत श्री गोविन्दलालजी महाराज द्वारा हुआ जिससे विवाह होने के एक पक्ष में ही श्री नन्दलालजी को निज इच्छानुकूल भगवत्सेवा में एक सहायक प्राप्त हो गया। सब से विचित्र बात यह है कि इनकी दोनों पत्नियों के स्वभाव, शरीर, कद, कदावर, हंसने बोलने के ढंग व पति सेवा में समानता है। प्रभु की लीला अनन्त है, वह कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथा कर्तुं कहलाता है। शकुन्तला देवी ने ३१ मार्च, १९६७ के दिन एक कन्या को जन्म दिया है जिसमें भद्गवभावों के दर्शन होते हैं।

श्री नन्दलालजी में हरि गुरु वैष्णव परायणता तो स्वभाव से ही विद्यमान है। सार्वजनिक कार्यों में भी उपयुक्त आर्थिक सेवा करते रहते हैं। साम्भर में स्थित श्री गोवर्धननाथजी के मंदिर भवन में कूप की व्यवस्था एवं भवन का जीर्णोद्धारादि कराया। चोपासनी से ३-४ माईल पर एक श्री नाथजी की बैठक है वहाँ रु० ५०००) को लागत का वैष्णवों के लिए एक कूप तैयार करवाया है। श्याम मनोहर प्रभु की सेवा में हर समय रत रहते हैं। श्रीमद्भागवत की टीका श्री मद्वल्लभाचार्य चरण विरचित सुबोधिनी का हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। इस अभाव की पूर्ति के लिए केवल एक बार कहने भात्र से इन्होंने एवं प० भ० सौभाग्यवतीजी ने रु० १०,०००.०० भेंट करके अनुवाद कार्य प्रारम्भ कराने में जो प्रशंसनीय सहयोग प्रदान किया है वह हिन्दी जगत् एवं सम्प्रदाय में चिर-स्मरणीय रहेगा। इनकी प्रथम पत्नी सौभाग्यवतीजी का मनोरथ था कि निष्काम सेवार्थ एक धर्मार्थ प्रन्यास (ट्रस्ट) का निर्माण किया जाए जिससे दीन दरिद्र महिलाओं, विद्यार्थियों, रोगियों की आर्थिक सहायता तथा आध्यात्मिक ग्रंथ प्रकाशन से सार्वजनिक सेवा हो सके। उनकी इच्छा पूर्ति निमित्त श्री नन्दलालजी ने, जो शेयर्स श्री सौभाग्यवतीजी के नाम के थे और जिनका मूल्य उस समय लगभग ७५,०००) रुपये का हो गया था, उस रकम का एक धर्मार्थ ट्रस्ट बनाने की स्वीकृति देदी। इस पर प्रसन्न होकर उनने एक वसियतनामा लिखवा लिया कि शरीर का क्या भरोसा है उनके गोलोकवास होने के पश्चात् श्री नन्दलालजी ने अपने विवाह होने की नई परिस्थिति के प्रलोभन में न आकर उस वसियतनामे के आधार पर "श्री सौभाग्यवती नन्दलाल मानधना चेरिटेबल ट्रस्ट" स्थापित कर दिया।

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल के कार्यालय को इन्होंने निज निवासस्थान में ही गत ७ वर्षों से रखा है।

श्री कृष्णचन्द्र आनन्दकन्द से हमारी विनम्र प्रार्थना है कि इन आदर्श वैष्णव के सब मनोरथ सफल हों और इनकी हरि गुरु वैष्णव सेवोपयोगी भावना उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। इस दीन किङ्कर पर इन महानुभाव की कृपा चिरकाल से रही है जिसके फल: स्वरूप पुष्टिमार्ग ग्रहण करने एवं इनकी पूर्व पत्नी सौभाग्यवती के गुरू भाई बनने (अर्थात् उनका और मेरा एक ही समय में ब्रह्मसम्बन्ध हुआ) का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। इनके प्रति मेरी पूर्ण श्रद्धा होने से एक वैष्णव जिनको महाप्रभुजी सानुभाव है उन को चम्पारण्य में श्री मद्वल्लाभाचार्य चरण की अपने प्राकट्य महामहोत्सव के दिवस वि० सं० २००७ में आज्ञा हुई कि इस को नन्ददास कहा करो तब ही से मुझे यह नाम प्राप्त हुआ यद्यपि मेरा लौकिक नाम रामचन्द्र है।

श्री नन्दलालजी की इच्छा न होने पर भी श्री अध्यक्ष महोदय पूज्य पाद गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज की एक मात्र आज्ञा पालन निमित्त यह लेख मैंने प्रस्तुत किया है।

तदीयजन चरणरजाभिलाषी
नन्ददास (रामचन्द्र)

॥ श्री हरिः ॥

गोलोकवासी प.भ. श्री यमुनादासजी मूंधड़ा व प.भ. चि. गिरधरलालजी मूंधड़ा, बीकानेर निवासी का संक्षित जीवन चरित्र

राजस्थान प्रान्त के श्री बीकानेर नगर में यह मूंधड़ा परिवार एक प्रमुख वैष्णव परिवार है। विष्णुस्वामि पथान्तर्गत श्री वल्लभ मार्गानुसरण करते हुए इस परिवार को लगभग १२५ (एक सौ पच्चीस) वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।

इस कुल के पूर्वज श्री सवाईरामजी (माहेश्वरी) मूंधड़ा थे। जिनके यहां श्री फतहचन्दजी तथा उन्हीं के सुपुत्र स्वनाम धन्य श्री मदनगोपालजी मूंधड़ा हुए। आप महामना, उदार एवं भगवदासक्त पुरुष थे।

जिस समय कलकत्ता नगरी में माहेश्वरी समाज द्वारा संचालित व्यापार व्यवसाय का प्रायः अभाव सा ही था उस समय सर्व प्रथम आपने सूती कपड़े का व्यवसाय आरम्भ कर अपने श्रम एवं लगन से उत्तरोत्तर व्यवसाय में उन्नति की। भविष्य में उनके सुपुत्र श्री नरसिंहदासजी ने वूलन (ऊनी वस्त्र) की दुकान खोली जो अब विशाल रूप से चालू है जिसे उनके द्वितीय सुपुत्र श्री गोकुलदासजी ने संचालित कर रखी है।

उपरोक्त उल्लेख के प्रमाण में कि श्री मदनगोपालजी महोदय भगवदासक्त पुरुष थे, इतना उल्लेख ही उपयुक्त है कि आपने अपने गृह बटवारे में भौतिक सम्पत्ति का मूल्य अल्प आंकन कर परम्परागत पंच सैवोपासना के स्वरूपों में से पारलौकिक भावरूप युगल स्वरूप श्री मदनमोहनलालजी एवं उनकी श्री स्वामिनीजी को ही अपना मान कर स्वीकार किया और जिन्हें पुष्टि मार्गीय स्वरूपों के रूप में पुष्ट करा कर उनकी सेवा का क्रम वल्लभ कुल सेवा पद्धति के अनुसार चालू किया। इन के अतिरिक्त बीकानेर में बालू के धोरों में अकस्मात् एक स्वरूप इनके नानाजी को प्राप्त हुआ जो श्री बालकृष्ण का स्वरूप है। इस स्वरूप द्वारा स्वप्न में उन्हे यह आज्ञा हुई कि मुझे तुम श्री मदनगोपालजी के यहां पधरा आवो। इस प्रकार यह स्वरूप तथा अन्य स्वरूप भी उनके यहां कृपा पूर्वक विराज रहे हैं। यथा :—

जिनके गृह सतब्द अवधि सो ठाकुर सहित समाजै,
लैन सतत संततिगत सेवा धन्य करन के काजै।
यशोदात्संग ललित लालम श्री बालकृष्ण शुभ भ्राजै,
मन्मथ मोहनलाल स्वामिनियुत मधिनायक राजै।
†श्री बल्लभ आचार्य चरण के श्री हस्ताक्षर गाजै,
श्री गोकुलनाथ अनाथ नाथ के चरणपादु सुविराजै।

---

† श्री आचार्य चरण श्रीमद्वल्लभाचार्य के श्री हस्ताक्षर स्वनाम धन्य श्री यमुनादासजी मूंधड़ा द्वारा पधराये हुए हैं।

विष्णु स्वामि पथान्तरगत श्री वल्लभ मारग अनुसर,
वैश्य मूंधड़ा वंश कुलोद्भव मदनगोपाल मान्यवर।
सेवा-व्रत मस्तकधर सुखकर सब स्वरूप पधराए,
कलिकाताख्य नगर प्रभु हित तजि श्री बीकापुर आए।

श्री बीकानेर में आकर आपने प्रभु हित क्या किया ? उसका उल्लेख इस भांति है—

शहर द्वार नत्थूसर बाहिर मारग करमीसर के,
सैसोलाव तालाव निकट स्थित मंदिर विश्वेश्वर के।
मालिक नरसिंहसाय मदनगोपाल मुख्यात फर्म के,
निज नामाख्य बगीची क्रय करि राखी हित मंदिर के।
ता थल कों जु पवित्र करन सौभाग बढ़ावन हित को,
*परम दिव्य मंदिर समरायौ मकराना पत्थर को।
जहं श्री मदनमोहनलाल प्रभु परिकर सहित विराजै,
श्री श्री मदनगोपाल वंश को धन्य करन हित काजै।

श्री मदनगोपालजी के श्री नरसिंहदासजी तथा उनके यहां सुपुत्र रूप से श्री यमुनादासजी आदि पाँच पुत्रों एवं दो सुपुत्रियों का जन्म हुआ तथा श्री यमुनादासजो के गो. वा. श्री घनश्याम-दासजी, चि० जीवनदास, चि० रणछोड़दास, चि० दामोदरदास, चि० कृष्णदास, चि० उद्धवदास का जन्म हुआ ये पुत्र पौत्रादि सब परिवार अद्यावधि प्रभु सेवारत हैं।

पद्य

पुत्र पौत्रादि सकल परिकर परिवार रहत सेवारत,
अद्यावधि तव सौं नित तन मन धन निज संपति अरपत।
श्री नरसिंह स्वरूप इष्ट-वत सेवत पूर्व समय तै,
तिन प्रताप नरसिंह सुत पायो मदन गोपाल अंशतै।
शुभ श्री कुक्षि "राधा" तै प्रकटे यमुना, गोकुल गिरिधर,
गोपालदास अरू ग्वाल दास वाई बैया, छुटियावर।

गो.वा.प.भ. श्री यमुनादासजी—

श्री यमुनादासजी मूंधड़ा महोदय, बुद्धिमान, सहृदय एवं विचारशील थे। अपने जीवन काल में आपने एक कुशल व्यापारी के नाते व्यापारिक धनिक वर्ग में तथा प्रभु-सेवा-संलग्न-चित्त युक्त उच्च कोटि के वैष्णव नाते से वैष्णव समाज में अग्र-गण्यता प्राप्त की। आप का इस कुल उस कुल दोनों कुलों में अधिक सम्मान एवं प्रतिष्ठा रही है। पू० पा० गौस्वामी श्री कन्हैयालालजी महाराज प्रथम पीठाधीश्वर कोटा वालों द्वारा ब्रह्म—सम्बन्ध प्राप्त कर श्री मथुरानाथजी के घर

---

* यह मंदिर श्री यमुनादासजी, श्री गौकुलदासजी महोदयों द्वारा सिद्ध करवाया गया है।

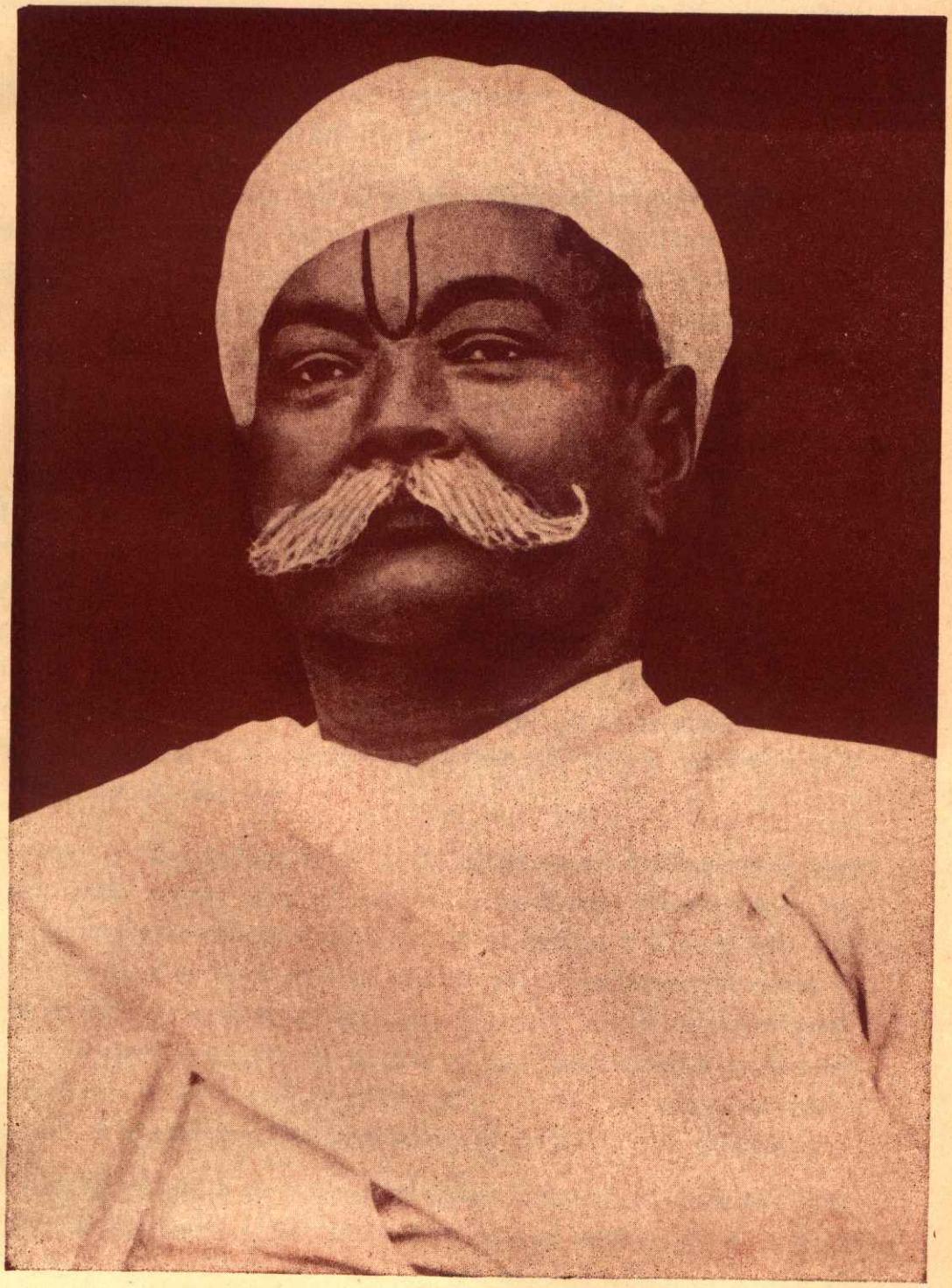

प. भ. गोलोकवासी श्री यमुनादासजी मूंधड़ा बीकानेर निवासी

को आपने अपना गुरू गृह बनाया। बीकानेर में श्री मदनमोहनलालजी की सेवा आप आजीवन सस्नेह करते रहे। कारण वश आपको कलकत्ते उस समय जाना पड़ा था जब कि आप व्यापार से अवकाश प्राप्त थे। आप उस समय का श्री मदनमोहनलालजी का वियोग सहन नहीं कर सके फलतः उनके वियोग ही में आप उनसे आत्मसात हुए।

बीकानेर के श्री मदनमोहन लाल जी का मंदिर आपने अपनी उपस्थिति में मकराने पत्थर से अति सुन्दर कलात्मक प्रकार से सिद्ध कराया। गुरू घर की सेवा के विषय में आप श्री मथुरानाथजी के मंदिर की सुचारू सेवा सम्पादनार्थ मंदिर-ट्रष्ट के एक ट्रष्टी के रूप में अन्य वैष्णव यथा राजा बाबू दामोदरदासजी, श्री किशनगढ़ नरेश, मणिभाई अहमदाबाद, हरि–शंकरजी हरदा प्रभृति के साथ रहकर श्री मथुरेशजी का सेवा प्रबंध कई वर्षों तक संभालते रहे। श्री मदनमोहनलालजी की वैभव सेवा क्रम में सभी सेवकों मुखिया, भीतरिया इत्यादि की यथा स्थान नियुक्ति रहने पर भी आप समस्त परिवार सेवा अपने हाथों से सम्पादन कर "सेवापिकायिकी कर्यों" की आज्ञा का पालन करता आ रहा है। आपकी कीर्तन संगीत में भी अथिक रुचि थी आपकी मधुर कंठ की दैन ईश्वरीय थी अतः सुमधुर कण्ठ से जब आप प्रभु सम्मुख कीर्तन करते उस समय सभी श्रोतागण मुग्ध हो उठते थे। आप कीर्तन बड़े भाव के साथ गाते थे। मंदिर में दर्शनार्थ समागत वैष्णवों का समादर, नियम पूर्वक कथा वार्तादि से प्रेम, गुरू सेवार्थ सर्वोच्च भावना आदि सद्गुण भूषणों से आप विभूषित थे। पुष्टि मार्गीय प्रचार कार्य में भी आपकी अधिक रुचि थी अतः आपने पुष्टि मार्गीय साहित्य संकलन भी कर रखा था। सेवा रीति के अद्वितीय जानकार थे, इसी हेतु कोटा वाले मुखियाजी श्री गोकुलदासजी से आपका अधिक स्नेह सम्बन्ध था। मगनलाल जी शास्त्री श्री मूलचन्द जी तेलीवाला आदि पुष्टि मार्गीय से रुचि रखने वालों से भी आप अधिक सम्पर्क कायम रखते थे।

व्यापार क्षेत्र में प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति पर जब कलकत्ते में ब्रिटिश सरकार द्वारा एक विजय सूचक आयोजन हुआ था उसमें ईडन गार्डन की विद्युत् से सजाए जाने का ठेका नरसिंहसहाय मदनगोपाल इलेक्ट्रिक कन्सर्न ने लिया था उस आयोजन में अद्वितिय, उत्तम श्रेणी की सजावट के कारण इस कन्सर्न को अधिक यश प्राप्त हुआ। उसका प्रमुख उत्तर-दायित्व श्री यमुनादास जी मूंधड़ा पर ही था आपकी कुशल नीति द्वारा प्राप्त यश के फलस्वरूप हुगली, चिनसूरा, चन्दन नगर में विद्यत् प्रसार का लाइसेन्स सर्व प्रथम हिन्दूस्तानी वर्ग के रूप में आपको ही प्राप्त हुआ और इसी हेतु से आपने ईष्ट इण्डिया इलेक्ट्रिक सप्लाई एण्ड ट्रेंक्सन कम्पनी लिमिटेड की नींव डाली जो आज भी श्री नरसिंह सहाय मदनगोपाल फर्म द्वारा सुरक्षित संचालित है।

सामाजिक प्रवृत्तियों में भी आप ने अधिक कुशलता प्रदर्शित की थी। आप की निस्पक्ष न्याय नीति से पक्षी विपक्षी (वादी, प्रतिवादी) दोंनों दल पूर्ण सन्तुष्ट हो जाते थे। माहेश्वरी समाज में कोलवार सम्बन्ध को लेकर एक वैमत्य हो उठा था जिसमें अखिल-भारतीय माहेश्वरी सभाकी और से एक जाँच कमीटी नियुक्त की गई थी जिसके एक प्रमुख निर्णायक सदस्य आप

भी थे आपने अपना बहुमूल्य समय तथा द्रव्य भी व्यय किया, आप स्थान स्थानों में वास्तविकता की कसौटी के लिए पर्यटन करते रहे, तथा अपनी निष्पक्ष राय अपने सहयोगी निर्णायक सदस्यों को दी।

श्री घनश्यामदासजी श्री यमुनादासजी के ज्येष्ठ पुत्र जिनके पार्थिव देह का अवसान हो चुका है कुशल व्यापारियों में थे जिन्होंने ने अपने सभी भाईयों को व्यापार में निपुण बनाया। उनके अनुज श्री जीवनदासजी इस समय व्यापार से अवकाश प्राप्त हैं किन्तु आप हरि गुरु सेवा परायण हैं। आपके अथक प्रयत्न से मुंबई के श्री दाऊजी की हवेली को नींव से रूपान्तर करा दिया गया। निर्माण के समय सरकारी ऐसी अड़चने उपस्थित हुई थीं जिन्हें सुलझाना साधारण काम नहीं था किन्तु आपकी कुशल कार्य शैली के साथ प्रथमेश गोस्वामी श्री रणछौड़ाचार्यजी महाराज को कृपा प्रसाद से यह सेवा कार्य आपके हाथों सम्पादित हुआ। श्री रणछौड़दासजी, श्री यमुनादासजी के तृतीय पुत्र हैं। ये भी धैर्यवान, शान्त एवं सेवा परायण भगवदीय हैं। इन तीनों के अतिरिक्त दामोदरदासजी, कृष्णदासजी एवं उद्धवदासजी ने विद्युत व्यवसाय को सुचारू सम्पन्न सम्पादित कर रखा है, तथा इनके द्वारा संस्थापित श्री नरसिंहसहाय मदनगोपाल इलेक्ट्रिक कम्पनी की शाखाएं भारत के प्रमुख नगरों में सर्वत्र हैं जिनसे सब प्रकार लौकिक अलौकिक सम्मान का संरक्षण हो रहा है। श्री यमुनादासजी तथा श्री गिरधरदासजी के सुपुत्रों द्वारा वल्लभ वेदान्त अध्यापन कार्य की पीठ, 'हिन्दु विश्व विद्यालय' में स्थापित कराई गई जिसमें आप लोगों ने २५,०००) रुपयों की सेवा की तथा सुबोधिनो अनुवाद प्रकाशन में लगभग रु० ७,५००) की सेवा की है।

पुष्टि मार्गीय विविध कार्यों में इन सब का सदा सहयोग रहता है। श्री रणछौड़दासजी अ० भा० पुष्टि मार्गीय वैष्णव परिषद् कलकत्ता शाखा के मंत्री कई वर्षों तक रहे। इस समय श्री जीवनदास उपाध्यक्ष पद पर हैं व इनके अनुज श्री दामोदरदासजी उसी संस्था के कोषाध्यक्ष हैं। बम्बई नगर में श्री उद्धवदासजी परिषद् शाखा के मंत्री हैं। श्री घनश्यामदासजी के पुत्र श्रीदास जी मद्रास में परिषद् शाखा के संयुक्त मंत्री हैं। श्री उद्धवदास जी प्रति वर्ष श्री मद्वल्लभाचार्य चरण के उत्सव का आयोजन चंपारण्य में बड़े समारोह से करते हैं। आप वैष्णव सेवा में प्रमुख भाग लेते हैं तथा अपने पितृ चरणों के सदृश ही सुमधुर कण्ठ से कीर्तन अति सुन्दर करते हैं।

गो. वा. प. भ. श्री गोकुलदास जी—

आप श्री यमुनादास जी के अनुज थे जिन्होंने वस्त्र व्यवसाय का कार्य व्यवस्थित रूप से संभाल रखा। ऊनी वस्त्र की दुकान भी आप ही के अधिकार में रही। आप अपने ज्येष्ठ भ्राता के समान उनके दूसरे हाथ ही थे। कुशाग्र बुद्धि तथा भगवत्सेवा में 'चेत स्तत प्रवणं' रहे। श्री मदनमोहनलालजी की व्रज यात्रा में आपने अन्य सभी भाईयों के साथ भाग ले कर श्री कीं व्रज यात्रा गो० श्री रणछोड़ाचार्यजी महाराज प्रथमेश के साथ की। आपके छ कन्याएं एवं दो सुपुत्र श्री गोपीदासजी एवं श्री वल्लभदासजी दोनों ही सेवा पारायण एवं व्यापार कुशल हैं।

प. भ. श्री गिरधरदासजी मूंधड़ा, बीकानेर निवासी.

प.भ. श्री गिरधरदासजी--

श्री गिरधरदासजी श्री नरसिंहदासजी के तृतीय पुत्र हैं। आपको आपके पितामह श्री मदनगोपालजी एवं पितृचरण श्री नरसिंहदासजी का अधिक स्नेह प्राप्त रहा है। आप उपरोक्त महानुभावों के सानिध्य में अधिक रहे। आपकी साम्प्रदायिक दीक्षा एवं वैदिक दीक्षा दोनों ही श्री रणछोड़लालजी महाराज कोटा वालों द्वारा हुई हैं। आपका भी गुरुघर कोटा श्री मथुरेशजी का ही है।

आप के पितामह तथा पितृचरणों दोनों ही के अवसान के समय में आप उनके सानिध्य में रहे तथा अपने पितामह श्री मदनगोपालजी की अन्तैष्टि क्रिया अपने हाथों ध्रुव घाट पर श्री मथुराजी में सम्पादन की। आपकी उम्र उस समय लगभग १० साल की थी। १४ वर्ष में आपने गृहस्थ जीवन पर पदार्पण किया तथा व्यापार कुशल रहकर लक्षावधि धन-राशि को अपने अधिकृत किया। आपके चिरंजीव तीन श्री गोविन्ददासजी, श्री माधवदासजी एवं श्री जगमोहन दासजी हैं एवं दो कन्याएं हुई।

श्री गिरधरदासजी का स्वभाव अति मृदुल किन्तु नियन्त्रण शक्तियुक्त होने से व्यवहार कुशल हैं। सभी सार्वजनिक कार्य कलापों में इनकी रुचि है। उदारता परोपकारितादि गुणों के विकास ने इन में चार चांद लगा रखे हैं।

पुष्टि मार्ग के प्रचार की अलौकिक भावना से ये सदा भावित रहते हैं। इनके मनोरथ तो सदा ऊँचे ही रहते हैं और प्रभु उन्हें परिपूर्ण भी करते हैं। आपने संगीत साहित्य कला मंदिर की स्थापना की जिसके छात्र बीकानेर नगर में प्रमुख नृत्यकार, संगीतज्ञ, वादक होकर यश फैला रहे हैं। विशाल पुस्तकालय के हेतु स्थान चयन कर रक्खा है तथा पुस्तकें भीं संग्रहीत हैं। उसकी समुन्नति समयानुसार होगी ऐसी आशा है। हरि गुरु वैष्णव सेवा के साथ दरिद्रनारायण की सेवा भी आप के स्वभाव में है। फलतः असहाय, रोगी, अभाव ग्रस्त आप की ड्योढ़ी से खाली हाथ नहीं जाते हैं। समाज की सभी संस्थाओं का पोषण आपके द्वारा होता रहता है। आप सौन्दर्यो पासक हैं। निर्माण कार्यों में अधिक प्रीति, निर्मित वस्तु की रक्षा में विशेष अभिरुचि किन्तु विलय की ओर आपका ध्यान कभी खींचने पर भी नहीं खिचता हैं। आप लोकप्रिय नागरिक हैं।

रहे अनुदिन सेवारत एक तै एक अधिक भक्ति युत,
कथा कीर्तन श्रवण, मनन, चिंतन निधिध्यासन संयुत।
राग भोग शृंगार युक्ति राजस सेवा प्रकरण हित,
राखे मुनीम कीर्तनयां सेवक परचारकादि समयोचित।
चेतस्ततप्रवणं सेवा हित तन धन विनियोजन के कारण,
गोप कूप अरु गोप तलाई खनवाई जल कष्ट निवारण।
बीकानेर वासी वैष्णव जिन पुष्टि मारग सेवा पधराई,
सो सब सेवा हित यथेष्टजल लेत करण हित प्रभु सेवकाई।

मन नित रह सेवा रत जिनको करि प्रयत्न एक खानखनाई,
ता मधि मनमथ मन मोहन हित मनहर गौशाला बनवाई।
परम भागवत शिव अरु हनुमत, जिनके स्थान हते पूरवसौ,
तिनकी सुख सेवा प्रबन्धकर, तिन हित मंदिर सिद्ध कराई।

भगवद् सेवा परायणता भी आप में कूट-कूट कर भरी है। यह पारिवारिक गुण इस कुटुम्ब के प्रत्येक सदस्य में स्वाभाविक ही है। जिसके कारण आप प्रभु सेवा रत अनुदित रहते हैं। व्यापारिक जीवन से मुक्त होकर आपने अपना आजीवन निवास का मुख्य ध्येय बीकानेर में श्री मदनमोहनलालजी की सेवा में लगे रहना ही बना लिया। व्यौपार व्यवसाय का पूरा भार अपने प्रतिष्ठित सुपुत्रों पर छोड़ कर आपने अवकाश प्राप्त जीवन अपनाया जिसे श्री मदनमोहन लालजी की सुख सामग्रियों, तथा विविध उपकरणों की सिद्धि में व्यतीत किया। पूर्वजों द्वारा विराट जगत् की सेवा के लिये लक्षावधि द्रव्य खर्च कर बनवाए हुए कूप, बावड़ियां आदि जल संचय स्थानों की सुन्दर व्यवस्था कर उन्हें नव निर्मित ही की भांति सजा दिया। मरुभूमि में जल का कष्ट निवारण कर वैष्णव समाज में जल की सुविधा के प्रकारों की रचना की। गोप तलाई को सुन्दर उपवन के रूप में बना कर प्रभु को वहां मनोरथों पर पधारने के रूप की बनवाई। बगीची को नवीनतम रूप प्रदान कर उसे अधिक सुन्दर सिद्ध की गई। इस प्रकार की विविध सेवाओं में लक्षावधि द्रव्य-व्यय हुआ जिसमें सभी परिवार का सहयोग है किन्तु आपने २५ वर्षों तक निरन्तर अथक परिश्रम में लगे रहकर तन, मन और धन लगाया यह आपकी सेवा अधिक महत्व की है। आपने अपने बीकानेर का निवास सफल सिद्ध कर लिया। राजस्थान में उद्योग धंधे खोलने और कृषि तथा गौरक्षा के पक्ष में भी आपका प्रयत्न है और वह भी भगवदीय भावना की पुट से रंजित हैं। आपने बीकानेर में एक कारखाना खोला है जिसका मुख्य उद्देश्य बीकानेर के लोगों की सहायता के साथ अपने परिवार के व्यक्ति, जो कलकत्ते के मुख्य निवासी बन चुके हैं, वे इसी निमित्त से बीकानेर में आवें और मदनमोहनलालजी के साथ में उनका सम्बन्ध कायम बना रह सके।

प.भ. श्री ग्वालदासजी–

आप श्री नरसिंहदासजी के सब से छोटे पुत्र हैं, जो एक चतुर व्यौपारी हैं तथा वैष्णवों में भी उच्च कोटि की गणना में आते हैं। श्री मद्वल्लभकुल के आचार्य महानुभावों के प्रति इनकी अटूट श्रद्धा है एवं पुष्टिमार्ग के ये सच्चे पुजारी हैं। वे भवन निर्माण द्वारा धनोपार्जन करने के अधिक पक्षपाती हैं, इस रुचि को कार्य रूपता देकर आपने एक बड़ी आय मकान किराए के रूप में प्राप्त कर रखी है। आपके तीन पुत्र श्रीहरिदासजी, श्री तुलसीदासजी एवं श्रीमनमोहनदासजी तथा दो कन्याएँ हैं। आपके तीनों ही सुपुत्र सेवा परायण तथा व्यापार कुशल हैं।

आज कल आप अवकाश प्राप्त हैं तथा अब अपने श्री ठाकुरजी सहित मोहनकुञ्ज जतीपुरा में व्रज वास हेतु रहते हैं तथा वैष्णव सेवा कर अपना जीवन सार्थक बना रहे हैं।

वल्लभलाल गोस्वामी, बीकानेर

सुबोधनी

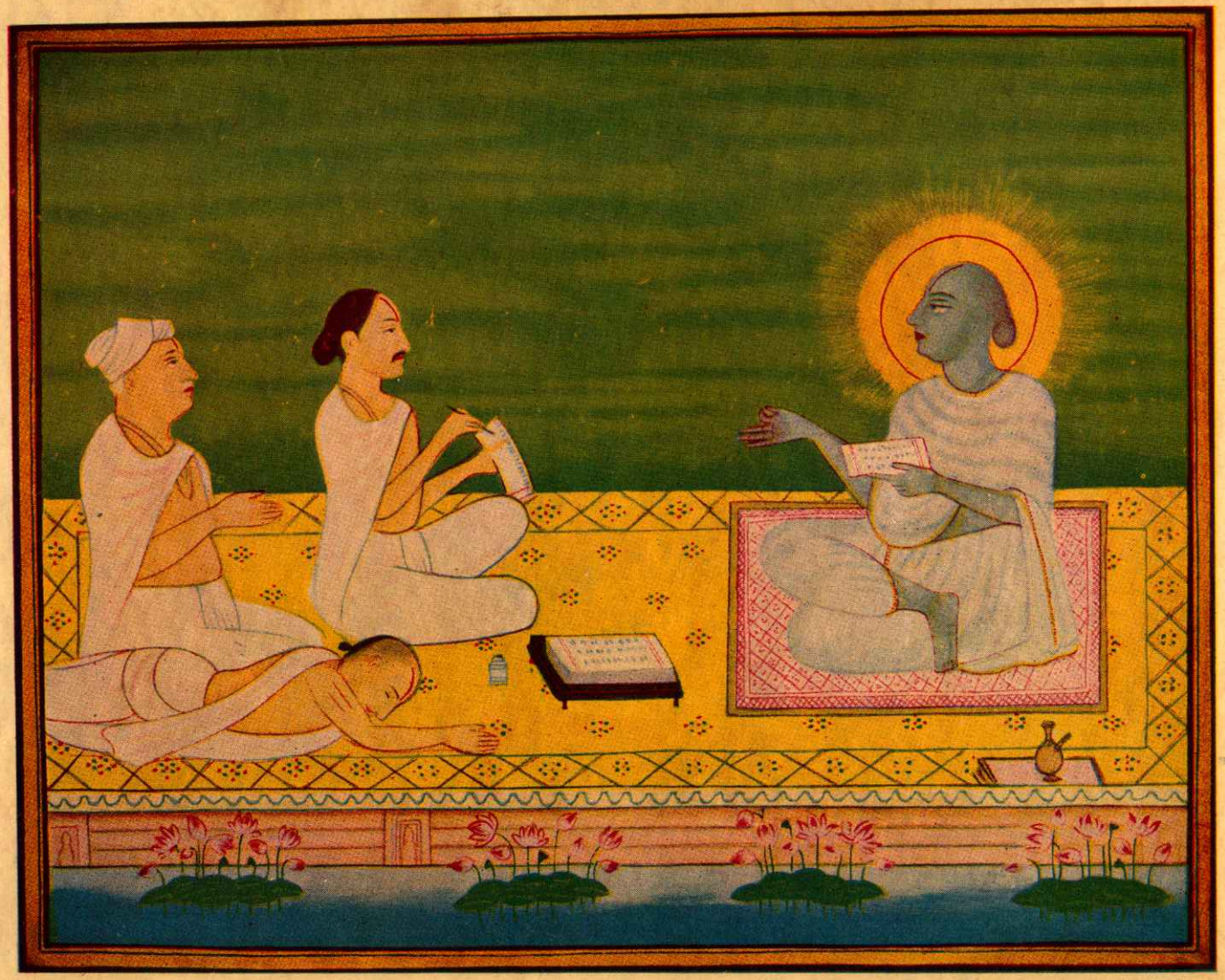

भ. श्री माधव भट्टजी

ी कृष्ण दास मेघन

मोदरदासजी हरसानी

अखण्ड भूमण्डलाचार्य
चक्र चूडामणि
श्री मद्वल्लभाचार्य चरण
श्रीमाधवभट्टजी को
श्रीसुबोधनी लिखवा रहे